नेमिचन्द्र जैन

अधूरे साक्षात्कार

स्वतन्त्रता के बाद के प्रमुख उपन्यासों का
सर्वांगीण विवेचन

रेखा को

जिसके असीम धैर्य और अगाध विश्वास
के बिना मेरा कोई लेखनकार्य
कभी सम्भव न होता

अनुक्रम

भूमिका

स्वतन्त्रता के बाद के हिन्दी उपन्यास का यह सर्वेक्षण न तो ऐतिहासिक है, न सम्पूर्ण, और न इसमें स्वतन्त्रता के बाद के सभी महत्त्वपूर्ण उपन्यासकारों की या किसी एक की सभी कृतियों पर ही विचार किया गया है। इसमें साहित्यालोचन की शास्त्रीय, शैक्षिक या शोध-प्रबन्धीय आदि किसी भी प्रचलित पद्धति के अनुसार नवीन हिन्दी उपन्यास के मूल्यांकन का भी कोई दावा नहीं है। इस अध्ययन का आरम्भ आधुनिक हिन्दी उपन्यास की मानवीय और कलात्मक सार्थकता की खोज में हुआ था। इसलिए इस सर्वेक्षण की कोई भी उपयोगिता है तो यही कि इसमें इस दौर के कुछेक महत्त्वपूर्ण उपन्यासों और उनमें निहित भाव-धाराओं का ऐसा विश्लेषण है जो एक साथ ही उनके महत्त्व और उनकी असफलता दोनों के मूलभूत केन्द्रों के अन्वेषण को, और इस प्रकार उनकी सर्जनात्मक उपलब्धि के वर्तमान स्तर तथा भावी दिशा को पहचानने का प्रयास करता है।

इस सम्पूर्ण सर्वेक्षण में प्रारम्भ में ही सन्दर्भ-सूत्रों को सामान्यतः प्रस्तुत करने के बाद, पहले कुछेक उपन्यासों का विस्तृत विश्लेषण अलग-अलग किया गया है, और फिर कुछेक अन्य उपन्यासों का एक ही अध्याय में एक साथ। स्वतन्त्र विश्लेषण के लिए चुने गये उपन्यासों का क्रम ऐतिहासिक अथवा श्रेष्ठतामूलक न होकर उनकी भाववस्तु के सामान्यत बाह्य विस्तार का ही सूचक है—'उसका बचपन' अनुभूति के छोटे-से क्षेत्र को और 'झूठा सच' या 'भूले-बिसरे चित्र' बहुत विस्तृत क्षेत्र को घेरता है। 'जयवर्धन' और 'चारुचन्द्रलेख' अन्त में इसलिए रखे गये कि एक अपनी समकालीन विषयवस्तु को भविष्य के और दूसरा अतीत के चौखटे में प्रस्तुत करता है। 'अन्य दिशाएँ' अध्याय में कई उपन्यासों को एक साथ इसलिए रखा गया कि वे साधारणतः पहले ही प्रस्तुत निष्कर्षों की पुष्टि करते हैं और अधिक विस्तार से उनके विश्लेषण द्वारा कोई नया तत्त्व हाथ नहीं लगता। अन्त में आज के उपन्यास के कुछेक सामान्य भावसूत्रों की चर्चा है जिसमें विभिन्न उपन्यासों में एक ही विषयवस्तु के निर्वहण के विभिन्न पक्षों और स्तरों का विश्लेषण है। लेखक का विश्वास है कि यह बहुस्तरीय अनुशीलन हिन्दी उपन्यास के सामान्य स्वरूप और उसकी विविधता पर किसी हद तक अप्रचलित और नये ढंग से प्रकाश डालता है।

साथ ही इन उपन्यासों को किसी एक ही सामान्य विचारधारा या विश्लेषण-

१ | सन्दर्भ की खोज

अन्य भाषाओं की भाँति हिन्दी मे भी उपन्यास शायद लेखक और पाठक दोनो ही के लिए सबसे अधिक लोकप्रिय साहित्य रूप है। सम्भवत हिन्दी मे यह लोकप्रियता कुछ अस्वाभाविक रूप मे अधिक है, क्योंकि कविता और कहानी के अतिरिक्त कलात्मक अभिव्यक्ति के अन्य साहित्यिक माध्यम—नाटक, संस्मरण, यात्रा-विवरण, वैयक्तिक निबन्ध-जैसे रम्य रचना रूप—हिन्दी मे अभी या तो प्रचलित ही नही है, या हैं भी तो बहुत ही प्रारम्भिक अवस्था मे। इसीलिए उपन्यास ही अधिक लिखे जाते हैं। हिन्दी का प्रकाशक भी इसीलिए सबसे पहले उपन्यास की माँग करता है। स्पष्ट ही उपन्यास की इस लोकप्रियता का इस परिस्थितिगत कारण के अतिरिक्त अपना आत्यन्तिक आकर्षण भी है। आज के जीवन के भाव-सत्य को अपनी समग्रता मे, सभी स्तरो और आयामों मे, व्यापकता और गहनता के दोनो क्षेत्रो मे, अभिव्यक्त करने के लिए उपन्यास से अधिक समर्थ माध्यम दूसरा नही। आज की बौद्धिक उथल-पुथल और भावगत अन्तर्द्वन्द्व को दैनन्दिन जीवन और उसके परिवेश मे प्रतिष्ठित करके अंकित करने तथा इन विभिन्न पक्षो के परस्पर सम्बन्ध और महत्त्व को दर्शाने के लिए उपन्यास बड़ी ही उपयुक्त विधा है। इसी प्रकार अत्यन्त द्रुत गति से रूपान्तरित होते जीवन को संस्कारो और परम्परा के अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत तथा स्थिर परिप्रेक्ष्य मे रखकर, स्थायित्व और गति के इस सघात को भी जितनी समग्रता से उपन्यास मे व्यक्त किया जा सकता है, वैसे अन्य साहित्य रूपों मे नही। इसी से उपन्यास आज के संवेदनशील व्यक्ति के लिए न केवल आत्माभिव्यक्ति का, बल्कि बहुत-कुछ आत्मान्वेषण और आत्मोपलब्धि का भी साधन बनता है और इस प्रकार किसी भी कलात्मक सृष्टि के मौलिक धर्म के पालन मे सहायक होता है। एक यह भी कारण है ही कि स्वाधीनता के बाद से उपन्यास हिन्दी में और भी अधिक लिखे गये हैं।

किन्तु स्वतन्त्रता के बाद का हिन्दी साहित्यकार एक प्रकार के अन्तर्विरोध से ग्रस्त रहा है। एक ओर तो राजनीतिक स्वाधीनता के परिणामस्वरूप

व्यक्तित्व के किसी-न-किसी स्तर पर उसने एक प्रकार की मुक्ति का अनुभव किया, उसके मानसिक क्षितिज का विस्तार हुआ, जीवन के नये क्षेत्र उसकी अनुभूति की परिधि में खिंच आये—इसी बात की एक अभिव्यक्ति इस रूप में हुई कि अपेक्षाकृत नये सामाजिक और भौगोलिक क्षेत्रों से तरुण लेखकों ने सामने आकर पहले से सर्वथा भिन्न और अपरिचित बाह्य और आन्तरिक जीवन को अभिव्यक्त करना शुरू किया। किन्तु दूसरी ओर जाने-अनजाने लेखक के मन में स्वतन्त्रता की जो परिकल्पना थी उसमें दरार पड़ी और वह धीरे-धीरे टूटने लगी। वह व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों स्तरों पर निराश और कुण्ठित हुआ और जीवन को देखने-समझने के उसके दृष्टिकोण में परिवर्तन आने लगा। स्वाधीनता के बाद की कविता और कहानी में इन अन्तर्विरोधी स्वरूप की छाप पर्याप्त तीव्र भी है और स्पष्ट भी किन्तु उपन्यास में उसकी अभिव्यक्ति उतनी ही सुनिश्चित होने पर भी उसकी तीव्रता शायद तुरन्त इतनी अधिक स्पष्ट नहीं होती।

स्वाधीनता के बाद का हिन्दी उपन्यास एक स्तर पर समकालीन जीवन के दूरव्यापी विस्तार को अपने भीतर समेटता है, और दूसरे स्तर पर गहराई के आयाम में कुण्ठित और खण्डित व्यक्तित्व की करुणा को अभिव्यंजित करता है। कुल मिलाकर उसमें समकालीन जीवन के विभिन्न रूपों की, विशेषकर पूर्ववर्ती युग की तुलना से, पर्याप्त विविध झाँकी मिलती है, मनुष्य के कई एक परिचित-अपरिचित रूपों के, परिवेश और उसके साथ सम्बन्ध के, मानवीय सम्बन्धों और परिस्थितियों के, चित्र मिलते हैं। और यद्यपि कोई एक उपन्यास आज के जीवन के बाह्य और आभ्यन्तर दोनों रूपों को पूरी प्रामाणिकता और गहराई से नहीं प्रस्तुत करता, फिर भी समग्र रूप से स्वाधीनता के बाद का हिन्दी उपन्यास भारतीय जीवन के बहुत से स्तरों और आयामों को अभिव्यक्त करने में सफल हुआ है। पिछले पन्द्रह-बीस वर्ष के हिन्दी उपन्यास में भी भाव-चेतना, सौन्दर्य-बोध और बौद्धिक संघर्ष का जो वक्तव्य है, वह काव्य में उपलब्ध वक्तव्य की अपेक्षा तीव्रता और गहनता में चाहे कम हो, किन्तु व्यापकता और वैचित्र्य में निश्चित ही अधिक है। इन उपन्यासों में जीवन के खण्ड-सत्यों के असंख्य सूक्ष्म तथा मार्मिक रूप अनुभूति की तीव्रता और विविधता के अनगिनती स्तरों में बिखरे पड़े हैं। उनमें से किसी में सम्पूर्ण युगव्यापी सत्य को समेटने का प्रयत्न प्रायः नहीं है। अथवा है भी, तो वह अधिक सफल नहीं होता। सभी में अपने-अपने दृष्टि-बिन्दु से जीवन को ग्रहण करने और उस सीमित अनुभव को सार्थक कलात्मक रूप देने का प्रयत्न अधिक दिखायी पड़ता है। इसी से जीवन के बहुत से पक्ष परस्पर असम्बद्ध रूप में इन उपन्यासों में प्रकट हैं। उनमें से किसी से भी सम्पूर्ण जीवन का परिचय नहीं

एकमात्र सत्य, अथवा सत्य के किसी पक्ष का एकमात्र रूप, मानने का आग्रह किया जाय तो बड़ी भारी भूल होगी। आज के जीवन के अनगिनती परस्पर-विरोधी तत्त्व, असंगतियाँ, उलझाव इतने सहज ही एक सूत्र में नहीं बाँधे जा सकते। साथ ही आज का हिन्दी उपन्यासकार उस प्रयत्न को महत्त्व भी नहीं देता। वह अपने ही जीवनबोध को वाणी देने में उलझा हुआ है, अपने आत्म-निवेदन द्वारा दूसरों के मन को छू लेने और पहचान लेने में प्रयत्नशील है। किन्तु कुल मिलाकर थोथी भावुक आदर्शवादिता अथवा रोमैंटिक दृष्टिकोण की बजाय वैयक्तिक ईमानदारी और निर्मम यथार्थपरकता पर आग्रह बढ़ा है। यह यथार्थपरकता बाह्य तथा आन्तरिक दोनों आयामों में है और साथ ही उसके कई एक स्तर विभिन्न लेखकों की रचनाओं में उपलब्ध होते हैं।

कहा गया है कि आधुनिक हिन्दी उपन्यास में जीवन का विस्तार अधिक है। निस्सन्देह इस विस्तार के कई एक रूप, स्तर और आयाम हैं। कहीं यह विस्तार काल में बड़ा है, और कहीं मानव-अनुभूति की दृष्टि से, और मनुष्य के टूटने-बनने की दीर्घ और बहुमुखी गाथा अंकित करता है, यद्यपि अधिकांश में जीवन का प्रायः बाहरी रूप ही प्रस्तुत है। इनमें ब्यौरे की बहुविधता है, सामाजिक जीवन के बहुत-से स्तर भी उद्घाटित हैं, और साधारण जीवन तथा व्यवहार के अनगिनती उतार-चढ़ाव भी मौजूद हैं। कहीं यह विस्तार जीवन के किसी एक अंश को, विशेषकर परम्परागत अंश को, उसके सारे पिछड़ेपन और संकीर्णता, अन्धविश्वासों और संस्कारों के साथ प्रस्तुत करता है और नयी तथा पुरानी नैतिक, सामाजिक तथा राजनैतिक मान्यताओं के बीच टकराहट के सन्दर्भ में दिखाता है। ऐसे उपन्यास बीतते जीवन को एक साथ कई स्तरों पर, कई आयामों में सम्प्रेषित करते हैं, जिनसे टूटती-बनती संक्रान्तिकालीन व्यवस्था की झाँकी तो मिलती है, पर जीवन की कोई अखण्ड स्थिति, अपनी आन्तरिक द्वन्द्वात्मकता में, विभिन्न तत्त्वों की मूलभूत संघर्ष-मयता में, उभरकर सामने नहीं आती। इससे भिन्न, कहीं-कहीं किसी एक युग के सामाजिक-राजनीतिक जीवन के मूल्यों और मान्यताओं की पृष्ठभूमि में वैयक्तिक जीवन का भी बड़ा संवेदनशील और आत्मीयतापूर्ण चित्रण हुआ है, परिवार और उसके विघटन के परिप्रेक्ष्य में सहज मानव-आचरण और उसके मूल्यों की विडम्बना को दिखाया गया है। कई उपन्यासों में यह चित्रण जीवन के किसी एक पक्ष का सांगोपांग और विशद विवरण मात्र है, किसी कलाकृति के कच्चे माल की भाँति, जिसमें किसी एक या एकाधिक सामाजिक स्तर के जीवन का बहुमुखी अवलोकन तो है, पर उसमें कोई कलात्मक सार्थकता नहीं उभरती। ऐसे विवरणों में प्रायः बाह्य सतही यथार्थ के साथ

एक प्रकार की उद्देश्यात्मकता का मिश्रण रहता है, पर ज़िन्दगी के गहरे दबावों या तनावों से कोई साक्षात्कार नहीं होता।

ज़िन्दगी के साथ यथार्थ से साक्षात्कार की एक अन्य अभिव्यक्ति हुई है तथाकथित 'आंचलिक' उपन्यासों में जिनमें एक प्रकार से समकालीन भारतीय जीवन के बहुत-से नये क्षेत्र खिंच आये हैं। यह एक प्रकार से लेखक के आत्म-साक्षात्कार की प्रक्रिया का ही एक रूप है। इस प्रक्रिया में लेखक ने अपने चारों ओर के जीवन को नयी दृष्टि से देखा, पहचाना और अभिव्यक्त किया। फलस्वरूप देहाती जीवन को लेकर उपन्यास लिखे गये। इस बात का एक पक्ष यह भी है कि दूसरे महायुद्ध के बाद से देहातों से मध्यवर्ग के शिक्षा प्राप्त करने वाले नवयुवक साहित्यिक कलात्मक संवेदनशीलता प्राप्त करते ही, अपने प्रदेश के जीवन की ओर स्वभावतः ही उन्मुख हुए। शायद उन्हें शहरी जीवन की मध्यवर्गीय कुंठा से भागकर देहातों के जीवन की खुली हवा में साँस लेने का अवसर मिलने से एक नयी प्राणशक्ति का भी अनुभव हुआ। यह बात विशेष रूप से ध्यान देने की है कि हिन्दी के मध्यवर्गीय लेखक का शहरी मजदूर वर्ग के जीवन से कोई विशेष परिचय नहीं। शहर के जीवन के बारे में लिखते समय उसका मन कुंठित मध्यवर्ग के चारों ओर ही चक्कर काटता रहा है। मध्यवर्ग के भी बौद्धिक नेतृत्व और उसकी विचार-सम्बन्धी सजगता के ऊपर उसकी दृष्टि नहीं जाती। इसीलिए जब भी लेखक की सहानुभूति जीवन के पीड़ित-शोषित अंश की ओर मुड़ती है, तो किसान की ओर ही वह सबसे पहले उन्मुख होता है, क्योंकि अधिकांश लेखकों का सम्बन्ध किसी-न-किसी रूप में देहातों से रहा है और बहुतों का अब भी थोड़ा-बहुत बना हुआ है।

देहातों के जीवन के सम्बन्ध में लिखे जाने वाले उपन्यासों में कुछ तो ऐसे हैं जो सामान्य किसान 'वर्ग' को लेकर आगे चलते हैं जो किसी-न-किसी प्रदेश के होते हुए भी एक प्रकार से पूरे किसान-वर्ग का प्रतिनिधि होने का दावा करते हैं। किन्तु धीरे-धीरे देहातों की ओर यह दृष्टिपात क्रमशः अधिकाधिक गहरा स्थानीय रंग पकड़ता जाता है। फलस्वरूप ऐसे उपन्यास लिखे गये हैं जिनमें या तो प्रधानता एक व्यक्ति विशेष की ही बनी रहती है और आंचलिक जीवन केवल पृष्ठभूमि के रूप में ही प्रकट होता है; अथवा जिनमें उपन्यास का नायक ही पूरा आंचलिक जीवन है, कोई व्यक्ति विशेष नहीं। उपन्यास की विषयवस्तु के रूप में सामूहिक जीवन की यह प्रतिष्ठा हिन्दी उपन्यास की एक नयी विकास-दिशा थी। उनके लेखकों को उपलब्धि और अभिव्यक्ति की अपूर्व प्रामाणिकता के साथ जीवन की गहराइयों में पैठने के लिए एक नयी दृष्टि मिली थी। व्यक्ति के जीवन और कार्यकलाप को भी इस दृष्टि ने एक नया परिप्रेक्ष्य और सन्तुलन प्रदान किया।

जीवन के किसी एक विशेष क्षेत्र या खण्ड को अधिकाधिक समग्रता के साथ प्रस्तुत करने की, और साथ ही शहरी मध्यवर्गीय जीवन की एकरस कुण्ठा से उकताकर नया भावजगत खोजने की, प्रेरणा ने कुछ ऐसे उपन्यासो की भी सृष्टि की है जिनमें किसी जाति विशेष अथवा धन्धे के लोगों के जीवन को चित्रित किया गया। ऐसे उपन्यासो मे किसी-न-किसी विशिष्ट समुदाय को लेकर और उसके विशेष रीति-रिवाजो, आचार-व्यवहार, जीवन-पद्धति, सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था और इन सबके व्यक्ति-मन पर होने वाले सघात को कथाबद्ध करने का यत्न किया गया। ऐसे चित्रण मे अनावश्यक ब्यौरे की बातो के बढ जाने से रचना के उपन्यास के बजाय किसी समुदाय विशेष का समाजशास्त्रीय अध्ययन मात्र हो जाने की सम्भावना बडी भारी है, और यह नही कहा जा सकता कि हमारे उपन्यासकार इस भँवर से हमेशा अपने-आप को बचा ही सके है। किन्तु अनुभूति और अध्ययन की सूक्ष्मता तथा प्रामाणिकता की इस खोज ने, सहानुभूति के क्षेत्र को एक नया विस्तार देने के इस प्रयास ने, और जीवन की असन्तुलित कुण्ठा से भागकर उन्मुक्त जीवनी-शक्ति के उन्मेष-सूत्रों की इस चाह ने, इन उपन्यासो को बडी नयी सार्थकता दी। साथ ही अनिवार्यतः इस रुझान ने शीघ्र ही एक रीति का रूप ले लिया और किसी प्रदेश या समुदाय विशेष को आधार बनाकर उपन्यास लिखने की धूम-सी मच गयी। फलस्वरूप जीवन के बाह्य यथार्थ को किसी प्रकार की प्रामाणिकता से प्रस्तुत करने के स्थान पर एक प्रकार की रोमैंटिक भावुकता फिर से उभर आयी।

जीवन के यथार्थ के इस अन्वेषण की एक अन्य अनिवार्य परिणति हुई व्यक्ति और परिवेश के सम्बन्ध सूत्रो की खोज और परख, जो कमोवेश मात्रा मे बहुत-से उपन्यासों मे मिलती है, यद्यपि वह खोज सदा सार्थक और सफल हुई है, यह नही कहा जा सकता। परिवेश को समझने का यह आग्रह कई प्रकार से प्रकट हुआ है और कुछ उपन्यासो में छोटे बालको के अपने परिवार तथा अन्य तात्कालिक परिवेश के साथ तीखे संघात को प्रस्तुत करके किया गया है, जो कभी-कभी काव्यात्मकता के स्तर तक उठ जाता है। ऐसी काव्यात्मकता आत्मान्वेषण के स्तर पर जीवन के सत्य से साक्षात्कार करने वाले कुछेक उपन्यासो में है, जहाँ व्यक्तिगत तथा निजी अनुभूतियों की गाथा ही अपनी मूल भाववस्तु की तीव्रता, एकाग्रता और सघनता के कारण यह आयाम प्राप्त करती है। व्यक्ति और परिवेश के सम्बन्धो की खोज को कुछेक उपन्यासो मे घर और बाहर की, व्यक्तिगत आदर्श, बल्कि व्यक्तिगत नैतिकता और सामाजिक दायित्व की समस्या के अन्वेषण के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। व्यक्ति की चरम उपलब्धि और सार्थकता क्या सामाजिक दायित्व मे

अपने व्यक्तित्व को डुबोकर प्राप्त हो सकती है ? क्या व्यक्तित्व का परित्याग ही व्यक्ति की सार्थकता है ? विशेषकर राजसत्ता अथवा समाज के चरम दायित्व को ग्रहण करके व्यक्ति आत्मलाभ कर सकता है ? ऐसे सचमुच महत्त्वपूर्ण प्रश्न कुछेक उपन्यासों के दिखायी अवश्य पड़ते हैं। पर उनमें मानवीय सस्पर्श की इतनी क्षीणता है और वह इतना सीमित है कि वे रूपाकारों की पुनरावृत्ति मात्र करते जान पड़ते हैं। उनमें विभिन्न व्यक्तिगत अथवा सामाजिक, नैतिक या राजनीतिक समस्याओं को लेकर हवाई चर्चा अधिक है, उनके सन्दर्भ मे जीवन का मूर्त प्रतिफलन इतना नही। वे मुख्यतः बौद्धिक वक्तव्य है, भावात्मक नहीं, काव्यात्मक भी नही। राजनीतिक स्वतन्त्रता की भाँति ही हमारी साहित्यिक अभिव्यक्ति जन्म से ही अभिशप्त है—हमारा यथार्थवाद सत ही है, हमारी काव्यात्मकता भावुकता मात्र रह जाती है; व्यक्तित्व पर आग्रह कुण्ठा की अभिव्यक्ति का रूप ले लेता है, सामूहिक चेतना की खोज पक्षधर राजनीतिक मान्यताओं का प्रचार बन जाती है।

इस दौर के उपन्यासों में एक नया स्वर नारी के नये रूपों और स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों के नये आयामों की अभिव्यक्ति के कारण है। मुख्य बात यह है कि इन उपन्यासो में नारी को सतीत्व और देवीत्व के कटघरों में से निकालकर उसे इन्सान के रूप मे देखने-समझने का प्रयत्न हुआ है। अब वह केवल खिलौना नही, केवल रमणी भी नही, मात्र सगिनी भी नही, अधिकाधिक 'व्यक्ति' होती जा रही है। साधारण सामाजिक परिवेश की गृहणियों, अध्यापिकाओं तथा आर्थिक स्वतन्त्रता अथवा निजी जीवन की स्वाधीनता के लिए सघर्षशील आधुनिक नारियों को भी प्रस्तुत किया गया है। साथ ही प्रायः प्रत्येक उल्लेखनीय उपन्यास मे ऐसे नारी-पात्र मौजूद हैं जिन्हें परम्परागत सामाजिक-नैतिक आदर्शों के आधार पर 'सच्चरित्र' नही कहा जा सकता, पर जिन्हें लेखकों ने, शरच्चन्द्रीय राजलक्ष्मी से सर्वथा भिन्न रूप मे, स्वतन्त्र व्यक्ति की भाँति गढ़ने का यत्न किया है। कहीं-कहीं ये नारियाँ इस प्रकार पूर्ण व्यक्तित्व की महिमा से मण्डित, आत्मविश्वासपूर्ण और सर्वथा आत्मानुशासित हैं कि उनका चरित्र हिन्दी उपन्यास को सर्वथा नयी गहराई का आयाम देता है।

इस स्थिति मे यह सर्वथा अनिवार्य ही है कि नवीन हिन्दी उपन्यास में स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध पूर्ववर्ती लेखन की तुलना मे सर्वथा भिन्न रूप मे प्रस्तुत हुए हैं। हिन्दी के प्रेम-सम्बन्धी उपन्यास बड़े ही अस्वाभाविक त्रास और पीड़ा से भरे हुए अथवा विकृत और रुग्ण मनोवृत्ति के सूचक अथवा व्यक्तित्व की कुण्ठा से विगलित अथवा झूठे रोमैंटिक होते रहे हैं। किन्तु अब यह स्थिति टूट रही है। दूसरे महायुद्ध, स्वाधीनता तथा देश के विभाजन ने स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों को उन्मुक्तता, उच्छृंखलता भी दी है और स्वाभाविकता तथा सहजता भी।

इन सम्बन्धों की विविधता का अन्वेषण आज के हिन्दी उपन्यास को एक अधिक सार्थक और आवश्यक परिप्रेक्ष्य में रखने मे सहायक हो सकता है, इसलिए नही कि इस दृष्टि से नये हिन्दी उपन्यास ने उपलब्धि की कोई सार्थकता प्राप्त की है, बल्कि इसलिए कि वह उसके एक विशेष अनिवार्य रुझान को सूचित करता है। राजनीतिक-सामाजिक यथार्थ से साक्षात्कार की भाँति यहाँ भी हिन्दी उपन्यासकार जैसे किसी अस्पष्ट-सी कुण्ठा से ग्रस्त है। वह किसी भी सम्बन्ध को उसकी परिपूर्णता मे, समग्रता मे, सम्पूर्ण विविधता मे नहीं देख पाता और सार्थक उपलब्धि के स्तर तक पहुँचते-पहुँचते रह जाता है।

निस्सन्देह आज के हिन्दी उपन्यास का यह सर्वेक्षण बहुत उत्साहवर्धक नही है। वह किसी कलात्मक परिपक्वता और शिखरत्व की पुष्टि नहीं करता। वास्तव मे अभी तक हिन्दी उपन्यास मे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन अधिक-से-अधिक समानान्तर चलने जान पडते हैं, मिलकर कोई समग्रता नही बनाते। जिन लेखको मे सामाजिक जीवन की गति को समझने की सामर्थ्य है, वे प्रायः उसे व्यक्ति के आन्तरिक जीवन के साथ नही जोड पाते; और जो व्यक्ति-मन की गहराई मे पैठ सकते है, उनमे सामाजिक गति का बोध बडा दुर्बल होता है। व्यक्ति और समूह अलग-अलग होकर भी कही किसी समग्र यथार्थ मे समन्वित हैं, और परस्पर सम्बद्ध होकर भी उनका गतिविधान भिन्न प्रकार का है, इस सत्य की उपलब्धि हमारे उपन्यास साहित्य मे बहुत ही कम होती है। स्वाधीनता के बाद का हिन्दी उपन्यास मूलत विस्तारात्मक है, जीवन की गहनता का और उसकी समग्रता का काव्यात्मक वक्तव्य उसमे विरल है। अधिकांश उपन्यास अनेक चित्रो के, जीवन-खण्डों के पुज मात्र हैं। वे जीवन की निरन्तरता का, प्रवहमानता का, काल मे अखण्डता का आभास मात्र दे पाते हैं, समग्र अनुभूति के रूप मे उसे सप्रेषित नही करते। साथ ही हिन्दी उपन्यासकार की दृष्टि मे से रोमैटिक भावुकता की धुन्ध अभी पूरी तरह मिटी नही है, उसका यथार्थवाद सतही, एक आयामी और बाह्य ही अधिक है और इसलिए जीवन का एकांगी चित्र ही उपस्थित कर पाता है।

फिर भी इतना कहा जा सकता है कि ये उपन्यास पहले की अपेक्षा अधिक नये रूप मे व्यक्ति को प्रतिष्ठा देते हैं, साधारण व्यक्ति मे, उसके सहज जीवन के साधारण सुख-दुःख-हर्ष-विषाद मे, मानवीय गरिमा की खोज करते हैं। एक प्रकार से साधारणता की यह महत्ता, बल्कि उसी मे विशिष्टता की खोज, नवीन हिन्दी उपन्यास की एक सार्थक विशेषता है। व्यक्ति के, साधारण व्यक्ति के, गौरव के इस अनुसन्धान में, हिन्दी के उपन्यासकार ने यथार्थ के दोनों छोरो तक पहुँचने का यत्न किया है। एक ओर उसने मानव के अन्तरमन की, उसके अवचेतन जीवन की, गहराई में डूबने का साहस किया है, तो दूसरी

ओर बढ़ सामाजिक सम्बन्धों के व्यापक प्रसार को और उनकी तीव्रता और पारस्परिकता को समझने के लिए उत्सुक हुआ है। मुख्य बात यह है कि धीरे-धीरे जीवन के इन दोनों आयामों के बीच सन्तुलन की अनिवार्य आवश्यकता उसने अनुभव की है और अपने-अपने ढंग से प्रत्येक लेखक ने इस सन्तुलन को प्रस्तुत करने का प्रयास भी किया है। यह सही है कि अलग-अलग उपन्यास ऐसे निकल आते हैं जिनमें व्यक्ति के अन्तर्मन की ग्रन्थियों पर ही समस्त दृष्टि केन्द्रित हो अथवा जिनमें जीवन के सामाजिक-राजनीतिक संघर्ष और आर्थिक विषमताओं की ही झाँकी मिले। ऐसे उपन्यासों की प्राण-चेतना स्वभाव से ही क्षीण और दुर्बल है। उनमें व्यक्ति का, लेखक व्यक्ति का, अपना उत्साह, अपनी समस्याएँ ही अधिक परिलक्षित होती हैं। ऐसे उपन्यास हमारी साहित्यिक चेतना के दो परस्पर विरोधी दुरन्त छोर हैं और अपने ढंग से जीवन-दृष्टि की समग्रता को बनाये रखने में योग देते हैं, चाहे उनकी अपनी उपलब्धि कितनी ही एकांगी क्यों न हो। सबसे सार्थक और महत्त्वपूर्ण साहित्य-सृजन इन दोनों छोरों के बीच की साहित्यिक चेतना ही प्रस्तुत करती है।

एक बात और भी उल्लेखनीय है कि आधुनिक उपन्यास में लगता है कि एक तरह का अवसाद, और गहरी करुणा जैसे चारों ओर परिव्याप्त है जिसने लेखक के मन को लपेट रखा है। हमें मुक्ति अवश्य मिली है, पर वह हमें परिपूर्ण नहीं करती, बल्कि शायद पहले से कहीं अधिक असन्तुष्ट, निराश और कुण्ठित बनाती जान पड़ती है। यह बहुत ही रोचक बात है कि करुणा की यह गूँज प्रायः सभी उपन्यासों में समान भाव से मौजूद है, चाहे वे उपन्यास व्यक्तिगत प्रणय और आत्मान्वेषण के हों, चाहे सामाजिक संघर्ष के। किन्तु यह भी सही है कि आज का उपन्यासकार शायद इस करुणा से आतंकित नहीं होता। इस पीढ़ी ने थोथे, या शायद सभी प्रकार के, आदर्शवाद का खोल बहुत-कुछ उतार फेंका है। उसे न तो कड़वाहट से झिझक है, न उसके प्रतिफलन से। बल्कि वह साहसपूर्वक उसका सामना करने, उसके भीतर तह तक खोजने, और जितना सम्भव हो उससे जूझने के लिए भी प्रस्तुत है। जहाँ-जहाँ उसका यह संघर्ष पूरे तीखेपन के साथ अंकित हुआ है, वहाँ रचना में उसी हद तक गहराई भी आयी है।

किन्तु इसके साथ ही आत्मोपलब्धि की दृष्टि से, जीवन के कठोर गहन सत्य से साक्षात्कार की दृष्टि से, हिन्दी का उपन्यास अभी बहुत प्रारम्भिक अवस्था में है। आज के युग का महाकाव्य कहलाने योग्य उपन्यास हिन्दी में शायद एक भी नहीं है। *अगले अध्यायों में कुछेक उपन्यासों के विशेष, और कुछेक भावधाराओं के सामान्य,* विश्लेषण में इस सर्वेक्षण की प्रमुख स्थापनाओं को परखने का प्रयास है जो सम्भवतः हिन्दी उपन्यास की अगली दिशा का भी कुछ निर्देश करता है।

२ | काव्यात्मक वक्तव्य : 'उसका बचपन'

कृष्ण बलदेव वैद का लघु उपन्यास 'उसका बचपन' कई दृष्टियों से हिन्दी कथा साहित्य की एकदम अनूठी और असामान्य रचना है। उसमें एक निम्न मध्यवित्त परिवार के छोटे-से बालक बीरू की कहानी है जिसमें लेखक ने बड़ी सूक्ष्मता और सहज अन्तर्दृष्टि द्वारा बच्चे के भावों, विचारों और कार्यों को उसके परिवार तथा परिवेश के अन्य तत्त्वों की पृष्ठभूमि में अंकित किया है। इतने छोटे बालक की जिन्दगी नाना प्रकार की प्रवृत्तिमूलक प्रतिक्रियाओं, आवेगों और स्मृतियों तक, दैनिक अनुभव से विकसित बुद्धि द्वारा सोचे हुए कार्यों तक, ही सीमित होती है। उसकी ये क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ अपने आस-पास के व्यक्तियों और अन्य परिस्थितियों के साथ सहज सरल सघान से प्रभावित होती हैं। इस भाँति वे न केवल उसके अपने क्रमशः निर्मित होते हुए व्यक्तित्व को प्रकट करती हैं, बल्कि उससे सम्बन्धित अन्य व्यक्तियों के चरित्रों को भी एक सर्वथा भिन्न प्रकार की तीव्रता के साथ उजागर करती हैं। 'उसका बचपन' में लेखक ने बड़ी ही सूक्ष्मता, विशदता किन्तु बहुत ही संयम के साथ बीरू और उसके परिवेश के इस समग्र चित्र को अंकित किया है। बीरू के जीवन में माँ, बाबा, दादी, जलालपुरनी, देवी, चाचा, पारो, असलम, हफीजा, नरेश, बहनजी आदि, कितने ही व्यक्ति, चाहे स्थायी रूप से, चाहे थोड़ी देर के लिए, आते हैं, और जिस हद तक वे उसके कच्चे सुकुमार मन पर अनुभव की एक नयी पर्त जमाने में सफल होते हैं, उसी हद तक अपने निजी व्यक्तित्व की भी बड़ी सुनिश्चित और सुस्पष्ट छाप हमारे मन पर छोड़ जाते हैं।

इस प्रभाव का एक स्रोत है विभिन्न पात्रों के व्यक्तित्व के मूल केन्द्र को बहुत संक्षेप में, एक सर्वथा नये ढंग से, रूपायित कर सकने की लेखक की क्षमता। यही बात उसके विभिन्न स्थितियों के रूपायन में भी दिखायी पड़ती है। जीवन की अत्यन्त साधारण घटनाएँ और उनसे सम्बद्ध भावस्थितियाँ एक के बाद एक,

---

उसका बचपन (१९५७)—लेखक : कृष्ण बलदेव वैद, प्रकाशक : सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, पृष्ठ १४४।

चलचित्र की भाँति, हमारे सामने आती है और हर बार उस जीवन के छिन्न-भिन्न होते पक्ष की समग्र छवि दे जाती है। बीरू के परिवार की दरिद्रता और उससे उत्पन्न होने वाली मनहूसियत, कड़वाहट, रसहीनता, कुंठा और अत्यन्त ही गर्हित ओछी स्वार्थपरक मनोवृत्ति की बड़ी तीखी और जीवन्त अभिव्यक्ति इस उपन्यास में है और महत्त्वपूर्ण तथा उल्लेखनीय बात यह है कि कलाकार इस असाधारण जीवन का चित्र अंकित करने में आतुर नहीं हुआ है और न उसने स्थितियों को आवश्यकता से अधिक नाटकीय तथा अस्वाभाविक रूप में करुण बनाकर उपस्थित किया है। वह जैसे एक तटस्थ वैज्ञानिक की भाँति, एक यथार्थदर्शी की भाँति, जो कुछ देखता है, उसे कहता चला जाता है। वर्णन की इस एकाग्रता और सन्तुलन में तटस्थता और सहानुभूति का बड़ा अजीब मिश्रण है। असाधारण वस्तुनिष्ठता के साथ-साथ यह भी निरन्तर लगता है कि उसने कलाकार के रूप में अपनी सहानुभूति सहज भाव से सभी पात्रों को यथायोग्य दी है। इसी से वह केवल बाह्य प्रतिक्रियाओं का चित्रण नहीं करता, बल्कि विभिन्न पात्रों के व्यक्तित्व के कई स्तर हमारे सामने खोलने में सफल होता है, और पूरे उपन्यास में एक सूक्ष्म सौन्दर्य-बोध से, एक प्रकार की तीव्र काव्यात्मकता से, हमारा साक्षात्कार होता है।

वास्तव में इस उपन्यास की प्रमुख विशिष्टता है ही यह कि उसकी रचना एक लम्बी कविता-जैसी है—उतनी ही भावों की समन्विति, एकसूत्रता और तीव्रता, वैसी ही वातावरण की एकाग्रता, वैसी ही बिम्बप्रधानता और चित्रात्मकता, रूपबन्ध और शिल्प में वैसी ही सघनता, रीतिबद्धता और तीक्ष्णता। पूरी कथा की गति में कुछ इस प्रकार से विभिन्न लयों का संयोजन है जैसा साधारणतः काव्य में ही निभ पाता है, बल्कि अधिकांश हिन्दी काव्य तक में नहीं निभ पाता। इस दृष्टि से कथा के विभिन्न अनुच्छेद एक ही मूल भावसूत्र की विभिन्न लयों, गतियों और रंगों के आयाम प्रस्तुत करते जान पड़ते हैं।

कथा का आरम्भ होता है पंजाब के एक कस्बे के एक टूटे-फूटे मकान की ड्योढ़ी में। दादी चारपाई में पड़ी है, "मैली-कुचैली, सिकुड़ी-सिमटी, ठिठुरी और उलझी हुई-सी, जैसे किसी ग्रामीण की कोई ढीली-ढाली गठरी हो, जो किसी समय भी खुलकर बिखर सकती हो।" इस प्रथम वाक्य में ही जैसे भूमिका के रूप में उस पूरी जिन्दगी के परिचय का सार है, उसकी अनुभूति का केन्द्रीभूत स्वरूप है, जो लेखक प्रक्षेपित करना चाहता है—जीर्ण, टूटी हुई, मृतप्राय। उसी के साथ लेखक कथा के प्रधान माध्यम शिशु को सम्बद्ध करता है : "चारपाई की गहराई में दादी औंधे मुँह पड़ी हुई है, जैसे कोई शिशु रोते-रोते सो गया हो या मर गया हो।" यह शिशु बीरू है जो आगे कथा में

भी कई बार इसी प्रकार रोते-रोते अथवा वैसी ही मानसिक यातना मे सो जाता है, और अन्त मे मरने की, गले मे फाँसी लगाकर आत्महत्या की भी कोशिश करता है। पूरी कथा ही जसे इन प्रारम्भिक कुछ पक्तियों मे सिमटकर आ गयी है, जिसका पूरा प्रतिफलन धीरे-धीरे उद्घाटित होगा। इसी प्रकार यह घर जैसे इस पूरी रुद्ध, कुण्ठित बीमार जिन्दगी का मूर्तिमान संकुचित परिवेश है। और इसमें भी "ड्योढी इस मकान का मुँह है जो कभी खुलता है, तो कभी बन्द हो जाता है।" "···हर समय इस ड्योढी मे एक विचित्र प्रकार की, छुपी-छुपी-सी, गिलगिली-सी, हरकत होती रहती है।" यह ड्योढी और यह पूरा घर एक और भी बडे परिवेश का आत्यन्तिक अश है। घर एक गली में है जिसके "बीचोबीच एक नाली बहती है, गाढी काली स्याही की एक टेढ़ी-मेढ़ी लकीर की तरह, जिसमे कीडे रेंगते रहते हैं, मक्खियाँ भिनभिनाती रहती हैं, भिड़े उडती रहती है।" और इसी के बीच नाली को कोंचता हुआ बीरू है जो "एक निहायत ही छोटा-सा बच्चा है।"

स्पष्ट ही इस चित्र मे परिवेश का केवल यथार्थवादी वर्णन मात्र नही है, बल्कि एक तीखी व्यंजनात्मकता है जिसके सहारे लेखक सम्पूर्ण जीवन-स्थिति को मूर्त करना चाहता है। बिम्बो और चित्रो का ऐसा ही सर्वथा काव्यात्मक उपयोग निरन्तर हुआ है। कुछ बिम्बो की कई बार आवृत्ति होती है, और वे एक विशेष स्थिति को मूर्त करने के साथ-साथ उसकी बदलती हुई गतियो और रूपों को भी अभिव्यक्त करते हैं। जैसे, "रसोई से फूटता हुआ धुआँ" जो कभी "किसी शैतान बच्चे की भाँति ड्योढी मे मचलने लगता है", कभी "सारे घर मे प्रेतात्मा की भाँति मंडरा रहा" होता है। "कडवा, कसैला जहर-सा धुआँ, हर साँस के साथ हलक में भर जाता है।" "यह धुआँ है, या काला साँप, जान के पीछे पड़ा है।" "धुआँ माँ का साथी है और माँ दादी की दुश्मन"—उस दादी की, जिसकी गोद मे बीरू प्यारे-प्यारे सपने देखने लगता है। दादी और बीरू, मरणासन्न और विकासमान जीवनगतियाँ एक आत्यन्तिक सम्बन्ध मे वर्तमान हैं।

पहले दो अनुच्छेदो मे ऐसे ही कई बिम्बो और चित्रो द्वारा मुख्य भाव-स्थिति का प्रक्षेपण है। तीसरे अनुच्छेद मे एक नये तत्त्व का समावेश होता है · जलालपुरनी। वह "हर समय हँसती रहती है, उसके लम्बे-लम्बे गिने-चुने दाँत यूँ हिलने लगते है कि अब गिरे, अब गिरे। माँ कहती है कि जलालपुरनी पिछले जन्म मे कुतिया हुआ करती थी।" यह जलालपुरनी का प्रसंग भाव-गति में बड़ी कुशलता से लाया गया है। कथा मे वह एकाधिक बार प्रकट होती है और उसकी उपस्थिति एक विशेष भाव का प्रक्षेप करती है। यहाँ प्रारम्भ मे वह दादी के साथ है, माँ के विरुद्ध। बाद मे वह माँ के साथ और देवी तथा

बाबा के विरुद्ध प्रकट होती है। इस प्रकार बीरू के साथ उसके मनोभाव को कई एक स्तरों पर दिखाया जा सका है। वह जैसे इस विचित्र दानवलोक की अत्यन्त ही निस्पृह जन्तु है जिसके अस्तित्व की सार्थकता है जीवन में आवर्त उत्पन्न करना, घुटन उत्पन्न करना, पड़ी हुई गाँठों को और भी कसते जाना, यहाँ तक कि बिलकुल दम घुटने लगे और विस्फोट हो जाय। तीसरे अनुच्छेद मे, और फिर दसवें अनुच्छेद में भी, उसके आने पर यही कार्य पूरा होता है। वह गति में एक नया पेच और एक नयी लय उत्पन्न करती है। इसी से तीसरे अनुच्छेद का अन्त होने पर जैसे बीरू अपने-आप से पूछता है : "क्या वह वाकई एक छोटा-सा बच्चा है?" स्पष्ट है कि एक आवृत्ति पूरी हो गयी है। प्रारम्भ हुआ था इस स्थिति से कि बीरू एक निहायत छोटा-सा बच्चा है, जिसने यहाँ तक आते-आते एक प्रश्नवाचक रूप ले लिया है।

चौथे, पाँचवें और छठे अनुच्छेदों में कथा अपनी परिधि में कई नये सूत्र समेटती है और उसकी गति मे कुछ तीव्रता आ जाती है। इन अंशों में चाचा रघुपत और बहन देवी के आने का, उससे उत्पन्न होनेवाले नये आवर्तों का, अन्त में रघुपत चाचा के साथ दादी के चले जाने का, प्रसंग है। इसमें एक ओर माँ और बाबा अग्रमंच पर आ जाते हैं और उनके पारस्परिक तथा अन्य लोगों के साथ सम्बन्धो को अधिक स्पष्टता और तीक्ष्णता के साथ रूपायित किया गया है। दूसरी ओर, उनसे भी अधिक बीरू के व्यक्तित्व की नयी परतें उभरकर प्रकट होती हैं। "बाबा की पगड़ी समेटते हुए वह यों महसूस करता है जैसे किसी ने उसकी पुतलियों को पकड़कर आँखों को चर्र से फाड़ दिया हो और उसमें दो धधकते हुए कोयले रख दिये हों।" दो नये व्यक्तियों के आ जाने से स्थिति की एकरसता, गति की बँधी हुई लय, एकदम टूट गयी है और भीतर का विष फूटकर बाहर आ जाता है, तथा जीवन से एक और परिचय बीरू को होना है। बीरू "इस विष को अपने अन्दर समोता रहता है। फिर कसमसाता हुआ बाहर चला जाता है और नाली के किनारे बैठकर जाने कितनी देर तक धीरे-धीरे रोता है। जब उसका सारा भय, सारी घुटन आँसुओं में बह जाती है और वह खाली हो जाता है तो वहीं बैठे-बैठे ऊँघने लगता है। ऊँघते-ऊँघते लुढ़क जाता है, तो अचानक उसके मुँह से एक गाली निकल जाती है, गाली जो बाबा ने माँ को दी थी, या माँ ने दादी को, या दादी ने माँ को, या माँ ने अपने-आप को।" वास्तव में, कोई फर्क नहीं पड़ता कि किसने क्यों गाली दी। सब एक-दूसरे को गाली दे रहे हैं, वही एक रिश्ता बच रहा है, सारा जीवन ही एक गाली बन गया है। बीरू का मरघू की दुकान में आटा लेने जाना और वह न मिलने पर एक लड़के के साथ उसका वार्तालाप इस अनुच्छेद की मुख्य भाववस्तु में एक अन्य आवर्त पैदा करता है, जो

अपने सीधे-सपाट रूप में स्थिति की कड़वाहट को तीखा तो बनाता ही है, अपनी संरचना में सर्वथा शैलिबद्ध (स्टाइलाइज्ड) लगता है। उसकी लय तीव्र है पर सम नहीं, छोटे-छोटे संवादों द्वारा तीखे झटकों में टूटती चलती है, किसी कामदी नाटक की तेज गति के संवादमूलक दृश्य की भाँति। उसकी संश्लिष्टता और कृत्रिमता ही उसे तीखी काव्यात्मक प्रखरता प्रदान करती है। अनुच्छेद के अन्त में गाली के अभिप्राय की पुनरावृत्ति होती है।

"आओ, अब खेलें।—पहला लड़का कहता है।

बीरू उसकी ओर यूँ देखता है, जैसे उसे गाली दे रहा हो।'

पाँचवाँ अनुच्छेद तीसे गहरे तनाव का है जो दादी के मरने के लिए घर आने की पूर्वस्थिति में अनिवार्य रूप से उत्पन्न होता है। उसमें धुएँ का बिम्ब फिर से लौटता है और वही जैसे पूरे अनुच्छेद को बाँधे रखता है। प्रारम्भ में ही "धुएँ से अटा हुआ घुप अँधेरा और अँधेरे में लिपटी हुई गहरी उदास खामोशी···धुएँ की लहरें अँधेरे में एक जाल-सा बुन रही हैं जिसमें सबके दम घुट रहे हैं।" इस खण्ड में धुएँ और अँधेरे के इस दुहरे बिम्ब-मिथुन की कितनी ही तहें लेखक ने जमायी हैं। "दादी रुक-रुककर खाँसती है और अँधेरे के सीने में जैसे कई अदृश्य कीलें ठुक जाती हैं।" चाचा रघुनन्द की सिगरेट का जलता हुआ सिरा अँधेरे के किसी बिन्दु पर जड़े हुए लाल नगीने की तरह चमकता है। "जब वह कश लगाते हैं तो साँप के सिसकारने की-सी आवाज पैदा होती है और वह लाल नगीना दमक उठता है।" अँधेरे में धँसती हुई अदृश्य कील और रोटी···रोटी···रोटी। मानो कोई "उस कील पर हल्की-हल्की चोटें मार रहा हो। क्रमशः ये चोटें मजबूत होती जाती हैं। अँधेरा तिलमिला उठता है, और धुआँ मानो उस तिलमिलाहट को देखकर मैदान में उतर आया हो।" बीरू आँखें बन्द कर लेता है पर आँखों की जलन नहीं कम होती। "धुएँ का पानी मानो ऐसी गीली आग हो, जिससे न आँखें धुलती हैं, न हृदय की बेकली दूर होती है।" ऐसा वातावरण है कि "कुछ आवाजें अँधेरे में सफ़ेद-सफ़ेद स्तम्भों की भाँति उग आती हैं।" कुछ देर बाद बीरू पूरे जोर से चिल्लाने लगता है : "पानी, पानी, पानी। मानो अँधेरे से विद्रोह कर रहा हो, धुएँ को परे हटा रहा हो।" इस अँधेरे से कोई निस्तार नहीं, कोई छुटकारा नहीं। क्योंकि बहुत देर बाद जब दरवाजा खुलता भी है तो उसमें प्रकाश नहीं, "हवा के झोंके के साथ घिन की एक लहर उमड़ आती है। अँधेरा नाक सिकोड़ लेता है, धुएँ के माथे पर बल पड़ जाते हैं।" दहलीज पर बाबा खड़े झूम रहे हैं। धीरे-धीरे सारी जिन्दगी अँधेरे धुएँ और खामोशी के साथ एकाकार हो गयी है और जो कुछ बचा है वह शायद और भी घिनौना है। इसमें किसी संगति के लिए, विवेक के लिए, सन्तुलन के लिए, कहीं कोई

स्थान नहीं। यह क्या स्वप्न इन्सानों की दुनिया है या इसमें केवल निस्सार या विरस मन ही बसते हैं ? बीरू को भी यही लगता है। "यह घर है या पागलखाना ? उसे लगता है, जैसे यह सवाल स्वयं उसी से कहा हो।" पाँचवाँ अनुच्छेद यहीं समाप्त होता है।

अगले सप्ताह में दादी और मामा चले जाते हैं। बीरू देवी की गोद में सोया रहता है। चौथे-पाँचवें अनुच्छेदों की आत्मगत गति और लय की उद्विग्नता, तीव्रता, आवर्तनशीलता के बाद अब कुछ सौम्यता है। सातवें अनुच्छेद में इस भाव-संवेदना का स्वर और स्तर है। यहाँ लय धीमी है पर सघन है, लहरदार, चौपाई वृत्त-सा बनाकर चलती है। यहाँ बीरू और माँ के बीच एक नया सम्बन्ध स्थापित होता है, जो बनता है, टूटता है, बनता है, टूटता है। "माँ हर समय ऐसी ही बातें करती रहे, तो वह माँ से इतना प्यार करे, इतना प्यार करे कि माँ खुश हो जाय।" इस समय माँ के साथ उसके सम्बन्ध में एक विचित्र प्रकार का दुहरापन है, द्विधा है। घृणा और प्यार के सम्मिश्रण का बड़ा मूलभूत आयाम यहाँ प्रस्तुत है। साथ ही बीरू और माँ के व्यक्तित्वों को एक साथ ही उनकी अपनी-अपनी अलग-अलग दृष्टियों से समानान्तर प्रस्तुत करने के लिए लेखक ने एक बड़ी दिलचस्प युक्ति का सहारा लिया है। माँ उसे झींक-झींककर अपनी दुखभरी कहानी सुना रही है जो स्वयं माँ के अपने व्यक्तित्व *की पृष्ठभूमि का उद्घाटन करती है। पर बीरू की दृष्टि से माँ की यह राम-*कहानी खत्म हो जाय तो अच्छा है। "माँ, मुझे कोई ऐसी कहानी सुनाओ कि नींद आ जाय। कोई बहुत अच्छी-सी कहानी।" और वह माँ की गोद में सिमटता हुआ छोटा-सा बन जाता है। पर माँ अपने ही झींकने में मगन है। वह बीरू की बात ही नहीं सुनती। पर बीरू ही कहाँ उसकी बात सुनता है ? वह माँ *की ओर से अपने-आप एक कहानी बुनने लगता है। "क्यों नहीं माँ ऐसी* कहानी सुनाती, जिसमें एक राजा हो, जिसकी सात रानियाँ हों..." उधर माँ कहती : "हर वक्त मेरा अंग दुखता रहता। अपनी माँ की शह से वह और भी शेर हो जाते। मैंने मुँह खोला नहीं कि दोनों माँ-बेटा मुझ पर पिल पड़ते।" इधर बीरू भी अपनी कहानी आगे बढ़ाता : "राजा सबसे छोटी रानी को सबसे ज्यादा प्यार करता हो। छोटी रानी का नाम फूलरानी हो।" और दोनों सूत्र इसी प्रकार समानान्तर चलते जाते हैं। लय का यह एक नया ही बुनाव है, बिलकुल काल्पनिका-जैसा (फ़ैंटेसी) जो दो-भाव स्तरों के, अनुभूति स्तरों के, व्यक्तित्व स्तरों के, *कई सम्बन्धों को नयी तीव्रता से उद्घाटित* करता है।

आठवें अनुच्छेद में फिर लेखक एक बाह्य तत्त्व का समावेश करता है। बीरू के लिए एक नया अनुभव जुड़ता है, छोटे भाई के जन्म और उससे उत्पन्न

माँ की शारीरिक और मानसिक स्थिति को लेकर। पर अन्त होते-होते इस खण्ड का बल उसकी बहन देवी और माँ के बीच तनाव के उभार पर चला जाता है। यह अभी दूरस्थ नये चरमबिन्दु और उसके विस्फोट की तैयारी है, यद्यपि तीव्रता यहाँ भी कम नहीं है। कुल मिलाकर भावगति की लय बहुत बढ़ी हुई है।

नवाँ अनुच्छेद नाटकीय गति, भाव सघात और उसकी तीव्रता का अनुपम उदाहरण है। बीरू बाबा के पीछे-पीछे उनके जुए के अड्डे पर चला जाता है। उस स्थान के वातावरण में, वहाँ बैठे हुए व्यक्तियों की चाल-ढाल, बात-चीत आदि में एक भिन्न जगत का स्वाद है, यहाँ बीरू को अपने बाबा भी इतने भिन्न लगते है। अन्त मे उसको खोजते-खोजते माँ भी वहाँ पहुँचती है। बाबा को अब लौटना पड़ता है, पर लौटते वक्त वह शराब मे चूर नाली में गिर पड़ते हैं, और उन्हें उठाने जाकर बीरू को गन्दी गाली सुननी पड़ती है, जो उसके लिए और भी नया अनुभव है। बीरू के भाव-सूत्र मे यह एक नया मोड़ है, किन्तु अनुच्छेद का अन्त फिर देवी और माँ के बीच झड़प से होता है। देवी क्रमशः दृष्टिकेन्द्र मे आती जा रही है। स्थिति मे एक भिन्न प्रकार का आवर्त धीरे-धीरे तीव्रतर होता जा रहा है।

अगले अनुच्छेद में लम्बे दाँतो वाली जलालपुरनी फिर दिखायी पड़ती है। उसके और माँ के बीच समानान्तर संवादो की युक्ति के द्वारा बड़ी तीखी मानवीय कुरूपता और क्षुद्रता की व्यंजना की गयी है। इस संवाद में सचेष्ट और कलात्मक रीतिबद्धता है जिसके द्वारा बड़ी चतुराई से भाव की गति को आगे बढ़ाने की बजाय उसमें एक ही स्थान पर नये-नये पेच डाले गये हैं। साथ ही जलालपुरनी और माँ के बीच आकस्मिक 'आन्तरिकता' द्वारा इस क्षुद्रता की निरन्तरता को व्यंजित किया गया है। कोई भी स्थिति हो, जलालपुरनी उसमे नये आवर्त पैदा करने के लिए मौजूद है ही। अनुच्छेद का अन्त एक नये बाह्य तत्व के समावेश द्वारा, देवी की सहेली पारो और उसके घर से परिचय मे होता है। ग्यारहवाँ अनुच्छेद माँ और बाबा के बीच एक और झगड़े मे आरम्भ होकर अन्त मे एक अत्यन्त ही भिन्न मानवीय स्वर का समावेश करता है, असलम के रूप मे। असलम स्कूल मे शिक्षक के हाथ से बीरू को बचाने के लिए स्वयं मार खाता है और उसे अपना दोस्त बना लेता है। इस ओर अगले दो-तीन खण्डो मे एक प्रकार से मानवीय-अमानवीय स्थितियों को बड़ी खूबी से आमने-सामने रखकर उनके परस्पर सघात के द्वन्द्व के कई रूप प्रस्तुत किये गये हैं। बारहवाँ अनुच्छेद मेह को बुलाने के लिए गली में नाचते हुए बच्चो से शुरू होकर दादी की मृत्यु के समाचार मे समाप्त होता है। यह जैसे उसी मानवीय सुन्दरता के, चाहे जितने फीके सही, दो

विभिन्न स्तर हैं, और शायद इतने तीखे भी नहीं हैं, उतने "अँधेरे धुएँ और खामोशी" के बीच आनन्द और करुणा की ये किरणें चाहे कितनी तीखी लगें, पर ये ही सत्य हैं। इन दोनों बाह्य स्थितियों में बीरू का सम्बन्ध अलग-अलग प्रकार का है, यद्यपि दोनों में ही समान वह आँसू बहाता है, एक के साथ पूरी तरह आत्मसात न हो जाने के कारण और दूसरी के साथ इतना एकाकार होने के कारण। दादी की मृत्यु जैसे उसके व्यक्तित्व की एक कोंपल उतर जाने के समान है। परिवर्तन की इस तीव्रतर अनुभूति के बाद अब वह अधिक सम्पन्न है, अधिक समझदार है।

तेरहवें अनुच्छेद में फिर विसदृशता (कन्ट्रास्ट) के द्वारा एक तनाव और फिर उसके भीतर एक सन्तुलन स्थापित किया गया है। दादी की मृत्यु के कारण बाबा-माँ के चले जाने से बीरू और देवी अब अकेले हैं। एक ओर उसका परिचय पारो के घर पर उसकी माँ से तथा बहनजी और नरेश से होता है और दूसरी ओर असलम के घर पर उसकी बहन शकीला और उसकी माँ से। इन दोनों समूहों में सदृशता और विसदृशता के बीच बड़ा सूक्ष्म सन्तुलन रखा गया है। दोनों का स्वर अलग-अलग है और वे बीरू के मन में सर्वथा विपरीत प्रकार की प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करते हैं और इस प्रकार उसके भीतर के जगत को बहुस्तरीय और अधिक जटिल बनाने में सहायक होते हैं। पारो के यहाँ से लौटते वक्त "उसका जी चाहता है कि वह ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगे या कोई चीज़ उठाकर फ़र्श पर दे मारे।" असलम के यहाँ से लौटते वक़्त "वह उन सबका मुक़ाबला अपने-आप से, अपनी माँ से, अपनी बहन से और अपने घर से करने लगता है। इन दोनों के बीच एक लकीर-सी खींच देता है।" और घर पहुँचते-पहुँचते बीरू को घर की हरेक चीज़ से घिन आने लगती है। मानवीय और अमानवीय के बीच द्वन्द्व के तनाव को अन्त में बच्चों के एक संवादमूलक खेल में व्यक्त किया गया है जो अपनी अयथार्थता और निर्ममता के कारण ही इतना व्यंजनापूर्ण है।

अगले दो अनुच्छेदों में देवी, पारो, बहनजी और नरेश वाला प्रसंग अपनी समस्त कुरूप सम्भावनाओं के संकेत के साथ दुहराया जाता है। देवी को नरेश और बहनजी का पारस्परिक व्यवहार और सम्बन्ध बड़ा संदिग्ध और आशंकापूर्ण लगता है, पर फिर भी वह नरेश के साथ लाहौर भाग जाने की कल्पना में रस पाती है। मुक्ति और मुक्तिहीनता को इस प्रकार एक ही सूत्र से व्यक्त किया गया है। पर इसी बीच माँ लौट आयी है। बीरू से असलम रूठ गया है और देवी से वह स्वयं असन्तुष्ट है। इसलिए "बीरू धीरे-धीरे माँ की ओर बढ़ता है। सोचता है, शायद नज़दीक आने पर माँ को उस पर प्यार आ जाय। इतने दिनों बाद मिली है। ज़रूर उसे उठाकर चूम लेगी।

शायद रोने भी लगे···अचानक बीरू को लगता है, जैसे उसके सामने माँ नहीं, माँ का भूत खड़ा हो, लम्बे-लम्बे दाँतों वाला, माथे पर दो सींगों वाला, उल्टे पाँवों वाला···" लम्बे दाँतों वाली जलालपुरनी, 'पूतना' मास्टरनी, माँ—बीरू के प्यार की माँग के सारे कल्पना-चित्र सदा किसी-न-किसी 'भूत' के कारण ध्वस्त होते रहे हैं। अब वह अपने अनुभव का एक दौर पूरा कर रहा है और चरमबिन्दु पर आ पहुँचा है।

बीरू बुखार में पड़ा है। उसके चारों ओर की हर वस्तु जैसे अपनी जगह से हट गयी है, सारे मानवीय और कोमल तन्तु छिन्न हो गये हैं। बीरू के बुखार की बेहोशी के अनुरूप ही देवी और माँ का संघर्ष भी अपने तीव्रतम बिन्दु पर पहुँचा हुआ है, बाबा जाने कहाँ रह गये हैं और माँ उनसे पूर्णत: निराश हो चुकी है। बड़ी तीव्र और द्रुत गति से बीरू अपनी नियति के समीप झपट रहा है। बुखार में वह सोचता है, वह अब किसी की नहीं सुनेगा। "हँसता हुआ ऊपर-ही-ऊपर उठता चला जाएगा और आखिर बहुत ऊँचे आसमान पर तारा बन जाएगा, जहाँ से उसे न माँ नज़र आएगी, न बाबा, न देवी, न पारो, न असलम, न हफ़ीज़ा, न स्कूल, न मास्टर, न कुछ···

उसका बुखार बहुत तेज़ हो गया है।"

वह निहायत छोटा-सा बच्चा बीरू कितनी जल्दी कितना अकेला हो गया है, सचाई के एक आयाम के कितने समीप जा पहुँचा है!

अब अगला अनुच्छेद इस कविता की अन्तिम गति प्रस्तुत करता है। बीरू अभी बीमार पड़ा है, देवी और नरेश के विवाह के लिए माँ किसी तरह तैयार नहीं। और न देवी किसी और से विवाह करने को। शायद दोनों में कोई स्थिति ही वरणीय नहीं है। अचानक कथा के सभी सूत्र अपनी चरम परिणति की ओर उन्मुख हो जाते हैं। बाबा लौट आते हैं और माँ-बाबा में झगड़ा अपनी चरम तीव्रता में शुरू हो जाता है। पर इसके पहले लेखक ने बाबा और बीरू के बीच तथा बाबा और देवी के बीच अपेक्षाकृत कोमलतर तारों से करुणा के स्वर झंकृत किये हैं जिससे परवर्ती स्वरारोह अपनी पूरी कटुता में गूँज सके। बाबा को देखते ही माँ अपने कड़े माँगती है और फिर सिर पीट-पीटकर रोने लगती है। बाबा कुछ देर शान्त रहते हैं, फिर सीढ़ि-कर माँ को इतने बल से मारते हैं कि वह लुढ़कती हुई ड्योढ़ी के दरवाज़े से जा टकराती है। वह बार-बार अपने सिर को छूती है और फिर खून से लथड़े हुए हाथों की ओर देखकर ऊँचा-ऊँचा रोना शुरू कर देती है। जैसे इसके प्रत्युत्तरस्वरूप बाबा कमरे में चले जाते हैं और दरवाज़ा अन्दर से बन्द कर लेते हैं। यह नयी सम्भावनाएँ प्रस्तुत करता है। माँ अब भी चिल्ला रही है। पर उसकी टेक बदल जाती है—"हाय, दरवाज़ा खुलवाओ। कहीं वो अपने-

आप को कुछ कर न लें।" यह लगभग यान्त्रिक पुनरावृत्ति के साथ चलती रहती है। लोग जमा हो जाते हैं, दरवाजा खटखटाते हैं, आवाजें देते हैं। लेकिन बाबा अन्दर से न जवाब देते हैं, न दरवाजा खोलते हैं। तभी बीरू को भी न जाने क्या सूझता है कि उठकर रसोईघर में चला जाता है और वह भी दरवाजा अन्दर से बन्द कर लेता है। इसके बाद उधर बाबा के कमरे का दरवाजा खोलने या तोड़ने की कोशिश चलती है, और इधर बीरू गले में रस्सी का फन्दा डालकर मरने की कोशिश करता रहता है, यद्यपि शायद वह ठीक-ठीक जानता नहीं कि क्या कर रहा है, और क्यों कर रहा है। जानना जरूरी भी क्या है? नियति सामने जो है। अन्त में "उधर बाबा के कमरे का दरवाजा टूटता है और इधर रसोई में बीरू धड़ाम से नीचे गिर पड़ता है। गिरने से बीरू के गले का फन्दा कुछ ढीला पड़ जाता है और बाहर से आ रहा शोर फिर धीरे-धीरे बीरू के कानों में सनसनाने लगता है।"

इस प्रकार जैसे बीरू एक बार मरकर फिर से जी उठता है, एक नियति को पहुँचकर अगली नियति की प्रतीक्षा में। बाबा के अपने-आपको 'कुछ कर लेने' की सम्भावना में और बीरू के सचमुच गले में फन्दा डाल लेने में एक ऐसी समानान्तर भावगति है जिससे स्पष्ट ही विद्रूप, व्यंग्य और करुणा एक साथ रूपायित हैं। एक विलक्षण प्रक्रिया से बीरू जैसे अचानक ही अपने और जीवन के सत्य का साक्षात्कार पा जाता है और बाहर से आनेवाला जिन्दगी का शोर उसके कानों में फिर सुनायी पड़ने लगता है। जिन्दगी का एक और वृत्त पूरा हो जाता है।

'उसका बचपन' में भाववस्तु की ऐसी एकाग्रता है जो हिन्दी उपन्यास में एकदम नयी है। कथासूत्र का ऐसा उपयोग किया गया है जो दैनन्दिन और मूर्त स्तर पर तथा अमूर्त संकेतात्मक स्तर पर एक साथ ही संचरण करता है। घटनाएँ स्थूल घटनाएँ भी हैं, और साथ ही एक अधिक सूक्ष्म भावस्थिति को भी सूचित करती हैं। पात्र व्यक्ति भी हैं, साथ ही वे परिवेश भी हैं, एक बृहत्तर सत्ता के अवयव जैसे। परिवेश एक मूर्त, इन्द्रियगोचर वातावरण, परिस्थिति भी है, साथ ही समग्र जीवन्त व्यक्तित्व भी। सारी कथा एक निहायत छोटे बच्चे की चेतना के स्तर पर भी है, और साथ ही अधिक जटिल, गहन तथा बहुमुखी चेतना के स्तर पर भी। सीधे-सादे यथार्थवादी वर्णन के साथ सर्वथा काल्पनिक जैसे स्वर में रीतिबद्ध संवाद, गति-विधान, भाव-संयोजन को ऐसे सचेष्ट समानान्तर रूप में प्रस्तुत किया गया है, जो अत्यन्त सघन काव्यात्मक वक्तव्य में ही प्रायः सम्भव हो पाता है। 'उसका बचपन' में इस काव्यात्मक वक्तव्य को कई जगह बड़ी तीव्र नाटकीय ढंग से, गतिमूलक संरचना में रखा गया है। ऊपर के विश्लेषण में बहुत-से ऐसे स्थलों का निर्देश

किया गया है। ऐसा ही एक अन्य स्थल वह है जहाँ एक ओर रघुपत चाचा और दादी है और दूसरी ओर माँ और बाबा। बीरू एक बार अन्दर माँ-बाबा के पास जाता है, और फिर दूसरी बार चाचा-दादी के पास। और यह क्रम कई बार चलता है। लेखक ने इस गति के द्वारा ही, बिना अपनी ओर से कुछ जोड़े, जैसे दो समानान्तर स्थितियों पर अपनी टिप्पणी कर दी है। गतियों का यह प्रयोग बार-बार इस कथा में हुआ है जो उसे विचित्र रूप में नाटकीय भी बनाता है और एक गहरी, प्राय शब्दों में न बँध सकने वाली, भाव-स्थिति को भी अभिव्यक्त करता है। इसी प्रकार बीरू का ऐसा प्रयोग किया गया है जैसे वह कोई कैमरा हो जो एक बार एक स्थिति का और एक बार दूसरी स्थिति का, कभी पास का (क्लोज़-अप) और कभी दूर का (लोंग शॉट) दृश्य जैसा प्रस्तुत करता जाता हो। इस कारण एक ओर रचना में बच्चे के मन की सरलता और सहजता भी उद्घाटित हुई है, बीरू के शिशु-सुलभ ध्यान के निरन्तर फिसलते हुए केन्द्र को स्थापित किया जा सका है। दूसरी ओर बड़ी सादगी और तात्कालिक प्रत्यक्षता से यथार्थ की गहराई को देखा जा सका है। 'उसका बचपन' की विशिष्ट उपलब्धि है उसकी चित्रमयता। उसमें गतियों के द्वारा, बिम्बों के द्वारा, सूक्ष्म संकेतों और सीधे, संयमित वर्णनों के द्वारा, बाह्य और आन्तरिक स्थितियों को उकेरा गया है, जो एक ही केन्द्रीभूत प्रभाव को समस्त तीव्रता के साथ अंकित करती जाती हैं।

यह केन्द्रीभूत प्रभाव है गहरी विषण्णता और तीखे अवसाद का, और यदि अधिक आधुनिक शब्दावली में कहें तो, इन्सान की अकेलेपन की नियति का, जीवन की संगतिहीनता और व्यर्थता का। यह भाव चाहे जितना आधुनिक हो, मन को उदास तो करता ही है, कभी-कभी लगता है उसके 'धुएँ, अँधेरे और खामोशी' से जैसे दम घुट रहा हो। इस घटाटोप को हलका करने वाले तत्त्व उपन्यास में नहीं के बराबर हैं। कहीं कोई सहज स्नेह की किरण, क्रीड़ा-मग्न बालकों की मुक्त हँसी, किसी किशोर प्रेम की मोहक मुग्धता नहीं दीखती। देबी का प्रेम-प्रसंग भी बड़ा कुंठित और एक विचित्र प्रकार की अस्वाभाविकता और तनाव से भरा हुआ है। इस प्रकार वातावरण और रंगों में एकरसता है। लेखक ने अन्धकार और आलोक के मिलित रंगों द्वारा नहीं, बल्कि अन्धकार के ही अलग-अलग रूपों से, उसके अलग-अलग भारों और तीव्रताओं से अपना चित्र रचा है। निस्सन्देह काले रंग की विभिन्न मात्राओं और गहनताओं के द्वारा, तथा कभी-कभी उन्हें कुछेक किंचित हलके रंगों के साथ मिश्रित करके, साम्य और विसदृशता का यह संयोजन बड़ी सूक्ष्मता और कलात्मक अन्तर्दृष्टि से किया गया है। किन्तु इसी कारण इस चित्र में उदासी और अवसाद है, जीवन की गहरी विडम्बना या ट्रेजेडी का

भाव नहीं उत्पन्न होता। इसमें शक्ति की और उसकी टकराहट की प्रबलता नहीं है, इसीलिए विघटन में भी वेग से टूटने का नहीं, धीरे-धीरे कुतरे जाने का-सा प्रभाव पड़ता है। जीवन के एक अत्यन्त छोटे-से टुकड़े को बड़ी सूक्ष्मता से और तीखेपन से अंकित किया गया है, वह किसी बृहत्तर सत्य को अपने भीतर समेटता और उद्घाटित नहीं करता, आंशिक है, समग्र या सर्वव्यापक नहीं। ऐसा लगता है कि यह कोई विशेष, लेखक का निजी, सीमित-परिचित जीवन-खण्ड है, किसी व्यापक जीवन का एक अंश नहीं। साथ ही लेखक ने जैसे उसे शेष जीवन से विच्छिन्न करके और उस विच्छिन्नता को प्रस्तरीकृत करके देखा है, बाकी दुनिया से जैसे उसका सम्बन्ध पूरी तरह और सदा के लिए कटा हुआ है—इतना कि यह भी नहीं लगता कि बाकी कोई दुनिया कहीं है भी। अनुभूति और दृष्टि की यह एकान्तता, सीमा और आबद्धता एक साथ ही इस रचना को अत्यधिक प्रामाणिक और अत्यधिक सकुचित बना देती है। कलात्मक दृष्टि से इसमें एकाग्रता और अन्विति तो अधिक है पर मानवीय तत्त्व सीमित, संकीर्ण और बाह्य हो गया है। इस कारण अन्तिम विश्लेषण में सर्जनात्मक उपलब्धि की दृष्टि से भी सार्थकता के बावजूद यह शिखरत्व नहीं प्राप्त करती। फिर भी कुल मिलाकर यह आधुनिक हिन्दी उपन्यास की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

३ | अन्तर्मुखी और आत्मकेन्द्रित : 'नदी के द्वीप'

यह बड़ी दिलचस्प बात है कि यद्यपि आज अज्ञेय मुख्यतः कवि के रूप में अधिक विख्यात और स्वीकृत हैं, प्रारम्भ में लेखक के रूप में उनकी मान्यता उनके प्रथम उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' से ही हुई थी जिसके प्रकाशित होने पर एक सर्वथा नवीन साहित्यिक स्तर की उपलब्धि का भाव समान भाव से हिन्दी के पाठक और समालोचक को हुआ था और समूचा साहित्यिक वातावरण नये आलोड़न से स्पन्दित हो उठा था। वही बात उनके दूसरे उपन्यास 'नदी के द्वीप' के प्रकाशित होने पर भी हुई। वास्तव में अज्ञेय के व्यक्तित्व में और उनके साहित्यिक कृतित्व में कोई ऐसा विस्फोटक तत्त्व है कि उनकी हर रचना कुछ इसी प्रकार का विक्षोभ उत्पन्न करती है। अज्ञेय की उपेक्षा सम्भव नहीं—न उनके व्यक्तित्व की, और न उनकी रचना की। यह सही है कि जहाँ 'शेखर : एक जीवनी' का, चाहे जितने आलोचनात्मक स्वर में ही सही, मूलतः स्वागत हुआ था, वहीं 'नदी के द्वीप' की बड़ी तीव्र और कटु आलोचना चारों ओर से हुई। इसका कुछ कारण तो यह भी है कि 'शेखर : एक जीवनी' प्रकाशित होने के समय अज्ञेय का व्यक्तित्व लगभग नया था, और यह निर्विवाद लगता था कि उससे हिन्दी के उपन्यास को एक सर्वथा नयी दिशा मिली है। उसके बाद से अज्ञेय के व्यक्तित्व और व्यक्तिगत जीवन के विषय में, उनकी साहित्यिक मान्यताओं और उनके विचारों के विषय में, बहुत-सी प्रतिक्रियाएँ हिन्दी जगत में हो चुकीं। अब उनके प्रति वही रोमैंटिक रहस्यमय क्रान्तिकारी षड्यन्त्रकारियों के प्रति जैसा विस्मय का भाव नहीं रहा। इसलिए उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का एक सर्वथा नये ही स्तर पर मूल्यांकन होने लगा, जिसे एक प्रकार से उनके साहित्यिक कृतित्व की प्रतिष्ठा का सूचक भी माना जा सकता है।

इस बात का एक पक्ष यह भी है कि प्रायः उनके कृतित्व की चर्चा बहुत-से

नदी के द्वीप (१९५१)—लेखक : अज्ञेय, प्रकाशक : प्रगति प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ० ४४४।

असामाजिक, साहित्येतर और एकदम व्यक्तिगत कारणों से होने लगती है। सम्भवतः इसीलिए 'नदी के द्वीप' के भी दुर्बल पक्षों पर ही अधिकांश आलोचकों का ध्यान गया, अथवा कुछ लोगों ने उनके व्यक्तित्व के अतिरिक्त अंशों के साथ ही जोड़कर देखा और उसकी सर्जनात्मक उपलब्धि और विशिष्टता पर ध्यान नहीं दिया जा सका। किन्तु 'नदी के द्वीप' हिन्दी उपन्यास की महत्त्वपूर्ण रचनात्मक उपलब्धियों में से है। उपन्यास के रूप में न केवल उस प्रकार की कोई अन्य रचना हिन्दी में नहीं है, बल्कि उसकी सूक्ष्मता, संवेदनशीलता और अनुभूतिगत प्रखरता से लिखी हुई कृतियाँ बहुत ही कम हैं। बहुत-सी दृष्टियों से 'नदी के द्वीप' हिन्दी की साहित्यिक चेतना को, सौन्दर्य-बोध को, हिन्दी गद्य की सूक्ष्म अभिव्यंजना-शक्ति को, एक सर्वथा नया ही स्तर प्रदान करता है और हिन्दी उपन्यास को पश्चिमी देशों के उपन्यास साहित्य का समकक्षी बना देता है।

'नदी के द्वीप' व्यक्तिगत तथा निजी अनुभूतियों की गाथा है जिसकी भाव-वस्तु तीव्रता, गहनता और एकाग्रता में अनूठी है और सघनता में लगभग काव्यात्मक है। यह प्रेम की उपलब्धि का, उसकी प्रौढ़ और प्रखर अनुभूति का, उसके द्वारा व्यक्तित्व के प्रस्फुटन और परिपूर्णता का उपन्यास है। एक प्रकार से यह एकमात्र हिन्दी उपन्यास है जिसमें ऐसे प्रेम का चित्रण है जो वर्जनाओं से संत्रस्त नहीं है, जो एकान्त रूप से व्यक्तिनिष्ठ होकर भी कुंठित नहीं है, जिसमें समर्पण तथा पीड़ा भी है, साथ ही उसका अतिरिक्त प्रतिफलन भी। हिन्दी उपन्यास में प्रेम का जो रूप प्रस्तुत होता रहा है, उसमें प्रायः व्यक्ति की कुंठा का, उसके ऊपर भारी पत्थर की भाँति रखी हुई सामाजिक अथवा निजी संस्कारगत वर्जनाओं का, बोझ ही प्रक्षेपित हो सका है। 'नदी के द्वीप' इस दृष्टि से हिन्दी के सभी उपन्यासों से भिन्न है। उसमें पुरुष और नारी के ऐसे प्रेम का चित्रण है जो बाहरी दृष्टि से असामाजिक होते हुए भी व्यक्तित्व को विकृत नहीं करता, उसे सम्पूर्णता और सन्तुलन प्रदान करता है, उसे अधिक मानवीय और संवेदनशील बनाता है, उसे अधिक स्थिरता प्रदान करता है।

इसीलिए आश्चर्य की बात नहीं कि 'नदी के द्वीप' स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों के विषय में समाज की खोखली मिथ्या मान्यताओं के प्रति व्यक्ति के तीखे विद्रोह को व्यक्त करता है। यह याद दिलाना, आज भी, धृष्टता नहीं है कि हमारे देश में अभी तक स्त्री-पुरुष का परस्पर आकर्षण और स्वाभाविक प्रणय, अपनी परिकल्पना और प्रतिफलन दोनों में, तुरन्त वर्तमान जर्जर सामाजिक मान्यताओं को, स्वीकृत सामाजिक आचार-व्यवहार के लिए, चुनौती बन जाता है। एक प्रकार से वह सभी देशों में, शायद सभी युगों में, स्वीकृत

सामाजिक मान्यताओं के लिए चुनौती बनता है; किन्तु आज के भारतीय समाज मे तो वह ऐसा केन्द्रबिन्दु है जहाँ व्यक्ति ऐसा असाधारण दबाव अनुभव करता है जो अन्य सभी सामाजिक तनावों से ऊपर उठ जाता है, और जहाँ ही व्यक्ति का विद्रोह सबसे अधिक तीखे और व्यापक तथा विस्फोटक रूप में प्रकट होता है। हमारे समाज मे व्यक्ति के प्रेम की, स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध की, कोई भी गति, कोई भी सघन प्रबल परिणति अनिवार्य रूप से तथाकथित सामाजिक मान्यताओं से टकराती है और विरोध उत्पन्न करती है। 'नदी के द्वीप' के विरुद्ध असामाजिकता की जो आवाज उठी थी वह इसीलिए बड़ी पाखण्डपूर्ण जान पड़ती है। यदि हम प्रेम-कथा को केवल किशोरसुलभ रोमैंटिक 'आह-ऊह' तक ही सीमित नही रखना चाहते, यदि हम उसे वयस्क, विकसित, सूक्ष्म सवेदनशील व्यक्तित्वो के सन्दर्भ मे देखना और पहचानना चाहते है, तो वह अनिवार्य रूप मे असामाजिक ही लगेगी। रूढ़िग्रस्त, संक्रांति-कालीन समाज के लिए यह ऐसा अस्वाभाविक भी क्या है ? पर 'नदी के द्वीप' की विलक्षणता इस बात मे है कि उसका विद्रोह एक बड़ी ही भव्य और सर्वोच्च भावावस्था तथा निश्छलता के स्तर पर है। 'नदी के द्वीप' मे चित्रित प्रेम की असामाजिकता मूल रूप में वैसी ही असामाजिकता है जैसी मीरा के प्रेम की रही होगी। इसीलिए उसमे वैसी ही सामाजिक निरपेक्षता है, वैसी ही सहन करने की, और उस पीड़ा से अधिक पवित्र, सफल और परिपूर्ण होने की क्षमता है। 'नदी के द्वीप' मे प्रेम का चित्रण और उस प्रेम के फलस्वरूप दो स्त्री-पुरुषों के बीच व्यक्तित्व का, तन और मन दोनों का समर्पण, किसी विकृति का न तो परिणाम है, न उसका कारण। 'नदी के द्वीप' मे देह का यह समर्पण, अथवा प्रेम की चरम अनुभूति के रूप मे दो शरीरो का मिलन, अपने अधिक-से-अधिक सार्थक रूप में अभिव्यक्त हुआ है।

"साक्षी हों सूर्य, और आकाश, और पवन, और तले बिछी घास और चट्टानें, साक्षी हों अन्तरिक्ष के अगणित देवता और अकिंचन वनस्पतियाँ...

"लेकिन यह सत्य है जो कोई साक्षी नही माँगता, सिवाय अपने ही भीतर की निविड़ समर्पण की पीड़ा के, अपने ही में निहित, स्पन्दित और क्रियाशील असंख्य पीड़ाओं की असंख्य सम्भावनाओं के..."

प्रेम को, स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को, इस सूक्ष्म और पवित्र स्तर पर ग्रहण और चित्रित कर सकना ही एक बड़ी भारी उपलब्धि है। इस चित्रण मे एक ऐसी प्रौढ़ता है जो 'नदी के द्वीप' को हिन्दी के, हिन्दी ही नही बल्कि सम्भवतः और भी भाषाओं के, श्रेष्ठतम उपन्यासो की कोटि मे ला रखती है।

अनुभूति की यह सूक्ष्मता और उसका अंकन निस्सन्देह हिन्दी में नया भी है। मन के यथार्थ की, भावाभिभूत और प्रेम से उद्दीप्त मन की, उसकी पीड़ा

से तपे हुए आलोकित क्षणों की, ऐसी कितनी ही भावावस्थाओं, मन:स्थितियो और अनुभूतियो के चित्र 'नदी के द्वीप' मे हैं जो और कही नही मिलते ।

एक जगह भुवन सोचता है : "पर फुलफिल होना क्या है ? तन्मयता उसने जानी है, एक अभूतपूर्व तन्मयता; लेकिन स्वय वह जो जाना है उससे कुछ अधिक और कुछ अधिक गहरा रेखा उसके निमित्त से जान सकी है—अधिक गहरा कि वह स्त्री है; और स्त्री होते हुए भी उसने वह साहस किया है जो शायद भुवन मे नही है, अधिक गहरा इसलिए कि उसे जानने के लिए पहले जाना कई-कुछ भुलाना भी पडा है ·· तो क्या यही फुलफिलमेंट नही है कि कोई किसी को वह चरम अनुभूति दे सके—देने का निमित्त बन सके—जो जीवन की निरर्थकता को सहसा सार्थक बना देती है ।"

या एक अन्य स्थान पर भुवन के विषय मे . "विशेष घटनाओं या स्थितियो का चित्र भुवन के सामने कदाचित ही आता; स्मृत संस्पर्शों या दुलारो का राग कदाचित् ही उसे द्रवित करता, पर रेखा के अस्तित्व का एक बोध मानो हर समय उसकी चेतना के किसी गहरे स्तर को आलोकित किये रहता और उसके प्रतिबिम्बित प्रकाश से अन्तःकरण को रंजित कर जाता—जैसे किसी पहाड़ी झील पर पडा हुआ प्रकाश प्रतिबिम्बित होकर आस-पास की घाटियों को उभार देता है···"

रेखा के लिखे हुए एक कागज पर . "नही, तुम चले जाना भुवन, मुझे अकेली छोड़कर चले जाना । जीवन के सारे महत्त्वपूर्ण निर्णय व्यक्ति अकेले मे करता है, सारे दर्द अकेले भोगता है—और तो और, प्यार के चरम आत्म-समर्पण का सबसे बडा दर्द भी···मिलने मे जो विरह का परम रस होता है—तुम जानते हो उसे ?···इतना अभिन्न मिलन क्या हो सकता है कि मौन बाकी न रहे ? सारी सृष्टि मे रमा हुआ ईश्वर भी तो अकेला है, अपनी सर्व-व्याप्ति मे अकेला, अपनी अद्वितीयता मे अयुक्त, विरही···"

या भुवन द्वारा रेखा को एक पत्र मे : "प्यार मिलाता है, व्यथा भी मिलाती है; साथ भोगा हुआ क्लेश भी मिलाता है; लेकिन क्या ऐसा नहीं है कि एक सीमा पार कर लेने पर ये अनुभूतियां मिलाती नहीं, अलग कर देती हैं, सदा के लिए और अन्तिम रूप से ? अनुभूतियां गतिशील हैं, अतीत होकर भी निरन्तर बदलती रहती हैं और व्यक्तित्व को विकसाती हुई उसमें घुलती रहती हैं, लेकिन यह सीमा लांघ जाने पर जैसे वे गतिशील नहीं रहतीं; स्थिर, जड़ हो जाती हैं ··जीवन एक चलचित्र न रहकर स्थिर चित्रों का समूह हो जाता है और हर नयी सम्भाव्य अनुभूति के आगे व्यक्ति किसी एक चित्र को प्रतिरोधक दीवार की तरह खड़ा कर लेता है ।"

या रेखा के एक पत्र मे "सचमुच यह दर्द मेरी सहनशक्ति से परे है,

मैं उसे नहीं सँभाल सकती''' कोई भी नहीं सँभाल सकता शायद प्यार का दर्द, इसीलिए शायद प्यार रहता नहीं, दर्द रह जाता है—केवल ईश्वर सँभाल सकता है अगर वह है—या कहूँ कि जो सँभाल सकता है वही ईश्वर है''' 'प्रियः प्रियायार्हसि देवसोढुम्' कितनी सार्थक वन्दना है यह ईश्वर की, वही सह सकता है, वही एक, और कोई नहीं'''"

या रेखा के एक अन्य पत्र मे : "निराश मत होओ, भुवन, अपने जीवन को परास्त भाव से नहीं, स्रष्टा भाव से ग्रहण करो; एक विशाल पैटर्न है जो तुम्हे बुनना है; तुम्हारी प्रत्येक अनुभूति उसका एक अंग है, प्रत्येक व्यथा एक-एक तार—लाल, सुनहरा, नीला'''मैं—मैं भी उसी ताने-बाने के तारो का एक पुंज हूँ—तुम्हारे जीवनपट का एक छोटा-सा फूल। मेरे बिना वह पैटर्न पूरा न होता, लेकिन मैं उस पैटर्न का अन्त नहीं हूँ—मै इसमे सुखी हूँ कि मैंने भी उसमें थोड़ा-सा रंग दिया है—शायद थोडे-थोडे कई रग'''सब उज्ज्वल नहीं हैं; लेकिन कुल मिलाकर यह फूल कभी अप्रीतिकर या तुम्हारे पैटर्न मे बेमेल नहीं होगा, यही मनाती हूँ।"

ऐसे ही और भी अनगिनती उद्धरण दिये जा सकते है। वे ऐसी मन-स्थितियो को प्रकट करते हैं जिन्हे अनुभूत करना, तटस्थ होकर देख सकना और फिर शब्दबद्ध कर सकना सभी कुछ दुष्कर है, अपूर्व है और केवल इतने के लिए ही अज्ञेय की देन कम उल्लेखनीय नहीं है।

साथ ही यह बात भी बहुत महत्त्वपूर्ण है कि अज्ञेय केवल अपनी ही अनुभूति को, और केवल उसी से ही सम्बद्ध व्यक्ति अथवा पक्ष को, अभिव्यक्त करने मे सफल हो पाते है। उनकी सहानुभूतियाँ व्यापक नहीं, बल्कि शायद यह कहना भी अधिक अनुपयुक्त न होगा कि सहानुभूति उनमे है ही नहीं। उनका दृष्टिकोण बहुत-कुछ ऐसे कवि का-सा है जो केवल अपनी सीमित भावानुभूति को ही बड़ी सूक्ष्मता और गहराई से देख सके। जीवन की विविधता को, अपनी अनुभूति के क्षेत्र से बाहर के व्यक्तियों के मन को, सूक्ष्मता और कलाकार के सहज लचीलेपन से ग्रहण करने और अभिव्यक्त करने की क्षमता अज्ञेय में नहीं के बराबर है। इस बात का प्रमाण 'नदी के द्वीप' में भी मौजूद है। एक प्रकार से सारा उपन्यास गद्य मे लिखे हुए एक लम्बे प्रेम-काव्य जैसा लगता है, और उसके केवल वे ही अश सबसे अधिक मार्मिक, सूक्ष्म और सुन्दर हैं जो भुवन और रेखा के प्रेम से सम्बद्ध हैं। बाकी अंश बड़े ऊपरी और फीके लगते है, यद्यपि यह भी सही है कि बाक़ी अंश हैं भी बहुत ही कम। किन्तु जितने भी हैं वे मूल भाववस्तु की तुलना में अत्यधिक प्राणहीन और घटिया लगते हैं, जो किसी समर्थ कलाकार के लिए, विशेषकर एक उपन्यासकार के लिए, गौरव की बात नहीं कही जा सकती।

'नदी के द्वीप' में कुल मिलाकर पाँच ही पात्र हैं—रेखा, भुवन, गौरा, चन्द्रमाधव और हेमेन्द्र। अज्ञेय के कलाकार व्यक्तित्व पर इस बात से नवीन प्रकाश पड़ता है कि इन पाँचों में से भी रेखा और भुवन को छोड़कर बाकी सभी निष्प्राण से ही हैं। वास्तव में 'नदी के द्वीप' की सबसे महत्त्वपूर्ण सृष्टि रेखा का अद्भुत व्यक्तित्व है। हिन्दी कथा-साहित्य में ऐसी नारी दूसरी नहीं। वह हमारे आज के समाज के अमानवीय नीति-विधान के विरुद्ध मौन किन्तु उग्र से उग्र विद्रोह की मूर्ति है। उसका विद्रोह किसी शोर गुल अथवा किसी सामाजिक कार्य में, अथवा किसी भी प्रकार की क्रिया में, नहीं प्रकट होता। वह मुखर आवेग के स्तर पर भाव-जगत के स्तर पर ही प्रकट होता है जो अपने-आप में एक नयी बात है। हिन्दी कथा-साहित्य में इस प्रकार की जितनी नारियाँ चित्रित हुई हैं, वे सब संन्यासिनी बन जाती हैं। रेखा अपने व्यक्तित्व की सम्पूर्णता की खोज में, अपने भाव-जगत की परिपूर्णता की खोज में, बड़े आत्मविश्वास के साथ बढ़ती चली जाती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इतनी संवेदनशील, सजग, गौरवमयी, और फिर भी आधुनिक, नारी का चित्र हिन्दी उपन्यास में दूसरा है ही नहीं। रेखा स्नेहकातर है, प्रणयदायिनी है, पर दीन नहीं। दीनता और क्षुद्रता उसमें कहीं भी नहीं है। उसके व्यक्तित्व में जो कुछ मुखर है वह है अमानवीय सामाजिक विधान के प्रति विद्रोह। इसी से 'नदी के द्वीप' में वही सबसे अधिक सजीव और अंतर्गतिशील पात्र है। सारी कथावस्तु में, कहीं भी कोई प्रखरता, सूक्ष्मता और भाव-गहनता उत्पन्न होती है, तो वह रेखा के कारण ही। साथ ही रेखा का व्यक्तित्व केवल भाव-प्रवण ही नहीं है, उसमें बड़ी तीखी बौद्धिकता और आत्मसजगता भी है। आधुनिक नारी के व्यक्तित्व के इतने विविध पक्ष इतनी गहराई और सूक्ष्मता के साथ अपने आगे प्रत्यक्ष कर सकना और फिर उसे शब्दबद्ध कर सकना अपने-आप में एक बड़ी साहित्यिक उपलब्धि है। अज्ञेय ने सचमुच उसे बड़ी ही सूक्ष्मता और तन्मयता के साथ अंकित किया है। प्रीति के साथ सहज भाव से अपने शरीर का समर्पण करने वाली यह नारी पल के लिए भी अपनी गरिमा नहीं खोती, उसकी कान्ति म्लान नहीं होती। साथ ही भुवन के साथ प्रीति का यह अनुभव उसके व्यक्तित्व की तीखी, चुभने वाली, बेधने वाली नोकों को घिसकर स्निग्ध कर देता है, और उसके उल्का जैसे प्राणों का उत्ताप कुछ कम हो जाता है तथा जीवन अपने सही परिप्रेक्ष्य में उसे दीखने लगता है। प्रेम का मनुष्य के जीवन में यह योग, गहन निश्शंक आत्मदान में व्यक्तित्व को सन्तुलन प्रदान करने की यह क्षमता, 'नदी के द्वीप' में बड़े मनोहर ढंग से अभिव्यक्त हुई है। व्यक्ति के प्रणय का यह रूप भी इस ढंग से हिन्दी के अन्य और किसी उपन्यास में प्रस्तुत नहीं हुआ।

रेखा का व्यक्तित्व अपने-आप मे तो प्रखर प्रभावशाली है ही, साथ ही वह उपन्यास के अन्य चारों पात्रो के ऊपर भी छाया रहता है। बाकी सारे पात्र आलोकित अथवा बुझे हुए दीखते हैं तो रेखा के व्यक्तित्व के आलोक को प्राप्त करके अथवा खोकर। यह बात एक ओर जहाँ रेखा की अपूर्वता को उजागर करती है वही इससे उपन्यास की एक अन्य मूलभूत दुर्बलता भी प्रकट होती है। वह यह कि बाकी सारे चरित्र बड़े निष्क्रिय, फीके और प्राणहीन-से लगते हैं। उपन्यास का दूसरा मुख्य पात्र भुवन भी मूलत निष्क्रिय पात्र है। और वास्तव मे उसका चरित्र लेखक के अपने मन मे चाहे जितना प्रखर और तेजोमय हो, उपन्यास मे वह बहुत ही हलका और साधारण बन सका है। उसमे ऐसी कोई विलक्षणता नहीं दीखती कि उसे रेखा और गौरा जैसी दो नारियों से इतनी अधिक भक्ति और एकान्त प्रेम प्राप्त हो। किसी हद तक भुवन के प्रति रेखा का भाव अपेक्षाकृत अधिक युक्तिसगत और स्वाभाविक है। भुवन के व्यक्तित्व मे एक प्रकार की शालीनता, संवेदनशीलता और ईमानदारी दीखती है जो रेखा-जैसी नारी को स्वभावत आकर्षित करती है, क्योकि अभी तक वह जीवन से सदा कटुता ही पाती रही है, सहन ही करती रही है। अपने उस अनुभव की तुलना मे भुवन उसे नये ढग से प्रभावित करता है और वह उसमे अपने जीवन के समस्त अभावो की पूर्णता खोजने लगती है। इस दृष्टि से भुवन उसके व्यक्तित्व की गति को उभारने के लिए, उसके प्रस्फुटन और प्रतिफलन के लिए एक निमित्त बन जाता है। इस स्थिति मे एक आन्तरिक सगति निश्चय ही मौजूद है। इसीलिए रेखा का भुवन के प्रति प्यार और मोह अस्वाभाविक नही लगता क्योकि उसकी सगति और सार्थकता रेखा के व्यक्तित्व से आती है।

भुवन का अपना व्यक्तित्व वास्तव मे इतना परिपुष्ट और सक्षम नही है जितना मानकर लेखक चलता है। इसलिए वह बहुत ही अतिरजित और आदर्शीकृत लगता है। उसमे एक प्रकार से स्वय लेखक का आत्म-प्रक्षेपण है। भुवन को जैसे लेखक स्वय जानता है या उसकी सक्षमता मे जैसे स्वय उसे विश्वास है वैसे ही पाठक को भी होगा, यह भ्रम ही शायद उसे भुवन को अपनी सम्पूर्ण सहज मानवता मे साकार नहीं करने देता। वास्तव में भुवन के चरित्र की परिकल्पना में कहीं विरोध है, असगति है। ऐसा लगता है कि दो अलग-अलग ऐसे व्यक्ति मिला दिये गये हों जो किसी गहरे आन्तरिक क्षण मे भी एक नही होते। भुवन जैसी सवेदनशीलता प्रकट करता है वह उसके जीवन मे कहाँ से आयी होगी, यह प्रश्न मन मे उभरता है, और कुछ देर बाद ऐसा लगता है कि उसका सारा आत्म-विश्लेषण, उसकी सारी संवेदनशील, सूक्ष्म भावग्राहिता आरोपित है, उसके व्यक्तित्व से निष्कृत नहीं। वैज्ञानिक डॉक्टर

भुवन के साथ इस तीव्र संवेदना वाले व्यक्तित्व का कोई मेल कहीं होता नहीं लगता। नौकुछिया और तुलियन में जो भुवन है वह बाकी उपन्यास के भुवन से मूलतः भिन्न जान पड़ता है, जैसे दो भिन्न व्यक्ति हों। इसीलिए जहाँ रेखा के लिए सारी घटनाएँ उसके जीवन मे, उसके व्यक्तित्व मे उमड़ती हुई जान पडती है, वहाँ भुवन के लिए ऐसा लगता है कि मानो नौकुछिया और तुलियन के क्षण अकस्मात् उसके जीवन मे आ गये हों। जैसे अचानक ही किसी अपरिचित स्थान के किसी होटल मे दो व्यक्ति मिले हो और उस एकान्त क्षण में आत्मीय हो उठे हों। यह अनुभूति उसके लिए इतनी अप्रत्याशित और आकस्मिक है कि उसे गहन नहीं, हतबुद्धि बनाती है। इसीलिए इतनी अधिक आत्मीयता के वे क्षण उसके बाकी जीवन से सर्वथा असपृक्त हैं। क्योकि उस क्षण के अतिरिक्त बाकी जीवन में भुवन बहुत ही साधारण है बल्कि वह कोई विशेष प्रभाव भी मन पर नही छोडता और इसी कारण उसके प्रति गौरा की भक्ति और भी अस्वाभाविक लगती है। बल्कि उस भक्ति के परिप्रेक्ष्य मे लगता है कि भुवन को तो लेखक जबरदस्ती महान मानकर ही चलता है, इतना महान कि जो भी व्यक्ति, स्त्री-पुरुष उसके सम्पर्क मे आयेगा, वह उसकी असाधारण प्रतिभा से अभिभूत हो रहेगा। अज्ञेय-जैसे आत्मकेन्द्रीय कलाकार के लिए जहाँ यह आत्मप्रक्षेपण अत्यन्त स्वाभाविक है, वल्कि लगभग अनिवार्य है, वहाँ वही उनकी कला का सबसे बड़ा दोष भी है। शेखर में यह दोष इस-लिए कम दिखायी पडता है, क्योकि उसके व्यक्तित्व को बहुत से अलग-अलग पक्षों, परिस्थितियो और परिवेशो मे देखने का अवकाश उस उपन्यास में लेखक ने प्रस्तुत किया है। 'नदी के द्वीप' का भुवन एक प्रकार से शेखर ही है, जिसने अपना नाम बदल लिया है; किन्तु जो भुवन का पहला नाम नही जानता—और लेखक इस बात पर आग्रह करता है कि कोई उसके पहले नाम को न जाने—उसे भुवन का चरित्र स्वीकार नही होगा, अनावश्यक रूप में अतिरंजित और इच्छित लगेगा।

ऊपर यह कहा गया है कि भुवन के प्रति गौरा की लगभग शरच्चन्द्रीय भक्ति का कोई कारण समझ मे नही आता क्योकि भुवन के व्यक्तित्व में ऐसा कही कुछ नही दिखाया गया है जो साधारणतः और साधारण परिस्थितियो मे किसी नारी को इस भाँति अभिभूत करे। यह बात भी वास्तव में भुवन के अपने व्यक्तित्व की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण है, क्योकि गौरा स्वयं भी सर्वथा निरर्थक और निर्जीव पात्र है। हो सकता है लेखक ने उसे रेखा की तुलना मे भिन्न दिखाने के लिए प्रस्तुत किया हो, यद्यपि भुवन के जीवन मे भी जो भाग वह लेती है उसे देखते हुए यह बात भी बहुत संगत नही लगती। किन्तु उपन्यास मे उसे लाने का जो भी उद्देश्य लेखक का रहा हो, इतना स्पष्ट है

कि वह लगभग आकारहीन पात्र है। उसका व्यक्तित्व एक ही आयाम में, एकदम सीधी रेखा मे चलता चला जाता है। जितना ही लेखक उसे भावप्रवण, निष्ठावान और तेजोमय दिखाने की चेष्टा करता है, उसका व्यक्तित्व उतना ही अधिक रंगहीन दीखता है। उसकी भाव-प्रवणता उसके व्यक्तित्व से प्रस्फुटित नही, लेखक द्वारा आरोपित या वर्णित भर है। भुवन के प्रति उसकी भक्ति का, लगभग पूजा-जैसी भावना का, भी कोई केन्द्र उसके व्यक्तित्व मे नही दीखता और भुवन का उससे प्रेम और अन्त मे विवाह-प्रस्ताव तो बडा ही 'ऐण्टी-क्लाइमेक्स' जैसा लगता है। अज्ञेय की ही शब्दावली मे कहे तो, इस प्रसंग में तथ्यात्मकता चाहे जितनी हो, कला का सत्य तिलमात्र भी नही है। वास्तव मे इस उपन्यास के गौरा और चन्द्रमाधव अज्ञेय की रचनात्मक प्रतिभा के गौरव चिह्न नही हैं। जहाँ चन्द्रमाधव को लेखक ने पूर्णत शास्त्रीय खल-नायक बनाने का यत्न किया है, वही गौरा के लिए यथासम्भव सभी सद्गुण, संस्कृत रीतिग्रन्थो मे वर्णित नायिका-सुलभ विशेषताएँ, दिखाने की भी कोशिश की है। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि अज्ञेय-जैसे सूक्ष्मद्रष्टा कलाकार को भी यह बात नही सूझती कि जीवित इन्सान मे समस्त सद्गुणों और हर प्रकार की सुन्दरता का आरोप उसे भौंडा और असुन्दर ही बनाता है। यही कारण है कि गौरा का कोई प्रभाव ही मन पर नहीं पडता। रेखा की तुलना मे तो वह बच्ची भी नही, बेहद बचकानी लगती है। यह बात भुवन के व्यक्तित्व की साधारणता के अनुकूल चाहे भले ही हो कि अन्त में वह गौरा से ही विवाह का प्रस्ताव करता है, किन्तु इस बात से मन को धक्का लगता है कि रेखा मे प्रेम पाने वाला व्यक्ति कैसे इस स्तर पर उतरकर आया। कुल मिलाकर गौरा का चित्र प्राणहीन कठपुतली का चित्र है।

किन्तु 'नदी के द्वीप' की सबसे बड़ी असफलता है चन्द्रमाधव। उसे अज्ञेय ने दुष्टता और नीचता की प्रतिमूर्ति बनाया है। 'नदी के द्वीप' को पढ़ते-पढ़ते चन्द्रमाधव को लेकर 'ऑथेलो' के इयागो का स्मरण होता है—किसी भी अर्थ मे इयागो की अद्भुत जीवन्तता, जटिलता और प्राणवत्ता के सन्दर्भ में नही, चन्द्रमाधव की सर्वथा अहेतुक दुष्टता के कारण। चन्द्रमाधव इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि अपने सीमित व्यक्तित्व और उसकी अनुभूति के बाहर अज्ञेय की सहानुभूति और गति दुर्बल और अवास्तव ही नहीं, नगण्य और मिथ्या है। अज्ञेय जिस प्रकार के अथवा जिन व्यक्तियो मे घृणा करते हैं, उन्हें भी कलाकार की दृष्टि से समझकर सजीव रूप मे अंकित कर सकते हैं, यह क्षमता उनमे है ही नही। चन्द्रमाधव मे उन्होंने महत्त्वाकांक्षा का ढोंग, रुचि-हीनता, कामुकता, ओछापन, वैमनस्य और द्वेष आदि, सभी विशेषताएँ एक साथ दिखायी हैं; और अन्त मे अपना चरम रोष प्रकट करने के लिए उसे

कम्युनिस्ट भी बना दिया है । प्रश्न यह नहीं है कि कम्युनिस्ट ऐसे होते हैं या नही होते । प्रश्न यह है, सर्जनात्मक साहित्य में क्या इन्सान ऐसे एक रंग मे काले आँके जा सकते हैं । ये चाहे कम्युनिस्ट हों चाहे कोई और, पर अज्ञेय के कलाकार व्यक्तित्व का यह एक ऐसा स्थल है जहाँ आकर उनकी सूक्ष्म दृष्टि अपनी ज्योति खो बैठती है । कुछ ऐसा जान पड़ता है कि कम्युनिस्टों के प्रति अपना रोष प्रकट करने के लिए ही उन्होंने इस पात्र की इस भाँति कल्पना की है । पूर्वाग्रह की ऐसी प्रबलता हर कलाकार के लिए घातक होती है, चाहे वह कलाकार कम्युनिस्ट हो या कम्युनिस्ट-विरोधी । जीवन को सफेद और काले मे बाँटकर देखने की दृष्टि और वैसा सैद्धान्तिक आग्रह ही बहुत-से कम्युनिस्ट या 'प्रगतिवादी' लेखकों को जीवन से, साहित्य की सार्थकता और सक्षमता से दूर ले जाता रहा है । यह मानने का कोई कारण नही है कि वह दृष्टि कम्युनिस्ट-विरोधी होने के कारण ही अज्ञेय को बड़ा कलाकार बना देगी ।

इसके अतिरिक्त एक और भी दुर्बलता चन्द्रमाधव के चरित्र की परिकल्पना मे दिखायी पड़ती है । एक प्रकार से उपन्यास की मूल कथावस्तु के साथ उसका सम्बन्ध बहुत आत्यन्तिक नही है । विमदृशता के रूप में भी उसकी उपस्थिति इस प्रकार से अनिवार्य नही जान पड़ती, बल्कि यदि लेखक ने चन्द्रमाधव की बजाय कुछ हल्के रंगों के किन्तु अधिक जीवन्त व्यक्ति को अंकित किया होता, तो यह उद्देश्य सम्भवतः अधिक कलात्मक सौन्दर्य के साथ पूरा होता । उसको उपन्यास मे लाकर अज्ञेय ने अपने कलाबोध की एक बड़ी भारी अक्षमता को प्रकट किया है, जो सम्भवतः उनके व्यक्तित्व की भी सबसे बड़ी अक्षमता है ।

वास्तव मे अज्ञेय के समस्त साहित्य मे उनके व्यक्तित्व की ही मूल दुर्बलता और संकीर्णता बार-बार उभर आती है । जहाँ तक वह अपने सीमित जीवन-अनुभव पर बड़ी सूक्ष्म दृष्टि लगाये बैठे रहते हैं, वहाँ तक एक बड़ी तीखी भावानुभूति को चित्रित करने मे उन्हे अपूर्व सफलता मिलती है । किन्तु व्यापक मानवीय सहानुभूति के अभाव मे, उस अहं के संकुचित वृत्त से बाहर दृष्टि डालते ही उनका कलाबोध शिथिल पड़ने लगता है, क्योकि मूलतः वह अनुभव-प्रसूत न होकर बड़े स्थूल अर्थ मे काल्पनिक हो जाता है । व्यक्तिवादी और अहंवादी कलाकारों ने सदा इस विषम वृत्त मे चक्कर काटा है । अधिक सक्षम और प्राणवान कलाकार आत्मवादी होकर भी अपने व्यक्तित्व मे ऐसी ओजस्विता, ऐसी सहज दृष्टि, उत्पन्न कर लेते हैं कि अपने से बाहर का जीवन यदि अनुभव-से-नहीं तो कम-से-कम सहानुभूति द्वारा उन्हें सुबोध हो जाता है; और उनके साहित्य की मूल भाववस्तु चाहे उन तक ही सीमित रहे, किन्तु पृष्ठभूमि के रूप में जब वे बाह्य जीवन का चित्रण करते हैं तो वह इतना अयथार्थ और प्राणहीन नही होता । अज्ञेय मे न वह ओजस्विता है और न वह

सहानुभूति। न केवल उनका व्यक्तित्व—कलाकार व्यक्तित्व—बहुत सीमित है, बल्कि उनमें अपने से बाहर झाँकने, देखने और उससे अनुभवसिक्त होने की सामर्थ्य ही नहीं जान पड़ती। फलस्वरूप वह अधिकाधिक अन्तर्मुखी, आत्मकेन्द्रित होते जाते हैं और इस भाँति उनके व्यक्तित्व के रहे-सहे द्वार भी अवरुद्ध होते जान पड़ते हैं। भावना की प्राणहीनता और उसके फलस्वरूप काव्य में एक ही अनुभूति को नये-नये शब्द-जाल द्वारा अभिव्यक्त करने की प्रवृत्ति, पुनरावृत्ति, अज्ञेय की कविताओं में और भी स्पष्ट प्रकट होती है। इस दृष्टि से 'नदी के द्वीप'—कुल मिलाकर 'शेखर : एक जीवनी' से आगे का चरण नहीं है—न तो मानव-चरित्रों की परिकल्पना में और न समग्र रूप में कलात्मक समृद्धि में।

वैसे शिल्प की दृष्टि से 'नदी के द्वीप' में बहुत नवीनता भी है और प्रौढ़ता भी। लेखक ने बारी-बारी से चारों प्रमुख पात्रों को केन्द्र बनाकर, उनके व्यक्तित्व के दृष्टिकोण से घटनाओं को, विचारों और अनुभव के परस्पर आदान-प्रदान को, देखा है और चित्रित किया है। यह बात एक नया ही आयाम समूची कथा की गति को प्रदान करती है। भावना की सूक्ष्म आन्तरिक तीव्रता को प्रकट करने के लिए अज्ञेय ने बीच-बीच में पत्रों का उपयोग किया है जो बड़ी गहरी आत्मीयता का प्रभाव मन पर पैदा करता है। जैसा पहले भी कहा गया है कि समूचा उपन्यास एक लम्बे प्रेम-काव्य जैसा है जिसमें शिथिलता यदि कहीं आती है तो वह व्यक्तिगत अनुभूति से बाहर के क्षेत्र में प्रवेश करने के कारण ही। लेखक की तीव्र भावप्रवणता ने उसकी भाषा को अद्भुत काव्यात्मक सघनता अथवा तरलता यथाप्रसंग, और स्थान-स्थान पर, प्रदान की है। हिन्दी का गद्य 'नदी के द्वीप' में सर्वथा ही नये सामर्थ्य के साथ प्रस्तुत हुआ है। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भावनाओं और विचारों को प्रखरता के साथ अभि-व्यक्त करने की दृष्टि से 'नदी के द्वीप' बहुत ही महत्त्वपूर्ण कृति है। उससे निस्सन्देह हिन्दी गद्य की नयी क्षमताओं के क्षितिज खुलते हैं। उपन्यास के रूप में आगे चलकर 'नदी के द्वीप' का जो भी महत्त्व रहे, समर्थ और सशक्त और सूक्ष्म गद्य की दृष्टि से उसका महत्त्व बहुत देर तक बहुत अधिक रहेगा, इसमें सन्देह नहीं।

'नदी के द्वीप' में स्थान-स्थान पर अंग्रेज़ी तथा बँगला कविताओं को मूल रूप में हिन्दी अक्षरों में रखने की बहुत आलोचना हुई थी। उन कविताओं को मूल रूप में रखना एक प्रकार से इसलिए भी अनुचित है कि वह अज्ञेय के कथा-शिल्प की अन्य विशेषताओं से मेल नहीं खाता। मूल रूप में कविता उद्धृत करना ऐसा प्रकृतिवादी शिल्प-साधन है जो अज्ञेय की भावनिष्ठा तथा आन्तरिक संगीत पर आधारित शैली के अनुरूप नहीं लगता। उन स्थलों पर

उन कविताओं के अधिक सूक्ष्म अनुवाद शायद अधिक उपयुक्त होते। दूसरे संस्करण में लेखक ने कविताओं के अर्थ फुटनोट में दिये हैं।

इन सब बातों के बाद भी 'नदी के द्वीप' निस्सन्देह पिछले दौर के महत्त्वपूर्ण उपन्यासों में गिना जायेगा। यह ठीक है कि स्थान-स्थान पर 'नदी के द्वीप' में कई प्रकार की दुर्बलताएँ प्रकट होती हैं, किन्तु अनुभूति की जिस प्रामाणिकता और अभिव्यक्ति के जिस संयम का प्रमाण भी अज्ञेय ने 'नदी के द्वीप' में प्रस्तुत किया है वैसा हिन्दी के अन्य किसी उपन्यास में नहीं दिखायी पड़ता। किसी भी सर्जनात्मक कृति की श्रेष्ठता के लिए उसके रचयिता में अन्य बातों के अतिरिक्त इन्ही दो गुणों की—अनुभूति की प्रामाणिकता और अभिव्यक्ति के सयम की ही—सबसे पहले और सबसे अधिक आवश्यकता होती है। हिन्दी का बहुत-सा सर्जनात्मक साहित्य इन दो गुणों के अभाव के कारण ही इतना महत्त्वहीन है। इस दृष्टि से अज्ञेय का नाम सदा हिन्दी के मूर्धन्य कलाकारों के साथ लिया जायेगा।

४ | संवेदनशील और संगीतात्मक : 'मैला आँचल'

यह स्वाभाविक ही था कि स्वाधीनता के बाद हिन्दी के बहुत-से उपन्यास-कारों ने प्रेमचन्द के बाद फिर से देहाती जीवन को लेकर उपन्यास लिखे। शायद यह अनिवार्य ही था कि शहरी जीवन की कुण्ठा और घुटन से उकताने पर नये साहित्यकार गाँवों के अपेक्षाकृत सहज और अकृत्रिम जीवन के प्रति झुकते, अथवा उसमें रस और सुन्दरता की खोज करते। क्योंकि चाहे जिन कारणों से सही, आज के शहरी जीवन को, विशेषकर मध्यवर्गीय शहरी जीवन को, एकरसता और आत्माभिमुखता ने चारों ओर से घेर लिया है। इस एकरसता तथा आत्माभिमुखता को आप चाहे जैसे तीक्ष्ण, सूक्ष्म और संवेदनशील मन से परखें, उनमें जीवन के कवित्व के लिए अधिक स्थान नहीं, ऐसा उन्मुक्त खुला नीला आसमान नहीं कि मन निर्बन्ध उड़ जाय और शिखरों की खोज कर सके। इसलिए यदि खुलेपन और सहज रस-स्रोत की खोज में लेखक देहात के जीवन की ओर मुड़े तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

किन्तु फणीश्वरनाथ रेणु का उपन्यास 'मैला आँचल' इसी खोज की एक कड़ी होकर भी देहाती जीवन पर लिखे गये सभी उपन्यासों से भिन्न है, और विशिष्ट भी। क्योंकि अन्य अधिकांश उपन्यासकार देहात की ओर मुड़कर भी जैसे उसे ऊपर से ही देखते रहे, या फिर देहाती जीवन की जड़ता अथवा बाहर से आरोपित संघर्षमयी परिवर्तनशीलता में उलझ गये। एक प्रकार से उन्होंने गाँव के जीवन को मूलतः शहरी दृष्टि से देखा और वे देहात की समस्याओं को शहर के चौखटे में रखकर ही काटते-छाँटते रहे। देहाती जीवन की आत्मा से उनका साक्षात्कार ही जैसे नहीं हुआ : न उसकी गहरी तिक्तता से, न उसके निर्झर-जैसे फूटते सरल काव्यमय सौन्दर्य से। इसी से इन अधिकांश तथाकथित ग्रामीण उपन्यासों में ज़िन्दगी की कोई धड़कन नहीं महसूस होती, देहात के जीवन की अपनी गति के आभास की तो बात ही दूर की है।

मैला आँचल (१९५४)—लेखक : फणीश्वरनाथ रेणु, प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०; पृष्ठ ४२६।

'मैला आँचल' की सबसे अद्भुत विशेषता यही है कि उसमें मिथिला के निरन्तर बदलते हुए आज के एक गाँव की आत्मा की गाथा है। और यह गाँव सर्वथा विशिष्ट होकर भी केवल मिथिला का ही नहीं, जैसे उत्तर भारत का प्रत्येक गाँव है, जो सदियों से सोते-सोते अब जागकर अँगड़ाई ले रहा है। भारतीय देहात के मर्म का इतना सरस और भावप्रवण प्रस्तुतीकरण हिन्दी में सम्भवतः पहले कभी नहीं हुआ। पिछले महायुद्ध और उसके बाद की घटनाओं ने, विशेषकर स्वाधीनता-प्राप्ति ने, हमारे देश को बहुत गहराई तक झकझोर दिया, उसमें ऐसी उथल-पुथल मचा दी कि जीवन के अनगिनती नये-नये पर्त उघड़कर सामने आ गये, और नित-नयी गति से निरन्तर आते जा रहे हैं। इस गति के कारण होने वाले सतही परिवर्तनों का चित्र हिन्दी की और भी कई रचनाओं में मिलता है; पर 'मैला आँचल' में उसके फलस्वरूप देहातों की आत्मा मे होने वाले आलोड़न और विक्षोभ की झाँकी है। मेरीगंज पुर्निया अथवा पूर्णिया जिले का एक छोटा-सा गाँव है जिसमें तिरहुत के प्राकृतिक सौन्दर्य के बीच, धान के लहलहाते खेतों, कमलों से भरे हुए सरोवरों-पोखरों और ताड के वनों के साथ कमला नदी के किनारे, उत्तरी भारत के अन्य सहस्रों ग्रामों की भाँति, जीवन अपनी परिचित गति से चलता रहता है। महायुद्ध और देशव्यापी स्वाधीनता आन्दोलन की लहरों ने यहाँ के जीवन मे कम्पन पैदा नहीं किया हो, यह बात नहीं। पर आधुनिक जीवन से मेरीगंज का पूरा और वास्तविक सम्पर्क तब होता है, जब वहाँ मलेरिया-सम्बन्धी अनुसन्धान के उद्देश्य से डॉक्टर प्रशान्त एक अस्पताल खोलने के लिए आता है। अचानक ही मानो उस गाँव के सामाजिक, राजनीतिक, मानसिक, आध्यात्मिक जीवन की अनगिनती सतहें खुल पड़ती हैं। लगता है, जैसे बहुत दिनों से रुद्ध प्रवाह एकाएक मार्ग पाकर हहराता हुआ दौड़ पड़ा हो। देहात की ऊपर से दीखने वाली स्थिरता और शान्ति, बल्कि जड़ता तथा निष्क्रियता, जैसे नष्ट हो जाती है। 'मैला आँचल' के लेखक ने इस विक्षुब्ध जिन्दगी के ही बहुत-से स्तर, बहुत-से पर्त, बहुत-से पहलू इस उपन्यास में प्रस्तुत किये हैं। और यही नहीं, ये तमाम स्तर और पहलू इस प्रकार कितने ही भिन्न-भिन्न दृष्टि-बिन्दुओं से दिखाये गये हैं कि जीवन एक साथ कई एक सिम्तों में हमारे सामने प्रस्तुत होता है, बहुत-कुछ चलचित्र की भाँति समग्र होकर भी और अलग-अलग भी, दूर से भी और समीप से भी।

ी कारण है कि यह कहना पर्याप्त अथवा महत्त्वपूर्ण नहीं है कि लेखक जीवन से परिचय बड़ा घनिष्ठ है। परिचय की इस घनिष्ठता से ेक महत्त्वपूर्ण है वह दृष्टिबिन्दु, जिसके कारण जीवन एक नये ा, खिचता और बदलता हुआ दीखता है। सारे मामाजिक

सम्बन्ध एक नये परिप्रेक्ष्य में दिखायी पड़ते हैं, टूटते, बनते, बिगड़ते, टूटते और फिर बनते। जीवन अपने मौलिक, सहज-प्रवाही रूप में यहाँ है। इसी से उसमें इतना रस है, इतना संगीत और कवित्व है, इतनी तीव्रता और इतना दर्द है। मठ पर नये महन्त को चादर मिलने का आयोजन, बिदापति नाच, होली का उत्सव और उस अवसर पर डॉक्टर प्रशान्त तथा कमली का परस्पर आत्मप्रकटीकरण, अपनी माँ को याद करते-करते डॉक्टर का आत्मविश्लेषण, सथालों का मेरीगंज के अन्य निवासियों से संघर्ष, बावनदास की मृत्यु आदि ऐसे अनगिनती स्थल हैं, जिनमें सौन्दर्यबोधमूलक संयम और अकृत्रिम सहज भावावेग का ऐसा उत्कृष्ट सम्मिश्रण है जो सदा मर्मस्पर्शी कला को जन्म देता है। और इन स्थलों के चित्रण में लेखक सरसता और शक्ति, कलात्मक अभिव्यक्ति और व्यापक सहानुभूति के नये मान उपस्थित करने में सफल हुआ है। वास्तव में 'मैला आँचल' की विशिष्टता इसमें नहीं है कि उसमें देहाती जीवन का बहुत गहरा अध्ययन है, अथवा सामाजिक समस्याओं और उनके निदान के दार्शनिक आधार उसमें मौजूद हैं, अथवा युग-युग-व्यापी जीवन-सत्यों का उद्घाटन लेखक कर सका है। उसकी विशिष्टता है उस अपूर्व आत्मीयता में, जिसके साथ लेखक ने गाँव के जीवन की समस्त कटुता और संगीत को, सरलता और विकृति को, स्वार्थपरता और सामाजिक एकसूत्रता को, अज्ञान और मौलिक नैतिक संस्कार को सँजोया है। इतनी तरल भावावेशपूर्ण उत्कटता से शायद ही किसी ने ग्रामीण जीवन को देखा हो—शरद और प्रेमचन्द ने भी नहीं, ताराशंकर बनर्जी ने भी नहीं। 'मैला आँचल' की यह भाव-तरलता हिन्दी के श्रेष्ठतम व्यक्तिप्रधान उपन्यासों से—'शेखर : एक जीवनी', 'नदी के द्वीप', 'परख', 'त्यागपत्र', 'नारी' आदि सभी से—तुलनीय है। देहाती जीवन को लेकर लिखे जाने वाले साहित्य को इस उपन्यास की यह सबसे बड़ी देन है। देहात के जीवन को रेणु ने कर्तव्यपालन की भावना से प्रेरित होकर नहीं देखा है। यह कहा जाता है कि मौजूदा युग भारतवर्ष में किसान-क्रान्ति का युग है, जिसमें क्रान्ति की मुख्य भूमिका किसान-वर्ग के हाथ में है। इस ज्ञान से लैस होकर बहुत-से नये प्रतिभावान (तथा प्रतिभाशून्य) हिन्दी लेखकों ने देहाती जीवन की ओर अपनी दृष्टि लगायी और उससे प्रेरणा ग्रहण करके लिखने का यत्न किया। दुर्भाग्यवश उनमें अधिकांश में कर्तव्यबोध अधिक और सौन्दर्य-बोध कम प्रकट हो सका। उनमें सैद्धान्तिक और विचारधाराजन्य पुष्टता और प्रामाणिकता चाहे जितनी हो, साहित्य-सृजन के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक अनुभव की उष्णता का लगभग अभाव है। बहुत बार तो इन लेखकों के निजी व्यक्तिगत अनुभव को भी आत्मीयताहीन शुष्क सिद्धान्तपरकता ने विकृत और नीरस कर दिया है।

की प्रगति का अस्त्र मानने वाले साहित्यकार के लिए यही सबसे बड़ा खतरा है कि वह ऐसे ही किसी नैतिक चौखटे को प्रगति का पर्यायवाची मान ले और उसमें ही जीवन्त इन्सानों को ठूँठ-ठाँसकर बिठाने का प्रयत्न करता रह जाय।

इस सिलसिले में 'मैला आँचल' की एक और विशेषता की ओर भी ध्यान दिया जा सकता है। वह है उपन्यास में राजनीति का समावेश। राजनीति और सर्जनशील साहित्य का सम्बन्ध आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र की बुनियादी समस्या हो गयी है। क्या राजनीति साहित्य में वर्जित है? राजनीति की समस्याओं को उठाने मात्र से ही क्या साहित्य प्रचारात्मक हो जाता है? क्या साहित्य का प्रमुख धर्म यही है कि वह किसी-न-किसी राजनीतिक आन्दोलन का समर्थक पक्षधर हो? ये सब ऐसे प्रश्न हैं, जिनसे आज साहित्य का पाठक तथा समीक्षक बच नहीं सकता। यहाँ एक बात तो निस्संकोच कही जा सकती है कि जो स्थान मध्ययुग के जीवन में धर्म को, धार्मिक विश्वासों और धार्मिक मतवादों को, प्राप्त था, लगभग वही आज राजनीति, राजनीतिक विश्वासों और आन्दोलनों को प्राप्त है। इसीलिए आज का सर्जनात्मक साहित्य राजनीति से बचकर चलने का दम्भ करे, तो वह या तो झूठा सिद्ध होगा अथवा घातक। किन्तु यह बात भी सही है कि मध्ययुगीन जीवन में धार्मिक विश्वास जिस प्रकार की नैतिक-चारित्रिक दृढ़ता, निष्ठा और आस्था व्यक्तित्व को, विशेषकर साहित्यिक व्यक्तित्व को, प्रदान करता था, वैसी निष्ठा आज के राजनीतिक मतवाद से प्राप्त नहीं हो पाती। कारण शायद इसका यही है कि धार्मिक विश्वास, मतवादी असहिष्णुता और कट्टरता से जुड़ा हुआ होने पर भी, मूलतः व्यक्ति की आत्मा का संस्कार कर पाता था और साहित्यकार को, तथा अन्य कलाकारों को भी, उससे एक ऐसी आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त होती थी, जिससे वह दूसरों के अन्तर को छूने और स्पन्दित करने में सफल होता था। दूसरी ओर आज के राजनीतिक विश्वासों का मौलिक सम्बन्ध समाज के बाहरी संगठन और व्यवस्था से है, आत्मा के संस्कार का प्रश्न गौण और केवल प्रारम्भिक रूप में ही उसमें निहित रहता है। परिणामतः यह आशंका रहती है कि राजनीतिक विश्वासों और मतवाद पर आधारित आज का साहित्य जीवन के ऊपरी खोल से ही उलझकर रह जाय। पिछले पन्द्रह-बीस वर्षों के अपने ही नहीं देश-विदेश के अन्य साहित्यों पर भी दृष्टि डालें तो इस बात की पुष्टि होगी। जीवन में राजनीतिक मतवाद का बढ़ता हुआ आग्रह अन्ततः बाह्य और रूपगत तत्वों की प्रधानता स्थापित करता है। साहित्य में उसके फलस्वरूप मानवीय सहानुभूति के ह्रास, आत्मीयता के अभाव और निष्ठाहीनता तथा आस्थाहीनता की प्रधानता मिलती है। राजनीति में इन्सान को मूलतः टुकड़ों में बाँटकर देखने पर ज़ोर होता है,

जबकि साहित्य का मूल स्वर मानव की मौलिक एकता ही है अथवा होना चाहिए। इसलिए आज के साहित्यिक कृतित्व में प्राण-प्रतिष्ठा के लिए यह सर्वथा आवश्यक है कि साहित्यकार राजनीति को जीवन के परिपार्श्व के रूप में, बाह्य व्यवस्था के रूप में, देख सके। राजनीतिक धारणाएँ, मान्यताएँ, विचारधाराएँ, पार्टियाँ, संगठन या तो समाज-व्यवस्था के ऐसे आधुनिकतम रूप हैं जिनमें होकर जीवित व्यक्तित्व का प्रवाह अनिवार्य है, अथवा वे आज के जीवन के नियामक अनुभव का एक अंश-भर हैं, सम्पूर्ण जीवन नहीं। यही नही कि सम्पूर्ण समाज को आर्थिक-राजनीतिक विश्वासों और वर्गों मे सीमित करके पूरी तरह नही देखा-समझा जा सकता, बल्कि किसी एक व्यक्ति को भी केवल राजनीतिक मान्यताओं मे घेर रखना करीब-क़रीब असम्भव है। सतत प्रवहमान जीवन तमाम राजनीतिक विचारधाराओं और व्यवस्थाओं को चीरता हुआ निकल जाता है। वह निश्चय ही अपेक्षाकृत अस्थायी राजनीतिक विश्वासो से कही वृहत्तर है।

राजनीतिक विचारधाराओ के प्रभाव में लिखे गये हिन्दी के उपन्यासों में प्रायः जीवन की विविधता और व्यापक संवेदनशीलता के स्थान पर केवल बौद्धिक शब्दजाल को प्रश्रय मिलता रहा है। उसमें बहुरूपी, बल्कि परस्पर-विरोधी, जीवन्त तत्त्वो से निर्मित सक्रिय इन्सानो के स्थान पर विकलांग और कठपुतलियों जैसे चरित्रों की भरमार रही है। 'मैला आंचल' मे इस परिस्थिति को काटकर सजीव इन्सानो की सृष्टि का शुभ और बहुत-कुछ सफल प्रयत्न है। 'मैला आंचल' मे राजनीति जीवन की पृष्ठभूमि के रूप में ही है जो पात्रों के व्यक्तित्व को और भी उभारती है, चारो ओर से घेरकर उनका गला नही घोंटती। इस उपन्यास मे विभिन्न राजनीतिक मतवाद, पार्टियाँ, संगठन, समस्याएँ यथास्थान मौजूद हैं, और वे विभिन्न पात्रो के व्यक्तित्वों के नये-नये पक्षों को उजागर करती हैं, उन्हे एक ठोस भौतिक आधार प्रदान करती हैं, उनके सुख-दुख और आशाओं-विश्वासो को, उनकी मान्यताओं और मर्यादाओं को, वास्तविकता का एक नया आयाम प्रदान करती हैं। यह भी कहना अतिशयोक्ति नही होगी कि राजनीतिक मतवादों और वर्गगत संघर्ष के प्रस्तुतीकरण में लेखक ने बडे भारी आत्मसंयम से काम लिया है, और यद्यपि उसकी अपनी निजी सहानुभूति की दिशा करीब-करीब स्पष्ट है, तो भी उसने किसी भी विचारधारा को, अथवा अपने किसी संस्थागत पक्षपात को अपने जीवनबोध और सौन्दर्यबोध पर हावी नही होने दिया है। आज इस बात से शायद सभी सहमत हों कि हिन्दी के कथा-साहित्य के तत्कालीन दौर में यह बहुत बड़ी सफलता थी।

वर्गवादी कट्टरता से बच सकने के कारण ही 'मैला आंचल' का लेखक

मिथिला के इस अंचल की लोक-कला के, विशेषकर लोक-संगीत, गीत और नृत्य के, वैभव को भी तन्मयता से प्रस्तुत कर सका है। भारतवर्ष की अतुलनीय लोक-संस्कृति की अपूर्व सम्पत्ति का इस पुस्तक में सर्वथा नवीन उपयोग है। वह कभी न थमने वाले, किन्तु सर्वथा संवेदनशील, पार्श्व-संगीत की भाँति है, जिसमे जीवन के रंगमंच पर चलने वाले नाटक की हर बदलती भावदशा के अनुरूप नयी लय है, नया स्वर-विन्यास है, नये बोल हैं, नयी नृत्य-भंगिमाएँ हैं। अन्त तक लेखक ने अपने इस विवेक को बनाये रखा है कि जिनके जीवन में संगीत और लय है वे सुख मे विभोर होने पर भी गाते और नाचते हैं और दुःख से आक्रान्त होने पर भी। लोक-जीवन मे संगीत और नृत्य को एक नयी प्रतिष्ठा इस उपन्यास ने प्रदान की है जो निश्चय ही केवल आंचलिक नही है।

मूल भाववस्तु के साथ लेखक के सम्बन्ध की ये कुछेक विशेषताएँ 'मैला आँचल' मे बेजोड थी। निस्सन्देह उसने हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र मे न केवल नयी मान्यताओं की प्रतिष्ठा की, बल्कि नयी दिशाएँ खोल दी, नयी सम्भावनाओ के क्षेत्र उजागर कर दिये। बहुत दिनों से हिन्दी उपन्यास एक घेरे के अथवा एक से अधिक घेरो के भीतर चक्कर काटते जान पड़ते थे। 'मैला आँचल' ने बीच में पड़े हुए पत्थर हटाकर और झाड-झंखाडो को तोडकर एक नया मार्ग प्रशस्त किया।

इसलिए यह लगभग अनिवार्य ही है कि उस मार्ग में अभी भी न केवल अनेक ऊँचे-नीचे प्रस्तरखण्ड पडे मिलें, बल्कि वह स्वयं स्थान-स्थान पर इतना भटक गया हो कि बहुत बार सारा श्रम व्यर्थ और सर्वथा अनावश्यक जान पड़े। इसलिए मौलिक भाववस्तु के प्रति लेखक के दृष्टिकोण से हटकर यदि हम समूची कृति पर विचार करें, तो लगता है कि कुल मिलाकर उसमें नये निर्झर की निर्मल स्वच्छता और चमक तो है, पर जीवन की गहराई नहीं है। 'मैला आँचल' का एक भी पात्र ऐसा नही है, जिसे 'क्लासिक' कहा जा सके, जिसमे होरी, धनिया, शेखर, मृणाल, राजा रामनाथ, ताई की भाँति भारतीय जीवन के किसी-न-किसी अंश का प्रतीक बनने की क्षमता हो। बावनदास, बालदेव और लक्ष्मी में ही कभी-कभी हल्की-सी ऐसी झलक दिखायी पड़ती है। पर वह भी इतनी क्षीण, दुर्बल और क्षणिक है कि उससे कोई अन्तर नहीं पडता। दूसरी ओर प्रशान्त, कमली, तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद आदि पात्रों के साथ लेखक का तादात्म्य इतना अधिक है कि उन्हें वह अन्त तक ठीक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत नही कर पाता। वे बहुत-सी भली-बुरी सम्भावनाओं के पुंज-भर हैं, सक्षम प्राणवान चरित्र नहीं। ऐसा निरन्तर लगता है कि अपनी स्वस्थ सहानुभूतियों के बावजूद लेखक अभी अपनी आस्था के आधार खोज रहा है। जितना जीवन की गति की तीव्रता का आभास 'मैला आँचल' में

होता है, उतना उसकी गम्भीरता और स्थिरता का नहीं। नये जीवन के दबाव ने मेरीगज गाँव में उथल-पुथल मचा दी, जीवन के पुराने मान चरमरा उठे, ढहने लगे, नये सामाजिक तत्त्व ऊपर उभरे, नयी मान्यताएँ बनती-सी जान पड़ी। पर फिर ? लगता है लेखक को भी आगे का रास्ता नहीं मालूम। क्या यह वही रास्ता है जो प्रशान्त के लिए ममता और कमली ने तय कर दिया है—मेरीगंज छोड़कर पटना जाने का ? तो फिर मेरीगंज ? इसका कोई उत्तर नही है। यह ठीक है कि उसका उत्तर देने की अनिवार्य जिम्मेदारी लेखक पर नही है। यहाँ तक का हाल उसने जैसा बना, वैसा कह सुनाया। साथ ही यह तो सर्वथा अनावश्यक था, बल्कि घातक होता, कि लेखक कोई उत्तर गढ़कर सामने रखता। किन्तु इससे इस बात की सच्चाई में कोई अन्तर नही पड़ता कि उसकी दृष्टि में जितनी सरसता और आत्मीयता है, जितना कवित्व है, उतनी प्रौढता और परिपक्वता नहीं। इसी से अन्त तक पहुँचते-पहुँचते मेरीगज की घटनाएँ जैसे लेखक के नियन्त्रण से बाहर चली जाती हैं और लगभग स्वतन्त्र-सी इधर-उधर टकराती रहती हैं। फलस्वरूप विस्तार बढ़ जाता है और शिथिलता आने लगती है।

कुल मिलाकर जो बात भाववस्तु के बारे में कही गयी है वही इस उपन्यास के शिल्प के बारे मे भी सही है। उसके शिल्प में नवीनता है। विभिन्न भावों, मनोदशाओ और घटनाओ को तथा बहुत-से व्यक्तियों और समूहो के कार्यों और भाववेगो को एक नये ढंग से बार-बार 'टेलेस्कोप' करने की पद्धति से एक साथ ही गति का और स्थिरता का, दूरी का और समीपता का, प्रभाव उत्पन्न होता है। पूरा उपन्यास एक फ़िल्म-जैसा लगता है जिसके पार्श्व-संगीत में मादल और ढोल और लोक-गीतों के मादक स्वर निरन्तर सुनायी पड़ते रहते है। किन्तु विलक्षणता के बावजूद, शिल्प में प्रयोगात्मकता अधिक है और कोई प्रभाव टिकने नही पाता। एक तसवीर बनती है और मिट जाती है, फिर दूसरी बनती है और वह भी मिट जाती है। एक सीमा के बाद यह प्रक्रिया भाव-प्रक्षेपण मे बहुत सहायक सिद्ध नहीं होती। लगता है मानो समूचा उपन्यास अनगिनती रेखाचित्रों का पुंज हो, जो एक के बाद एक आते है और चले जाते है। कथा-प्रवाह में सूत्र का अभाव लगता है। ऐसा लगता है कि विभिन्न भाव एक बड़े भारी वाद्यवृन्द के अलग-अलग वाद्य हों, जिनकी स्वर-संगति अपनी-अपनी जगह ठीक होते हुए भी उनके सम्मिलित प्रवाह मे समन्वय नही है। लगता है, कुछ विवादी स्वर लग रहे हो, अथवा कुछ संवादी स्वर ध्वनियों की विविधता में कहीं खो गये हों। शायद यही कारण है कि बहुत-से पाठकों को इसे पढ़ने मे रोचकता का अभाव लगा। बहुतों ने शिकायत की कि उसे अन्त तक पढ़ सकना कष्टसाध्य था, बीच ही

में मन ऊब जाता था। साधारण पाठक की यह प्रतिक्रिया लेखक के लिए चेतावनी है कि शिल्प-विधान में नवीनता ही सब-कुछ नहीं है। इस बात का विवेक भी बहुत ही आवश्यक है कि नवीनता किस सीमा के बाद प्रेषणीयता को नष्ट करने लगती है।

शिल्प-सम्बन्धी चर्चा के सिलसिले में इस उपन्यास की भाषा और आंचलिकता पर भी थोड़ा-सा विचार आवश्यक है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि लेखक वातावरण की विशिष्टता के निर्माण में सफल हुआ है। 'मैला आँचल' के मेरीगंज की आत्मा की कथा समूचे उत्तर भारत के गाँवों की प्राण-गाथा होते हुए भी, बाह्य रूप की दृष्टि से मेरीगंज चाहे कोई गाँव नहीं हो सकता, वह पूर्णतः एक विशेष गाँव ही है जिसका प्राकृतिक परिवेश जितना भिन्न है, उसके निवासियों का आचार-व्यवहार और भाषा भी उतनी ही विशिष्ट है। यह अपने-आप में एक महत्त्वपूर्ण सफलता है, क्योंकि यह स्थानीय उपन्यास की व्यापक सम्प्रेषणीयता में कहीं बाधा डालती है, ऐसा नहीं लगता।

भाषा-सम्बन्धी स्थानीय प्रयोगों को लेकर अवश्य एक आशंका है कि लेखक उसी में उलझकर अपने क्षेत्र को सीमित न कर ले। इस सम्बन्ध में शायद एक बात कही जा सकती है कि सीमित मात्रा में शब्दों के वे स्थानीय रूप तो स्वीकृत हो सकते हैं जो उनके शुद्ध रूप के अपेक्षाकृत इतने समीप हैं कि शुद्ध रूप पाठक को तुरन्त सूझ जाय, जैसे 'गन्ही महातमा', 'जवाहिरलाल', 'डागडर' इत्यादि। किन्तु जो रूप इतने स्थानीय हों कि उनको समझने के लिए पीछे दी हुई तालिका देखने की आवश्यकता पड़े, उनका प्रयोग यदि न हो तो शायद अधिक उपयोगी होगा। वैसे जो लोग देहात के जीवन से एकदम अपरिचित हैं उन्हें विभिन्न क्रियाओं और वस्तुओं के नामों के ही ऐसे अनगिनती शब्दों का सामना करना पड़ेगा जो उनके लिए सर्वथा अपरिचित हैं पर जिन्हें निकाला नहीं जा सकता। वास्तव में इस प्रश्न पर भी कोई नियम बनाना असम्भव है। लेखक का कलात्मक बोध ही उसकी कसौटी हो सकता है।

'मैला आँचल' हिन्दी उपन्यास जगत् में एक धूमकेतु की भाँति प्रकट हुआ था, इसमें तो कोई सन्देह नहीं। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि उसके बारे में पहली प्रतिक्रिया बड़ी प्रबल हुई और अधिकांश पाठक और समीक्षक उसकी नवीनता के ज्वार में बह गये। इसलिए यह भी अनिवार्य था कि उसकी तुलना प्रेमचन्द और 'गोदान' से की गयी। इसी के फलस्वरूप शायद अब दूसरी प्रतिक्रिया यह है कि वास्तव में उपन्यास में इतना अपूर्व कुछ भी नहीं है। शायद ये दोनों ही धारणाएँ एकांगी और गलत हैं। मूलतः यह

'मैला आँचल' के लेखक के साथ भी अन्याय है और प्रेमचन्द के साथ भी। 'गोदान' और 'मैला आँचल' में साम्य केवल ऊपरी है। दोनों उपन्यासों का न केवल युग भिन्न है बल्कि दोनों की मूल भाववस्तु भी भिन्न है। और दोनों के लेखकों के व्यक्तित्व की प्रौढ़ता में तो धरती-आसमान का अन्तर है। जैसा ऊपर कहा ही गया है, 'मैला आँचल' में युगजन्य दबाव के फलस्वरूप तीव्रता से बदलते हुए ग्राम की गति का चित्र अवश्य है, पर उसमें 'गोदान' जैसी वह 'क्लासिक' तसवीर नहीं है, जो युगों तक मिटती नहीं। 'मैला आँचल' के पात्र एक युग की उपज हैं, जो जितनी तेज़ी से आते हैं उतनी ही तेज़ी से गतिचक्र में विलीन भी हो जाते है। 'गोदान' के होरी और धनिया अजन्ता के भित्ति-चित्रों की भाँति हैं, जो सैंकड़ों वर्ष बाद भी उतने ही प्राणवान और जीवन्त बने हुए हैं। क्योंकि उनकी प्रेरणा का स्रोत क्षणिक नहीं, मूलभूत और युग-युगव्यापी है।

वास्तव में 'मैला आँचल' का महत्त्व नये दिशा-दर्शन में था, हिन्दी के इस या उस लेखक से श्रेष्ठतर होने में नहीं। उसकी विशिष्टता इस बात में थी कि वह राजनीतिक फ़ार्मूलों और सिद्धान्तों की मारामारी तथा खून-खच्चर से हटाकर फिर से हमें ग्रामवासिनी भारतमाता के मैले, धूल-भरे, श्यामल आँचल तले, आँसू से भीगी हुई धरती पर लहलहाते हुए प्यार के पौधों की ओर खींच ले गया, जहाँ आषाढ़ के बादल मादल बजाते हैं, बिजली नाचती है और पुरवैया के झोकों के साथ खेतों में जिन्दगी झूम उठती है।

५ | साधारण की प्रतिष्ठा : 'यह पथ वन्धु था'

पिछले अध्यायों में आधुनिक हिन्दी उपन्यास में व्यक्ति और परिवेश के सधान, व्यक्तित्व की आन्तरिक सार्थकता की खोज और बाह्य जीवन के काव्यात्मक-संगीतात्मक प्रस्तुतीकरण का अन्वेषण किया गया। एक स्तर पर उससे लेखक द्वारा जीवन के यथार्थ को रोमैंटिक दृष्टि, भावुकता या भावना-प्रधानता के बजाय तीखेपन, कलात्मक संयम और निर्ममता से देखने का प्रयास ही सूचित होता है। इसी यथार्थोन्मुख अभियान का एक अन्य पक्ष है साधारण-से-साधारण जीवन के यथासम्भव सहज और दैनन्दिन पक्षों के सहारे ही गहनतम सत्य से साक्षात्कार का प्रयास। इस दिशा में नरेश मेहता का 'यह पथ बन्धु था' एक उल्लेखनीय पदचिह्न है। उसमें आज के हिन्दी उपन्यास की कई विशिष्टताएँ विभिन्न रूपों में तथा विभिन्न पारस्परिक अनुपात और सन्तुलन में मौजूद तो हैं ही, किसी हद तक कलात्मक उपलब्धि के स्तर पर भी अभिव्यक्त हो सकी हैं। उसमें एक युग के सामाजिक और राजनीतिक जीवन के मूल्यों और मान्यताओं की पृष्ठभूमि में वैयक्तिक जीवन का संवेदनशील और आत्मीयतापूर्ण चित्र है जो भाव-संकुल और तीखा भी है और संयत भी।

'यह पथ वन्धु था' में मालवा के एक छोटे-से कस्बे के अत्यन्त साधारण सरकारी शिक्षक श्रीधर ठाकुर की कथा है। श्रीधर के भीतर कोई बड़ी प्रेरणा या महत्त्वाकांक्षा नहीं, कोई बड़ा स्वप्न या कोई गहरी बेचैनी या कर्मठता नहीं। पर अपनी घोर साधारणता में भी उसके भीतर आत्म-सम्मान है, गहरी नैतिकता है, चाहे साधारण ही सही, किन्हीं आदर्शों में आस्था है। आत्म-सम्मान का यह सूत्र उसे कस्बे के, और परिवार के, अत्यन्त सीमित संकीर्ण वातावरण में से इन्दौर और काशी के जनसंकुल, शहरी तथा उथल-पुथल से भरे वातावरण में खींच लाता है। उसने अपने राज्य का एक

यह पथ बन्धु था (१९६२)—लेखक : नरेश मेहता, प्रकाशक : हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर प्रा० लि०, बम्बई; पृष्ठ ५६५।

इतिहास लिखा था जिसकी प्रशंसा होती है, पर इसी से विभागीय अधिकारियों को उससे ईर्ष्या भी। उस पर राज्य के शासकों का यथोचित सम्मानपूर्वक उल्लेख न करने का आरोप लगाया जाता है और ग्रन्थ में आवश्यक संशोधन करने की माँग की जाती है। जब श्रीधर इसके लिए तैयार नहीं होता तो उससे त्यागपत्र देने को कहा जाता है। नौकरी से त्यागपत्र देने पर उसके सामने जीवनयापन का कोई अन्य साधन नहीं। उसकी पत्नी और तीन बच्चे हैं, वृद्ध माता-पिता हैं, और परिवार की अवस्था अत्यन्त विपन्न है। श्रीधर कुछ स्थिर नहीं कर पाता और अन्त में एक प्रकार की आन्तरिक विवशता के कारण वह एक रात चुपचाप किसी से कुछ कहे-सुने बिना ही, घर छोड़कर इन्दौर चला जाता है। वहाँ वह राजनीति में, आतंकवादी कार्यकर्ताओं के साथ, पड़ जाता है और अपने लिए कोई काम नहीं जुटा पाता। इसी ग्लानिवश वह घर भी कोई समाचार नहीं भेजता। कुछ समय बाद उसे इन्दौर भी छोड़ना पड़ता है, और तब वह काशी जाकर रहता है जहाँ वह पहले कांग्रेसी आन्दोलन में, तथा फिर बाद में अपने आतंकवादी सम्पर्कों के कारण, तेरह-चौदह वर्ष जेल काटता है। छूटने पर 'शंखनाद' नामक एक साप्ताहिक पत्र निकालता है तथा अन्य राजनीतिक साहित्यिक कार्यों में भी भाग लेने का प्रयास करता है। पर राजनीतिक और साहित्यिक जीवन की क्षुद्र दलबन्दियों के कारण, और मूलतः अपने व्यक्तित्व की अव्यावहारिकता और निष्क्रियता के कारण, तथा किसी तीव्र महत्त्वाकांक्षा अथवा आन्तरिक प्रेरणा के अभाव में, वह न तो कुछ कर पाता है, न कुछ भी बन पाता है। अन्त में पचीस वर्ष बाद असफल, पराजित, टूटा हुआ वह अपने घर लौट आता है। इतने दिन उसने घर से कोई सम्पर्क नहीं रखा और वह नहीं जानता कि इस बीच उसके माता-पिता मर चुके हैं; दोनों भाई मकान का बँटवारा करके अलग हो चुके हैं; पत्नी सरस्वती यक्ष्मा की अन्तिम अवस्था में है; दोनों लड़कियों के विवाह हो चुके हैं, पर एक सास-ससुर के अत्याचार के कारण पंगु और परित्यक्ता होकर अपनी माँ के साथ ही रहती है। श्रीधर के घर पहुँचने के बाद ही पत्नी की भी मृत्यु हो जाती है और पंगु पुत्री अपने नाना के घर चली जाती है। श्रीधर अब अपने घर आकर भी अकेला है। उसके जीवन के नये अध्याय का प्रारम्भ एक राज्य का इतिहास लिखने के कारण हुआ था, अब वह मानव का इतिहास लिखने का संकल्प करता है।

इस कथा-सूत्र से सम्भवतः यह स्पष्ट है कि 'यह पथ बन्धु था' में मूलतः व्यक्ति की जीवन-यात्रा को ही उसके विभिन्न आयामों में चित्रित किया गया है। पर यह व्यक्ति विभिन्न सूत्रों से अपने परिवेश से जुड़ा हुआ है; वह उसकी उपज भी है और उसको जाने-अनजाने, न्यूनाधिक मात्रा में प्रभावित भी

करता है। उपन्यास में श्रीधर के व्यक्तित्व को, उसकी आन्तरिक गठन और उसकी परिणति को, उसके परिवेश के विभिन्न सूत्रों के साथ जोड़कर रखा गया है, मनोविश्लेषणशास्त्र या समाजविज्ञान के स्तर पर नहीं, सर्जनात्मक मानवीय स्तर पर। श्रीधर का जन्म एक अत्यन्त कुलीन धार्मिक, निष्ठावान ब्राह्मण-परिवार में हुआ है जो क्रमशः अत्यन्त विपन्न हो गया है। पिता कीर्तनिया हैं, भागवत बाँचते हैं और आचारवान संयमी व्यक्ति हैं, माता भी वैसी ही हैं। श्रीधर मँझला पुत्र है जिसने माता-पिता की शालीनता, संयम, आस्था, निष्ठा सभी-कुछ पाया है। उसकी पत्नी सरस्वती भी एक पढ़े-लिखे सुसंस्कृत परिवार की लड़की है, श्रीधर-जैसी ही, सहनशील, आस्थावान, उदार। इनके विपरीत श्रीधर के दोनों भाई और उनकी पत्नियाँ अत्यन्त आत्मकेन्द्रित, स्वार्थी और दुनियादार है, क्षुद्र, क्रूर और आदर्शहीन। श्रीधर का मूल व्यक्तित्व परिवार के इन्हीं प्रभावों से निर्मित है। पर उसके बचपन में एक और भी सुकुमार प्रभाव है, स्थानीय मराठा सरदार बाला साहब की पुत्री इन्दु का, जो उम्र में श्रीधर से दस साल बड़ी थी। जब श्रीधर दस साल का था तभी उसका दूर पूना में विवाह हुआ और वह चली गयी। पर सात से दस वर्ष तक की कच्ची, प्रभावशील, सुकुमार आयु में इन्दु के साथ उसका घनिष्ठ सम्पर्क रहा और इन्दु के व्यक्तित्व की गहरी छाप श्रीधर के मन पर पड़ी। इन्दु का व्यक्तित्व आभिजात्य और सरलता, कलाप्रियता और विलासिता, स्वतन्त्रता और मानसिक दमन के अनेक अन्तर्विरोधी तत्वों की उपज है। श्रीधर से उसे बड़ा गहरा स्नेह है पर उसके भाव में अतृप्त लालसा और बड़ी बहन की दुलारपूर्ण ममता का बड़ा अनोखा मिश्रण है। युवती इन्दु का सम्पर्क बालक श्रीधर को स्वप्नशील तो बना जाता है पर उसे किसी प्रकार की शक्ति नहीं देता, किसी प्रकार की गहरी सकल्पमूलक तीव्रता उसके भीतर नहीं जगाता। श्रीधर के व्यक्तित्व के निर्माण में उसकी आजीवन निष्क्रियता, परावलम्बिता तथा निःस्वता में उसके किशोर जीवन के इन प्रभावों का गहरा योग है, जिसे बड़ी सूक्ष्मता से लेखक ने उपन्यास के प्रारम्भ में ही दिखाया है।

परवर्ती कर्मसंकुल जीवन में श्रीधर के व्यक्तित्व के यही सब पहलू नयी परिस्थितियों के सघात में आते हैं। उसमें आत्मविश्वास और पहल का अभाव है और वह सहज ही दूसरों के लिए एक साधन बन जाता है। पर परिस्थितिवश वह अनायास ही विभिन्न राजनीतिक आन्दोलनों तथा साहित्य और पत्रकार जगत् की सकीर्ण दलबन्दियों में पड़ जाता है और विशन, मालिनी, रतना जैसे सबल व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है। उपन्यास में व्यक्ति और परिवेश के इस संघात का भी विस्तृत प्रस्तुतीकरण है। यदि

बाह्य परिस्थितियों के सन्दर्भ और परिप्रेक्ष्य में श्रीधर के सामान्य जीवन की व्यर्थता स्पष्ट उभरकर सामने आती है, तो श्रीधर के सन्दर्भ में बदलते हुए मानवीय सम्बन्धों की, राजनीतिक, साहित्यिक और सामाजिक संस्थाओं और आन्दोलनों और व्यक्तियों की व्यर्थता, अमानुषिकता, निस्संगता भी उतनी ही तीव्रता से उभरकर आती है। जीवन के दोनों पक्ष एक-दूसरे पर आलोचनात्मक टिप्पणी करते-जैसे जान पड़ते हैं। आन्तरिक जीवन तथा उपलब्धि अथवा अनुपलब्धि के साथ बाह्य परिवेश के इस निरन्तर सम्बन्ध और संघात के कारण, उनके बीच एक प्रकार के निरन्तर सन्तुलन के कारण, 'यह पथ बन्धु था' को गहराई और व्यापकता दोनों ही मिलती हैं और यह उपन्यास आत्मकेन्द्रिता अथवा बाह्यकेन्द्रिता दोनों प्रकार की एकांगिताओं से किसी हद तक बच सका है। उसमें प्रस्तुत मानव-स्थितियों में एक साथ ही भावगत ऊष्मा भी है, और बाह्य यथार्थ की प्रामाणिकता भी, जो उन्हें अपने स्तर पर पर्याप्त विश्वसनीय बनाती है।

व्यक्ति और परिवेश के संघात की अभिव्यक्ति 'यह पथ बन्धु था' में एक और भी स्तर पर हुई है। यह जितनी श्रीधर की जीवनगाथा है उतनी ही उसकी पत्नी सरस्वती या सरो की भी। बल्कि कई दृष्टि से सरो की कथा कहीं अधिक एकाग्र, तीखी, मार्मिक और करुणापूर्ण है। श्रीधर की भाँति ही सरो निरीह, मूक और सहनशील भी है, और साथ ही समर्पित तथा शालीन भी। इसी कारण वह परिवार के भीतर रहकर अकल्पनीय त्रास पाती है और अगाध सीमाहीन समुद्र की भाँति जीवन की तीखी पीड़ा को अपने भीतर समाये रखती है। इस दृष्टि से 'यह पथ बन्धु था' पुराने ढंग के सम्मिलित परिवार के विघटन की भी कथा है, और उसकी चक्की में एक सुकुमार, आस्थावान स्त्री के पूर्णतः पिस जाने की कथा भी, जो भारतीय नारी के विडम्बनापूर्ण जीवन के एक समूचे युग को रूपायित करती है। भारतीय पारिवारिक जीवन की विशृंखलता, जर्जरता, विकृति और अमानवीयता के ऐसे मार्मिक चित्र हिन्दी में बहुत कम हैं। प्रायः उनमें या तो एक प्रकार की सिद्धान्तवादिता अथवा आत्ममग्नता होती है या फिर छिछली भावुकता। 'यह पथ बन्धु था' के पारिवारिक जीवन के चित्र में निर्मम यथार्थपरकता जितनी है उतनी ही घनिष्ठ परिचय की आत्मीयता और वास्तविक विशुद्ध करुणा भी। इसी से न तो उसमें कोई अतिनाटकीयता है, न कोई कृत्रिम भावावेश। जिन्दगी की अनगिनती छोटी-छोटी बातों से उसका ताना-बाना बुना गया है, फिर भी उसमें सार्थकता की कमी नहीं; बल्कि उसमें स्पष्ट ही परिवार और उसके विघटन के परिप्रेक्ष्य में सहज मानव-आचरण और उसके मूल्यों की विडम्बना निहित है। एक प्रकार से सरो की कथा श्रीधर के जीवन

का ही अन्य अर्धवृत्त है जो दोनों सिरों पर उसके पहले अर्धवृत्त से जुड़ा हुआ है और दोनों को मिलाकर ही पूर्ण वृत्त बनता है।

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस जीवनवृत्त में केवल बाह्य सत्य ही नहीं, आन्तरिक सत्य का उद्घाटन प्रमुख है। श्रीधर और सरो की ट्रेजेडी सामान्य जीवन-मूल्यों की ट्रेजेडी है। आज की दुनिया में सहज या साधारण होकर जीना कितना असम्भव है! कोई व्यक्ति यदि अपने छोटे-से घेरे में छोटी-सी साधारण कोटि की ईमानदारी और सचाई से जीवित रहना चाहे तो यह भी कितना दुष्कर है! अपने प्रति सच्चा और सहज होना जीवन-संघर्ष के लिए अपर्याप्त ही नहीं, बल्कि एक प्रकार की अयोग्यता है। जीने के लिए, किसी प्रकार की सफलता, उपलब्धि या परिपूर्णता के लिए, आत्मविज्ञापन की असीम सामर्थ्य चाहिए। सामाजिक सफलता श्रीमोहन, पुस्तके वकील या ठाकुर सकलदीप नारायण सिंह को ही मिल सकती है। हलके-से-हलके और छोटे-से-छोटे स्तर पर भी किन्हीं मूल्यों के प्रति सजग और संवेदनशील होकर सुखी हो सकना प्राय. असम्भव है। 'यह पथ बन्धु था' में श्रीधर और सरो के अतिरिक्त, इन्दु, मालिनी, विशन, रतना सभी अपनी-अपनी आस्थाओं के लिए अपने-अपने स्तर पर मूल्य चुकाते हैं; यहाँ तक कि पेमेन, कीर्तनियाजी, श्रीधर की माँ, गुणवन्ती—सबका जीवन एक-न-एक स्थल पर आकर पंगु और व्यर्थ हो जाता है। इस दृष्टि से बड़ी गहरी उदासी और करुणा सारे उपन्यास में परिव्याप्त है। सहृदयता और सचाई के लिए, निष्ठा और ईमानदारी के लिए, कहीं कोई स्थान नहीं। दूसरी ओर इतने सारे व्यक्ति अपने प्रति, अपनी मान्यताओं के प्रति, सच्चे बने रहते हैं, टूट जाते हैं पर झुकते नहीं। यह निस्सन्देह परोक्ष ढंग से जीवन के मूल्यों में गहरी आस्था का संकेत देता है। इन सब ईमानदार व्यक्तियों का सफलता के लिए समझौता कर लेना कहीं अधिक निराशाजनक और दुर्भाग्यपूर्ण होता। मानवता का इतिहास एक स्तर पर ऐसे ही अनगिनती साधारण लोगों की निष्ठा का और उस निष्ठा के प्रति समर्पित हो सकने का इतिहास है। वे ही, श्रीधर-जैसे लोग ही, उस इतिहास के निर्माता भी हैं और लेखक भी।

जीवन के प्रति यह दृष्टिकोण निस्सन्देह सत्य के बड़े महत्त्वपूर्ण अंश को प्रकट करता है और उस हद तक इस उपन्यास में बड़ी सहज करुणा और भाव-सघनता है। पर साथ ही इसमें एक प्रकार का रोमैंटिक सरलीकरण भी कहीं-न-कहीं है ही। जीवन उस प्रकार के दो-टूक सफेद और काले खाँचों में बँटा हुआ नहीं है जैसा इस उपन्यास में दीख पड़ता है। इन्सान की कहीं अधिक गहन और तीव्र ट्रेजेडी इस बात में है कि व्यक्ति स्वयं ही अपना शत्रु होता है; प्रत्येक आदर्श, निष्ठा और मूल्य में ही उसका विलोम, उसका विरोधी

में अपना समस्त भावावेग प्रकट करके चली जाती है कि 'तुमि आमार स्वामी' तो इस स्थिति की हलकी-सी भावुकता के बावजूद यह वाक्य भावों का तूफान नहीं उत्पन्न करता; बल्कि यह समूचा प्रसंग भी श्रीधर के जीवन की करुणा को ही रेखांकित करता है। वास्तव में श्रीधर बहुत-से असाधारण व्यक्तियों के सम्पर्क में आकर भी, बहुत सारी असाधारण और असामान्य परिस्थितियों में पड़कर भी सहज ही साधारण और सामान्य बना रहता है। भावातिरेक उसके भीतर है ही नहीं; बल्कि बहुत बार तो सन्देह होता है कि कोई भाव है भी या नहीं।

एक बार रतना से बात करते-करते हल्का-सा उत्तेजित होने पर श्रीधर कहता है :

"मैं तो अपने को कुछ भी नहीं कर पाता। कभी-कभी तो यह भी अनुभव नहीं हो पाता कि मैं हूँ, और तब मुझे क्या करना चाहिए···नहीं, मेरी कोई उपादेयता नहीं है—कहीं भी और कभी भी।"

लेखक ने बार-बार कई प्रकार से श्रीधर के व्यक्तित्व के इस पक्ष का उल्लेख किया है। जैसे :

"ठीक अपनी आदत के अनुसार कि जब वे कुछ करते हैं या सुनते हैं तब बिलकुल अनासक्त, विदेह बने बस कर रहे होते या सुन रहे होते हैं। जैसे उनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। शायद इसीलिए उन्हें किसी बात का दुख नहीं होता, या व्यक्त नहीं हो पाता।"

"उन्हें क्रोध आना चाहिए था लेकिन उन्हें खेद हुआ। चुनौती अनुभव करने पर ही तो क्रोध आता है? और श्रीधर बाबू कभी क्रोध नहीं करते क्योंकि प्रायः चुनौती नहीं अनुभव करते।"

"पता नहीं क्यों श्रीधर बाबू में कभी असन्तोष ऊपर उभरकर नहीं आ पाता। वे स्वयं ही कभी नहीं समझ पाते कि अगत्या वे चाहते क्या हैं? जब उन्हें प्रश्न करना होता है या उत्तर देना होता है—वे बस देखते रहते हैं। कहीं किसी चीज़ के प्रति कोई जिज्ञासा नहीं लगती।"

"उन्हें दुख नहीं परिताप था, पश्चात्ताप था। अपने असफल होने पर नहीं, अपमानित होने पर। उन्होंने प्रत्येक बार समुद्र की रत्नाकरी सीमाओं में प्रवेश करने की भरसक चेष्टा की लेकिन कोई-न-कोई ज्वार उनके सारे कर्म को नगण्य सिद्ध कर हर बार किनारे ला पटक देता।"

श्रीधर के व्यक्तित्व की साधारणता का यह चौखटा लेखक ने प्रारम्भ से अन्त तक बड़ी सावधानी से बनाये रखा है—इतना कि कभी-कभी तो यही असाधारण लगता है। बल्कि कभी-कभी अस्वाभाविक और आरोपित लगता है। पर इसमें कहीं कोई छल नहीं है। बोध और अभिव्यक्ति दोनों ही

स्तरों पर लेखक उसके विषय में अपनी प्रामाणिकता नष्ट नहीं होने देता। इस कारण यह उसके कलात्मक संयम का एक अन्यतम आयाम भी है।

ऐसा ही एक आयाम है सरो के जीवन की पीड़ा के चित्रण में। कई दृष्टि से वह अपूर्व नारी है जिसकी सहनशीलता की कोई सीमा नहीं। उसके पास शब्द नहीं हैं पर भाव इतने सघन और तीव्र हैं कि उनकी तुलना नहीं हो सकती। पचीस वर्ष बाद घर लौटने पर श्रीधर जब अपने कमरे में पहुँचते हैं तो देखते हैं :

"वहीं एक लकड़ी के सिंहासन पर उनके स्कूल के दिनों का चित्र रखा था जिसके सामने दीप जल रहा था तथा रेशमी पवित्रा (माला) से मण्डित था। सहसा श्रीधर बाबू अत्यन्त विचलित हुए कि यही वह स्थान है जहाँ बैठ कोई उन्हें अहोरात्र पुकारता रहा है। अँधेरे में कहीं भटक न जावें इसलिए दीया लोक किये रहा है। पता नहीं कहीं ठौर मिलता है कि नहीं इसलिए इस छोटे सिंहासन को विश्व बना दिया उस व्यक्ति ने।"

इस प्रतीति के पीछे दुःख और पीड़ा के साथ-साथ एक समर्पित जीवन की पूरी गाथा है जो अपनी निष्ठा में सचमुच महिमामयी है। उसी रात को इतने लम्बे अन्तराल के बाद मिलने पर सरो जो कुछ श्रीधर से कहती है, उसकी भावसिक्तता और करुणा, अतिरेकहीन संयमित कथन की दृष्टि से हिन्दी-लेखन में बेजोड़ है।

वास्तव में इस संयम के कारण ही समस्त उपन्यास में, उसके सारे प्रसंगान्तरों के बावजूद, भावुकता और रोमैंटिक मोह के बावजूद, एक कलात्मक अन्विति बनी रहती है। स्वयं कथा में, उसमें उलझे हुए पात्रों के व्यक्तित्वों में, ऐसे बहुत-से स्थल हैं जिनमें नाटकीयता और अतिरंजना की पूरी-पूरी सम्भावना है। पर लेखक उसके फन्दे में प्राय. नहीं पड़ता और हर बार उस मोह को बचा जाता है। उल्का-जैसे व्यक्तित्व भी श्रीधर के जीवन में जैसे अनायास आते हैं वैसे ही अनायास निकल भी जाते हैं। अतिरेक का अभाव और अल्प कथन हिन्दी-लेखन में इतना विरल है कि इस उपन्यास में वह अनोखा और आश्चर्यजनक लगता है। उसकी कलात्मक तटस्थता ही उसे कृतित्व के विशिष्ट स्तर पर उठा देती है।

इस उपन्यास की एक अन्य विशिष्टता है उसकी आत्मीयता, उसकी भाव-वस्तु के साथ लेखक का घनिष्ठ परिचय। परिचित अनुभूति-क्षेत्रों की सीमाएँ छोड़कर कल्पना-लोकों में विचरने का किशोर प्रयत्न उसमें बहुत ही कम है। मालिनी-जैसे पात्रों को छोड़ दें तो अधिकांश व्यक्ति बड़ी संवेदनशीलता और सहानुभूति के साथ अंकित किये गये हैं। उनके बहुत-से पक्ष नहीं खुलते, पर जितने खुलते हैं वे विश्वसनीय लगते हैं। श्रीधर के माता-पिता का अंकन बड़ी

ममता से हुआ है; इसी प्रकार श्रीमोहन-सावित्री का बड़ी तीखी घृणा से। इस दम्पति की सगे के प्रति सीमाहीन क्रूरता अमानुषिक होकर भी अतिरंजित नहीं लगती। ठाकुर गजमर्दीन नारायणसिंह, रामसेलावन बाबू आदि चरित्रों में एकांगिता के बावजूद आन्तरिक संगति मौजूद रहती है। 'यह पथ बन्धु था' के *व्यक्तियों और स्थितियों में कहीं-कहीं तो यह स्वाभाविकता इस हद तक है कि* लगता है लेखक उनसे अत्यधिक सम्पृक्त है, कलाकार के रूप में उनसे अपने को विलग नहीं कर सका है, उनसे पर्याप्त तटस्थ नहीं हो पाया है। यह स्थिति इस उपन्यास को और भी संयमित होकर अधिक गहन और तीव्र होने से रोकती है, इसमें सन्देह नहीं। पर वह संपृक्ति इतनी अधिक भी नहीं है कि अपने स्तर पर *इस उपन्यास को महत्त्वपूर्ण कलाकृति न होने दे। भावनाशीलता* और संयम का यह सन्तुलन अपने-आप में ही कोई नगण्य उपलब्धि नहीं है।

इस संयम और सन्तुलन का प्रभाव अनिवार्यतः उपन्यास के शिल्प पर भी पड़ा ही है। बल्कि शिल्पगत संयम के बिना उसकी उपलब्धि ही सम्भव न थी। किन्तु उसके शिल्प की विशिष्टता उसकी सरलता में है, किसी तीखी प्रयोगात्मकता में नहीं। उसके वर्णनों में, कथा के सम्बन्ध सूत्रों में, प्रवाह है, निरन्तरता है, और बीच-बीच में तीव्र सघनता भी। इस दृष्टि से उसका ढंग 'शेखर : एक जीवनी' से मिलता-जुलता है। इसी प्रकार स्थितियों और *व्यक्तियों को प्रस्तुत करने में शायद अनजाने ही विसदृशता का* बड़ा प्रभावपूर्ण उपयोग हुआ है। विशन और श्रीधर, रतना और मालिनी, इन्दु और सरो, सरो और सावित्री, कान्ता और गुणवन्ती आदि पात्रों में बड़ी रोचक विभिन्नता है और वे जैसे एक-दूसरे को अधिक रूपायित होने में सहायक होते जाते हैं। विभिन्न कथासूत्रों को भी कुशलता से एक-दूसरे से सम्बद्ध रखा गया है। प्रकृति और जन-जीवन दोनों के वर्णनों में बड़ी सूक्ष्मता, काव्यात्मकता और चित्रात्मकता है। बीच-बीच में काव्य-सुलभ बिम्ब आकर बिखरे हुए भावसूत्रों को जैसे अनायास ही केन्द्रीभूत और आलोकित कर जाते हैं। *'यह पथ बन्धु था'* में एक विशेष प्रकार की *आंचलिकता* भी है जो सहज-स्वाभाविक परिवेश के रूप में आती है, आक्रामक रूप में नहीं। वह साधन है, साध्य नहीं। इसलिए रचना के समग्र प्रभाव को बढ़ाती है, उसकी प्रेषणीयता को सीमित नहीं करती।

किन्तु इन सारी बातों के बावजूद शिल्प के स्तर पर उपन्यास में कुछेक शिथिलताएँ बड़ी तीव्र हैं; जैसे उपन्यास के अन्त को ही लीजिए। 'मनुष्य के इतिहास' की व्याख्या से सम्बन्धित भावुकता का उल्लेख पहले किया गया है। पर वास्तव में उस चर्चा की उस स्थल पर सार्थकता ही क्या है? मूलतः वह अनावश्यक और अनर्गल लगता है, विचारों की दृष्टि से छिछला तो है ही।

बल्कि वह उसके ठीक पहले की भाव-तीव्रता को नष्ट कर देता है। इसी प्रकार पूर्वावलोकन (फ्लैश बैक) पद्धति का भी बहुत अधिक और अनावश्यक उपयोग हुआ है। रात को छत पर बैठकर बिशन जिस प्रकार मालिनी की कथा सुनाता है, वह बहुत विश्वसनीय नहीं लगता। और फिर उपन्यास का काल-प्रवाह ! उसमें कई भूलें भी हैं, असंगतियाँ भी हैं, और वह प्रायः आरोपित भी लगता है। ऐतिहासिक घटनाओं से काल्पनिक व्यक्तियों या स्थितियों को जोड़ते समय बड़ी सावधानी की आवश्यकता होती है। उसके द्वारा जितनी आसानी से किसी बात को विश्वसनीय बनाया जा सकता है, उतनी ही आसानी से पूर्णतः मिथ्या और सन्दर्भहीन भी। इसके प्रति पर्याप्त सजगता इस उपन्यास में नहीं बरती गयी है।

इसी प्रकार इस उपन्यास की भाषा, नरेश मेहता के अपने अन्य लेखन की तुलना में बहुत-कुछ सुथरी होने पर भी कई जगह बहुत खटकती है। क्रियापदों-सम्बन्धी कृत्रिमता और अराजकता तो है ही, शिथिल वाक्यांश और अशुद्ध तथा अनुपयुक्त प्रयोग भी बहुत हैं। इन बातों के अतिरिक्त उसमें पात्रानुकूल भाषागत यथार्थवादिता बड़ी अजीब लगती है। इसमें कुछ मराठीभाषी पात्र बीच-बीच में मराठी बोलने लगते हैं, बँगलाभाषी पात्र बँगला-हिन्दी या बँगला बोलते हैं; पारसी मिसेज़ ऐलची बम्बइया हिन्दी के अलावा गुजराती बोलती हैं, कुछ बनारसी लोग भोजपुरी या उसकी हिन्दी मिश्रित खिचड़ी बोलते हैं। इस दृष्टि से मालवा के तो सारे पात्रों को मालवी ही बोलनी चाहिए थी ! इस प्रकार के भाषागत प्रयोगों में न केवल संगति नहीं है, बल्कि बीच-बीच में उनमें बड़ी भूलें भी हैं, विशेषकर बंगाली पात्रों की बँगलानुकूल हिन्दी में। उदाहरण के लिए, 'होम आपको बहुत खोजा' में 'होम' सही नहीं है। बँगाली 'हाम' कहता है, 'होम' नहीं, क्योंकि बँगला में 'अकार' का ही 'ओकार' होता है, 'आकार' का नहीं। या कि 'आपनी श्रीधर बाबू आशेन ?' में 'आशे' या 'आशेन' सही नहीं है। इस तरह के और भी प्रयोग हैं। लेखक को बहुत-से बँगला शब्दों, वाक्यांशों, या सम्भवतः बँगला भाषा या बँगाली मात्र से कुछ अतिरिक्त मोह है, ऐसा कई प्रकार से उसकी रचनाओं में प्रकट होता है। किसी समर्थ अथवा समर्थता का भी लेखक के लिए ऐसा कोई मोह या आग्रह कभी बहुत शोभनीय नहीं हो सकता। वह अनिवार्य रूप से रचना के स्तर को गिरा देता है।

फिर भी, यह अराजकता होते हुए भी, कुल मिलाकर 'यह पथ बन्धु था' की भाषा में निस्सन्देह अपना एक विशेष प्रकार का स्वरूप और सौष्ठव अवश्य है। पूरी शैली में एक प्रकार की पुरानेपन की गूँज-जैसी है जो कथा के काल और विषय के अनुरूप और अनुकूल होने के कारण अच्छी लगती है। साथ

ही यह आजकल के तीखे, चटक, नुकीले गद्य से भिन्न है, जिसमें कृत्रिम नवीनता से बचकर प्रकृत और अछूते जीवन के गोपन का स्वाद है। जहाँ वह प्रयोगात्मकता से आक्रान्त नहीं है, वहाँ उसमें बड़ी तीव्रता और सघनता भी है और आत्मीयताजन्य निश्छल मार्मिकता भी, जो इतनी विरल होने के कारण और भी अनूठी और अनुपम लगती है। एक प्रकार से इस उपन्यास की भाषा की शिथिलताओं की चर्चा इसीलिए अधिक आवश्यक है कि अधिकांशतः वह इतनी सक्षम और तीक्ष्ण है।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि 'यह पथ बन्धु था' हिन्दी-उपन्यास की उपलब्धि के एक नये शिखर का सूचक रहा है। स्वयं नरेश मेहता के अपने कथा-साहित्य में, विशेषकर 'डूबते मस्तूल' के पाठक के लिए, तो वह एक लगभग अविश्वसनीय सुखद आश्चर्य था। उसमें एक लम्बे सामाजिक और साहित्यिक अभिव्यक्ति के युग को रूपायित करने का और परम्परा और सम-कालीनता के बीच एक नयी समन्विति, एक नये सन्तुलन की खोज का प्रयास है। उसमें अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों ही स्तरों पर एक ऐसा आन्तरिक सामंजस्य है जो हिन्दी के कथा-साहित्य के एक नये आयाम का सूचक है।

६ | द्वन्द्वात्मकता की खोज : 'बूँद और समुद्र'

अमृतलाल नागर का 'बूँद और समुद्र' घटनाओं और चरित्रों के चारों ओर बुना हुआ ऐसा उपन्यास है जिसे एक प्रकार से प्रेमचन्द की परम्परा में माना जा सकता है। प्रेमचन्द मूलतः सामाजिक परिस्थितियों और समस्याओं पर, व्यक्ति के जीवन के साथ उनके प्रकट संघात पर, बल देते थे, और उसी परिप्रेक्ष्य में मनुष्यों के बाह्य आचरण के चित्रण द्वारा उनके मानसिक संघर्ष और नैतिक अन्तर्द्वन्द्व का अंकन करते थे। उन्होंने मुख्यतः व्यक्ति के जीवन के सामाजिक अंश को ही अपनी व्यापक और अशेष सहानुभूति द्वारा पहचाना और चित्रित किया है। उनकी रचनाओं में सहानुभूति की यह व्यापकता जितनी मिलती है, व्यक्ति की निजस्व भावनाओं और पीड़ा की गहराई उतनी नहीं मिलती। किन्तु उनके परवर्ती उपन्यासकारों का ध्यान व्यक्ति की ओर भी गया। उन्होंने समझा कि समाज मूलतः व्यक्ति की अधिकतम आत्मोपलब्धि और आत्माभिव्यक्ति का ही साधन है, और सामाजिक समस्याएँ इसीलिए महत्त्वपूर्ण हैं कि वे मनुष्य के इस चरम उत्कर्ष, उसकी सार्थकता के चरम प्रतिफलन, के साथ जुड़ी हुई होती हैं—उसमें बाधा बनती है अथवा सहायक होती हैं। साथ ही व्यक्ति भी समाज में रहकर अपने व्यापक उत्कर्ष के उद्देश्य से अपने तात्कालिक, क्षणस्थायी और क्षुद्र स्वार्थों का परित्याग करता है और इस भाँति अपनी आत्मोपलब्धि के, अपने व्यक्तित्व के, पूर्णतम विकास का मार्ग अधिक प्रशस्त करता है। व्यक्ति की ऐसी महत्ता प्रेमचन्द के युग तक हमारे सामाजिक जीवन में ही स्पष्ट न थी। इसलिए उस युग के साहित्य में भी व्यक्ति के इस रूप का, समस्या के इस पक्ष का कोई चित्र नहीं मिलता, न उसको समझने अथवा सुलझाने की चेतना ही दीखती है।

प्रेमचन्द के परवर्ती कथाकारों ने कई रूपों और स्तरों पर इस कमी को पूरा करने का यत्न किया। वे या तो व्यक्ति के केवल निजी आन्तरिक जीवन

बूँद और समुद्र (१९५६)—लेखक : अमृतलाल नागर, प्रकाशक : किताब महल प्रा० लि०, इलाहाबाद।

का अनुसन्धान करने मे लगे, या फिर सामाजिक और व्यक्तिगत समस्याओं को एक प्रकार से समानान्तर अथवा परस्पर-सम्बद्ध मानकर उनके बीच प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सूत्रो की खोज करने मे। फलतः एक ओर व्यक्ति के आचरण और उसके अन्त.सघर्ष के अध्ययन में अधिक तीव्रता और गहराई आयी, और दूसरी ओर सामाजिक समस्याओ को भी एक नयी सार्थकता और उनके चित्रण को एक नयी गम्भीरता प्राप्त हुई। 'बूंद और समुद्र' इसी शृखला का बड़ा उल्लेखनीय उपन्यास है, जिसका प्रकाशन १६५६ मे हुआ। उसकी दुनिया भी वैसी ही व्यापक, विस्तृत और जनसकुल है जैसी प्रेमचन्द के उपन्यासो मे हुआ करती थी। किन्तु साथ ही उसमें व्यक्ति-मन की एकान्त निजी भावनाओं, कुण्ठाओ, उलझनो और आत्मसघर्ष को समझने का भी बड़ा सच्चा प्रयत्न दिखायी पड़ता है। इसमे कोई भी सन्देह नहीं कि शहरी जीवन के विभिन्न स्तरो के, विशेषकर निम्न और उच्च मध्यवर्ग के, अथवा किसी हद तक सुसम्पन्न वर्गों के भी, जीवन का ऐसा सूक्ष्म और बहुमुखी, किन्तु साथ ही अधिक-से-अधिक सहृदयतापूर्ण, रूपायन हिन्दी-उपन्यासों मे बहुत कम ही देखने को मिलता है। 'बूँद और समुद्र' में एक पूरे नगर, एक पूरे समाज, जीवन के कुछेक महत्त्वपूर्ण वर्ग सजीव हो उठते हैं। उसमे जहाँ एक ओर परम्परागत जीवन-पद्धति, रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार, विचार-विवेक का, पुरानी चाल के लोगों और उनकी जीवन-दृष्टियो का, सटीक चित्रण है, वहीं दूसरी ओर आधुनिक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक शक्तियो, विचार-धाराओं और परिस्थितियों के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली जीवन-दृष्टियाँ, व्यक्ति और उनकी समस्याएँ, रहन-सहन, उलझनें आदि भी अधिक-से-अधिक व्यापकता में मौजूद हैं। एक ओर ताई, नन्दो, बड़ी, कल्याणी, राजाबहादुर द्वारकादास, लाले दयाल, मनिया जैसे लोग हैं, तो दूसरी ओर वनकन्या, शिवा, शीला स्विंग, सज्जन, महिपाल जैसे लोग भी हैं। जहाँ एक ओर आटे के पुतले बनाकर मारण मन्त्र के उपयोग मे पक्का विश्वास करने वाले, एक स्तर पर अत्यन्त सहज-सरल किन्तु दूसरे स्तर पर अत्यन्त उलझाव-भरे, प्राणियों की दुनिया है, वहीं हवाई जहाज से पर्चे गिराकर चुनाव के आन्दोलन की सरगर्मियाँ भी हैं। और साथ ही इन एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न दुनियाओं को जोड़ने वाली कड़ियाँ भी कम नहीं हैं। कर्नल, रामजी, मि० वर्मा, तारा ऐसी ही कड़ियाँ हैं जो इन दोनों दुनियाओं के बीच आर-पार गुँथी हुई हैं।

एक प्रकार से 'बूँद और समुद्र' मे इन दो भिन्न जीवन-पद्धतियों और जीवन-दृष्टियों का इतना विस्तृत और व्यापक, किन्तु एक हद तक एक-दूसरे से असम्बद्ध चित्रण ही उपन्यास की महत्त्वपूर्ण विशेषता भी है और इसकी दुर्बलता भी। निस्सन्देह लेखक ने ऐसे कई सूक्ष्म और सुन्दर

दोनों प्रकार के सूत्रों को उपस्थित करने का यत्न किया है जिनसे ये दोनों जगत एक-दूसरे से सम्बद्ध और प्रभावित होते हैं, एक-दूसरे की समस्याओं को जन्म देते और सुलझाते हैं, एक-दूसरे का संस्कार करते हैं। इस प्रकार जहाँ हमारे आज के आधुनिक जीवन और उसकी समस्याओं की जड़ें, विशेषकर इन समस्याओं के साथ उलझने वाले व्यक्तियों के संस्कारों के मूलरूप, किन्हीं परिचित-अपरिचित पुरानी मान्यताओं, धारणाओं और आचार-व्यवहार में छिपे हुए है, और अपना वर्तमान रूप उन्ही संस्कारों द्वारा प्राप्त करते हैं, वहीं दूसरी ओर इन आधुनिक प्रवृत्तियों और विचारों के संघात से जीवन की पुरानी मान्यताएँ धीरे-धीरे विघटित हो रही हैं, विशृंखल हो रही है और नये तत्त्व उन्हें एक नया ही रूप प्रदान कर रहे है। यह रूप न तो पुराना है और न नया ही। इसलिए चरित्रहीन है, किसी हद तक प्राणहीन, जर्जर और आधारहीन है। सामाजिक जीवन की इस संक्रान्ति का अध्ययन आज के महाकाव्य का विषय है, और इसमे कोई शक नही कि अमृतलाल नागर ने अपने इस उपन्यास को महाकाव्य का फलक ही प्रदान किया है और उसे उतनी ही गरिमा तक उठाने और स्थित रखने का प्रयत्न भी किया है। 'बूंद और समुद्र' मे लखनऊ के जिस चौक का चित्र नागरजी ने उपस्थित किया है उसमे एक जीवन-व्यवस्था टूटती और एक नयी जीवन-व्यवस्था जन्म लेती दीखती है। इसीलिए उपन्यास मे एक ओर प्राचीन शिखरों के ढहने की करुणा है, तो दूसरी ओर नयी आलोक-किरण की प्रथम रोमांचकारी सिहरन भी।

टूटती हुई पुरानी व्यवस्था और जन्म लेती हुई नयी व्यवस्था के इस सम्बन्ध को दिखाने के लिए नागरजी ने उपन्यास मे कई-एक कथासूत्रों और जीवनखण्डों का समानान्तर प्रयोग और चित्रण किया है। चौक की गलियों मे पुरानी परम्पराओं के अनुसार चलने वाली जिन्दगी जिसकी केन्द्र ताई है; इस जिन्दगी को परिधि से छूकर, या किसी हद तक काटती हुई, वनकन्या और सज्जन की जीवनगाथा; और सज्जन के मित्र होने के नाते इस जीवन से हल्की-सी जुड़ी हुई लेखक महिपाल, उसके परिवार और प्रेमिका डॉ० शीला स्विंग की कथा। मुख्य सूत्र ये तीन ही हैं, पर इनको बीच-बीच मे काटने-गूँथते चलने वाले अन्य प्रसंग है, जैसे बड़ी-बिरहेश काण्ड, महिला सेवा मण्डल का भण्डाफोड़, राधा-कृष्ण-विवाह आदि, विविध व्यक्ति हैं, जैसे कर्नल, रामजी बाबा, वित्रा आदि। इस प्रकार बड़े पैमाने पर लेखक ने जीवन को समेटना चाहा है। और अनगिनती व्यक्तियों, घटनाओं और समस्याओं को एक साथ पिरोने की कोशिश की है—यहाँ तक कि प्रभाव की एकाग्रता नष्ट होने लगती है, और सारा उपन्यास असंख्य रेखाचित्रों की लड़ी जैसा लगने लगता है। वास्तव मे मुख्य प्रसंगों में से प्रत्येक अपने-आप मे एक

विराट उपन्यास के फलक पर उठाया और चलाया गया है। इन स्वायत्त सूत्रों की अपनी-अपनी अलग सत्ता और गति है। वे एक-दूसरे को कहीं-कहीं स्पर्श करने पर भी स्वतःसम्पूर्ण हैं और केवल व्यक्तियों के माध्यम से एक-दूसरे से थोड़ा-बहुत जुड़ पाते हैं। इस प्रकार 'बूँद और समुद्र' में प्रधानता विभिन्न पात्रों की है, जो कुछेक सूत्रों से विभिन्न स्तरों पर, जिन्दगी के विभिन्न क्षेत्रों में, एक-दूसरे से सम्बद्ध तो हैं, किन्तु कोई एक समन्वित सूत्र नहीं उभरता जो विभिन्न तत्त्वों को अपने भीतर आत्मसात् कर जीवन की समग्रता को संप्रेषित करता हो। विभिन्न प्रमुख कथा-सूत्र अपने सहारे 'पारम्परिक' और 'आधुनिक' जीवन-पद्धतियों, दृष्टियों और व्यवस्थाओं के चित्र मात्र उपस्थित करते हैं, जो कहीं-कहीं सम्बद्ध होकर भी स्वतन्त्र हैं। कुल मिलाकर उनमें टूटती-बनती संक्रान्तिकालीन जीवन-व्यवस्था की झाँकी भले ही मिले, पर जीवन की कोई अखण्ड स्थिति, अपनी आन्तरिक द्वन्द्वात्मकता में, विभिन्न तत्त्वों की मूलभूत संघर्षमयता में, उभरकर सामने नहीं आती।

बल्कि इन विभिन्न जीवन-खण्डों का अलग-अलग अनुसरण करते-करते अन्त में यह लगता है कि नागरजी वास्तव में उस पुरानी पारम्परिक दुनिया को ही जानते और समझते हैं; उसी के साथ उनका आन्तरिक, आत्यन्तिक लगाव है। इसी से उनके जितने प्रामाणिक और सच्चे चित्र इस पुरानी दुनिया के हैं उतने नयी दुनिया के नहीं। नन्दो, ताई, बड़ी, मनिया, लाले दलाल, टिल्ली उस्ताद और उनका अखाड़ा, गोकुलद्वारा के मिसरियाजी, जलघड़ियाजी, कीर्तनियाजी, मुखियाजी, खन्ना की बहुरिया, आदि के चित्र सम्पूर्णतः सजीव ही नहीं, उनके अंकन में ऐसी सूक्ष्म कलाबोध है, और सहज सहानुभूति के साथ-साथ ऐसा कलाकार का संयम भी है, जो उन्हें हिन्दी के कथा-साहित्य में बेजोड़ बनाता है। सज्जन, महिपाल, चित्रा, वनकन्या के चित्र इतने प्रामाणिक नहीं। दोनों में यह अन्तर इतना स्पष्ट दिखायी पड़ता है कि एक से लेखक का आत्मीय और गहरा परिचय तथा दूसरे से एक प्रकार का काल्पनिक लगाव पूरी तरह उजागर हो उठता है। पुरानी दुनिया के ये सब पात्र अपने स्वाभाविक सम्पूर्ण परिवेश में, अपनी समस्त सम्भावनाओं, दुर्बलताओं और क्षमताओं के साथ, प्रकट होते हैं; वे अपने जीवन का सुपरिचित मार्ग बड़ी सहजता के साथ तय करते हुए अपनी चरम परिणति प्राप्त करते हैं। उसमें नन्दो की विकृति अथवा बड़ी की दुर्गति दोनों एकदम सहज लगती हैं। यह दुनिया एक प्रकार से अपने-आप में पूर्ण है। और यदि केवल इसी के सन्दर्भ में देखा जाय, तो इस अंश के चित्रण में विस्तार की इतनी बातें प्रस्तुत करने पर भी प्रायः ऐसा अनुभव नहीं होता कि यह केवल ऐतिहासिक अथवा सामाजिक डायरी अथवा घटनाओं और व्यक्तियों का संग्रह मात्र है।

नागरजी उस जीवन के विभिन्न पक्षों और तत्वों को बड़ी सूक्ष्म कला-दृष्टि के साथ समन्वित करके रख सके है जिससे हर चित्र अपने-आप में सम्पूर्ण होकर भी एक वृहद् चित्र का अंग जान पड़ता है।

इसीलिए वास्तव में देखा जाय तो 'बूँद और समुद्र' की मुख्य पात्र ताई है। वह हिन्दी कथा-साहित्य की एक अद्वितीय सृष्टि है जिसकी गणना होरी और शेखर जैसे पात्रों के साथ होगी। ताई का व्यक्तित्व असाधारण है। उसका क्रोध जैसा असयत और अनियन्त्रित है, वैसा ही निश्छल और उत्कट उसका स्नेह और ममत्व भी। उसमे तीव्र प्रतिहिंसा और प्रतिशोध की धधकती हुई ज्वाला है, तो दूसरी ओर असीम करुणा का सागर भी। ऐसा सजीव और सप्राण चरित्र हिन्दी उपन्यासों मे बहुत कम देखने को मिला है। ताई जीवन की अनन्त सार्थकता और अनिवार्य दुखान्तता को एक साथ मूर्त करती है। इन दो परस्पर-विरोधी तत्वों को नागरजी जिस रासायनिक प्रक्रिया से समन्वित कर पाये हैं, वह उनकी अपूर्व क्षमता और प्रतिभा की परिचायक है। निस्सन्देह लेखक को कितनी अगाध और अपरिमित करुणा तथा सहानुभूति उँड़ेलकर ताई के चरित्र को निर्मित करना पड़ा होगा कि उससे मार खाकर भी, उससे गालियाँ सुनकर भी, उसे भयकर-से-भयंकर मुद्राओं में देखकर भी, हमारा स्नेह उस पर कम नहीं होता। वह मनुष्य के बच्चों को मारने के लिए पुतला बनाती है और बिल्ली के बच्चों को प्यार करने के लिए अपना 'नेम-धर्म' सब-कुछ छोड़ देती है। अन्त मे जब वह अपने पति को मारने के लिए 'मूठ' चलाती है, और फिर एकाएक जोर से 'नई नई नई' चीखती हुई बड़ी तेजी से और व्यग्रता से मन्त्र पढ़कर मूठ को अपने ऊपर लौट आने के लिए पुकारती है, तो उसके सस्कारों की ट्रेजेडी और व्यक्तित्व की गहराई एक साथ प्रकट हो जाती है। 'बूँद और समुद्र' का मूल उत्स और केन्द्र ताई और उसके चारों ओर का वह सारा सरल और उलझा हुआ, सस्कारनिष्ठ और सस्कारभ्रष्ट, परोपकारी और स्वार्थी, आत्मीय और निर्मम, परिवेश ही है जिसमे ताई उत्पन्न होती है, जीती है, और विलीन हो जाती है। यदि उपन्यास मूलत. उसी की जीवनगाथा और कार्यकलाप के घेरे को लेकर होता और उसकी मृत्यु के साथ समाप्त हो जाता, तो सम्भवतः कहीं अधिक सशक्त और सक्षम लगता। उसकी मृत्यु के बाद तो बाकी सब घटनाएँ उपसहार जैसी लगती हैं, उनमें अधिक सजीवता नहीं आ पाती।

यही बात सज्जन और वनकन्या के प्रेम तथा महिपाल और उसके जीवन की दुखान्त परिणति के बारे में नहीं कही जा सकती। यह अकारण नहीं कि जहाँ पहली दुनिया के चित्रण मे लेखक ने उसके निवासियों के सहज-सरल आचार-व्यवहार द्वारा जीवन की गहराई और उनके चरित्र की सूक्ष्मता प्रकट

की है, वहां सज्जन, महिपाल, वनकन्या, शीला, चित्रा आदि के साथ लेखक ने बेशुमार वादविवाद, चर्चा, विवेचन, विश्लेषण आदि का अम्बार लगा दिया है। पर फिर भी उनके जीवन में गहराई नहीं आ पाती। इन 'आधुनिक' पात्रों को हम उनके सहज वास्तविक जीवन्त रूप में, जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं के प्रति उनकी प्रतिक्रिया द्वारा, नहीं जानते; हम कहीं अधिक परिचित होते हैं उनके विचारों से, उनकी बौद्धिक मान्यताओं से, उनकी बहस और चर्चा से, अपने ही विषय में उनके आत्म-चिन्तन और आत्म-विश्लेषण से। इसलिए ये सब पात्र अवास्तविक और काल्पनिक लगने लगते हैं। उनके चरित्र की रेखाएँ धुँधली और अस्पष्ट हो जाती हैं, कहीं-कहीं अनियन्त्रित, असंगत और कलाहीन भी लगती हैं। उनका मानवीय रूप हमारे सामने उजागर नहीं होता, और यदि कहीं होता भी है तो वह बहुत ही क्षीण और प्राणहीन जैसा लगता है। यही कारण है कि बहुत-सा मनोविश्लेषण प्रस्तुत करने के बाद भी सज्जन और वनकन्या का प्रेम तथा उसे लेकर उनके मन का संघर्ष किताबी और सैद्धान्तिक लगता है; ठीक उसी प्रकार, जैसे महिपाल के मन की विकृति और उसकी अन्तिम परिणति आकस्मिक तथा सनसनीपूर्ण। इन चरित्रों के जीवन में एक विचित्र प्रकार की सूत्रहीनता, असम्बद्धता और संस्कारहीनता है, यद्यपि लेखक उन्हें, विशेषकर सज्जन और वनकन्या को, बड़ी सहानुभूति से अपने उपन्यास के मुख्य पात्र, नायक-नायिका, के रूप में प्रस्तुत करना चाहता है। सज्जन और वनकन्या को तो लेखक ने लगभग आदर्श चरित्रों के रूप में प्रस्तुत किया है, और सम्भवतः सारे उपन्यास में सज्जन और वनकन्या से अधिक 'भले' या 'शरीफ' चरित्र दूसरे नहीं हैं।

व्यक्तित्व के विकास और प्रतिफलन की दृष्टि से महिपाल के अंकन में भी नागरजी पर्याप्त सूक्ष्मता और अन्तर्द्वन्द्व नहीं दिखा सके हैं। यह ठीक है कि महिपाल के चरित्र में एक तरह के सन्तुलन के अभाव का तत्त्व लेखक ने शुरू से ही रखा है और इसी आधार पर एक ओर उसकी आदर्शवादिता तथा दूसरी ओर उसकी स्वार्थपरता को साथ-साथ दिखाने का यत्न किया है। किन्तु इस अंकन में आन्तरिक संगति नहीं है। 'बूँद और समुद्र' में महिपाल सबसे अधिक जागृत और आत्मसजग व्यक्ति है। उपन्यास के प्रारम्भ में ऐसा अनुभव होता है कि वह लेखक का प्रतिनिधित्व करता है। लगता है कि जीवन की गहरी पीड़ा में तपकर उसने वह ओजस्वी व्यक्तित्व और जीवन-दर्शन प्राप्त किया है, जो उसे एक प्रकार का बौद्धिक नेतृत्व प्रदान करता है। प्रारम्भ में उसकी बातों में ऐसी धार महसूस होती है जो प्रतिभा और जीवन के गहन अनुभव के बिना नहीं प्राप्त होती। ऐसा अनुभव होता है कि लेखक उसके चरित्र को एक ऐसे पृष्ठफलक के रूप में प्रस्तुत कर रहा है जिसके

परिप्रेक्ष्य में अन्य लोगों का व्यक्तित्व सुस्पष्ट उभरकर दिखायी पड़ेगा। किन्तु अचानक ही उसकी यह मूर्ति टूट जाती है। जब क्रमश: हम पारिवारिक जीवन को लेकर उसकी दुर्बलता, अनिश्चय और खीझ का चित्र देखते हैं, और फिर एक प्रकार के आत्मपलायन के रूप में डॉक्टर शीला मिश्र के साथ उसकी मैत्री तथा प्रेम-सम्बन्ध का परिचय पाते हैं, तो ऐसा अनुभव होता है कि उसकी सारी बातें शब्दाडम्बर मात्र थीं। अन्त में तो लेखक दिखाता है कि किस प्रकार वह सम्पन्न बनने के मोह में, समाज की रूढ़ियों के अनुसार अपनी भानजी तथा कन्याओं के विवाह करने के आकर्षण में तथा साधारण सुविधा और सम्पन्नता का जीवन बिताने के लालच से, धन चुराता है, अपने आदर्शवाद को तिलांजलि देता है, और अपने घनिष्ठ बन्धुओं से अलग होकर, बल्कि उनका तीव्र विरोध करके, जीवन में ऊँचा उठने की कोशिश करता है। यहाँ तक कि चरित्र की इस परिणति का अन्त आत्महत्या के अतिरिक्त लेखक के पास कुछ नहीं बचता। महिपाल के प्रारम्भिक और परवर्ती व्यक्तित्व में बहुत सार्थक आन्तरिक संगति नहीं है, न तो किसी उत्तरोत्तर विकास की ओर, न परस्पर-विरोधी तत्त्वों के किसी गहरे सूत्र द्वारा समंजन की। इसी से महिपाल के चरित्र में जोड़ लगे हुए जान पड़ते हैं। उसके व्यक्तित्व की गाँठ पकड़ में नहीं आती; न वह केन्द्र समझ में आता है जहाँ से उसके चरित्र के ये परस्पर-विरोधी सूत्र प्रारम्भ होते हैं। ऐसा अनुभव होता है कि लेखक उसका सही स्थान तथा महत्त्व अन्त तक ठीक से स्पष्ट नहीं पहचान सका। एक ओर लगता है कि वह सज्जन के साथ विसदृशता के लिए लाया गया है, पर दूसरी ओर वही बहुत-सी गहरी सैद्धान्तिक चर्चा भी करता है जो विभिन्न विषयों पर लेखक के, अपने, या कम-से-कम प्रबुद्ध वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण को प्रकट करती जान पड़ती है। महिपाल के दृष्टिकोण में जो धार है वह बहुत बार आत्मद्रोही या आत्मघाती होने का भाव नहीं उत्पन्न करती, इस कारण उसकी परवर्ती अधोमुखी परिणति ऊपर से आरोपित और यान्त्रिक लगती है।

महिपाल के चरित्र को यदि सज्जन के साथ रखकर देखें तो यह यान्त्रिकता लेखक की और भी बड़ी असफलता जान पड़ती है। इन दोनों में अधिक क्षमतावान और प्रखर महिपाल ही है। सज्जन उसकी तुलना में कहीं अधिक प्राणहीन और सार्थकताहीन चरित्र है, यद्यपि अन्त में लेखक ने उसे जैसे जीवन के आदर्श के रूप में प्रस्तुत कर दिया है। वास्तव में सज्जन का सन्तुलन खोखला लगता है, क्योंकि वह किसी मूलभूत नैतिक संघर्ष अथवा अन्तर्द्वन्द्व के ऊपर आधारित अथवा विकसित नहीं है। उसके जीवन में हर घटना जैसे सहज ही आसानी से, लेखक की इच्छानुसार होती जाती है। वह जो कुछ भी हाथ में लेता है, अन्त में उसमें सफल होता है, यद्यपि कहीं भी

उसके चरित्र में वह गहनता अथवा अनुभव या समझ की ऊँचाई नहीं है कि उसके जीवन को आदर्श माना जा सके या उसकी परिणति या सफलता को विश्वसनीय बना सके। महिपाल की तुलना में उसे जीवन में अधिक सफल दिखाने से कुछ ऐसा प्रभाव पड़ता है कि अधिक निकम्मे और अधिक अक्षम लोग ही, अधिक साधारण कोटि के लोग ही, अधिक सफल होते हैं। सज्जन की साधारणता लेखक के सारे प्रयत्नों के बावजूद पुस्तक में से बार-बार छलकती है, यद्यपि लेखक ने बड़ी धूमधाम से और बड़े गहरे रंगों में उसे अंकित किया है। उसका अन्तःसंघर्ष फार्मूलों के अनुसार है, और विरोधी तत्वों को केवल ऊपर से सँजो दिया गया है। इसीलिए उसके 'मूड' बड़े बचकाने और अस्वाभाविक लगते हैं, कुछ यह किताबी धारणा सिद्ध करने के प्रयत्न जैसे कि अचेतन मन की गूढ़ रहस्यमयी वृत्तियाँ किस प्रकार चेतन मन को नियन्त्रित करती रहती हैं। सज्जन के अन्तःसंघर्ष में इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों के पात्रों की मिथ्या मनोविश्लेषणपरक शैली का स्मरण होता है। यह उचित ही है कि लेखक वनकन्या के साथ सज्जन के व्यक्तित्व की टकराहट और उससे उत्पन्न तनाव को देख पाता है; पर उपन्यास में उसके लिए जो हेतु (मोटिवेशन) रखे गये हैं, वे अत्यन्त ही सतही और कृत्रिम हैं। अधिकतर उसके व्यक्तित्व का उद्घाटन वर्णन द्वारा होता है, सार्थक कार्यव्यापार द्वारा नहीं। सज्जन बड़ा प्रतिरूपी (टिपीकल) फिल्मी नायक है जिसमें बड़ी कमज़ोरियाँ है पर जो उन पर अन्त में विजयी होता है, समस्त विघ्न-बाधाओं के बावजूद अपने शत्रुओं का नाश करता है, और नायिका को प्राप्त ही नहीं करता, उसके हृदय को जीतने में भी सफल हो जाता है। उसे अपार धनी माता-पिता की एकमात्र सन्तान और कलाकार बनाकर तो नागरजी ने उसके फिल्मी नायक होने में बची-खुची कसर भी पूरी कर दी है।

यही बात वनकन्या के सम्बन्ध में भी है। साधारणतः जीवन के प्रति यथार्थवादी और वस्तुपरक दृष्टिकोण रखते हुए भी वनकन्या के चित्रण में लेखक अस्वाभाविक रूप से रोमैंटिक हो उठा है। सज्जन के साथ उसका प्रेम-सम्बन्ध कुछ अस्वाभाविक रूप से सरल तथा पवित्र बन गया है। उसे लेकर सज्जन और वनकन्या दोनों के मन में जो संघर्ष यदा-कदा दिखायी पड़ता है, वह भी बहुत ही फिल्मी ढंग का है। उसमें अन्तःसंघर्ष की वैसी तीव्रता और प्रबलता नहीं है, जो इस प्रकार के सम्बन्धों में अनिवार्य होती है। इसलिए वह कोई गहन जीवनदृष्टि की, अथवा मानव-मन के गहरे संकट की, छाप हमारे मन पर नहीं छोड़ता और नीति-कथाओं के अथवा फिल्मी कहानियों के संघर्ष और उनके सुखान्त समापन जैसा जान पड़ता है।

सच पूछा जाय तो आधुनिक व्यक्ति के भीतर इस खिंचाव को, उसके

गहन अन्तर्द्वन्द्व और आधुनिक जीवन की परिस्थितियों में उसके विघटन की, पकड़ नागरजी को नहीं है। यह बात वित्रा और शीला स्विंग के चरित्र में भी प्रकट होती है। दोनों ही एक प्रकार से असाधारण स्त्रियाँ हैं, क्योंकि दोनों ही पुरुष के साथ अपने सम्बन्ध के विषय में लीक से हटकर चलती और सोचती हैं। दोनों ही विद्रोहिणी हैं जो समाज के ढोंग और आडम्बर की शिकार होने पर अपने-अपने अलग-अलग ढंग से उसकी अवज्ञा करके चलती हैं। वे साधारण स्त्रियों से भिन्न हैं—कम-से-कम उनकी मूल परिकल्पना में बड़ी तीव्र भिन्नता की सम्भावनाएँ मौजूद हैं। पर मूलतः वह भिन्नता उनके मन के अन्तर्द्वन्द्व में ही प्रकट हो सकती थी; किसी सामान्य केन्द्र पर उनके चरित्र के दो सर्वथा विपरीत और विरोधी छोरों को एकाग्र कर देने से ही अभिव्यक्त हो सकती थी। नागरजी यह करने में सफल नहीं हुए हैं। इसलिए अत्यन्त सम्भावनापूर्ण होकर भी ये चरित्र फीके और एक ही सामान्य आयाम में अंकित दीख पड़ते हैं, और उनकी असाधारणता पूरी तीव्रता के साथ नहीं उभर पाती।

प्रसंगवश यह बात भी कही जा सकती है कि आधुनिक जीवन के किसी साधारण सहज मनुष्य को भी नागरजी प्रस्तुत नहीं कर सके हैं, न पुरुषों को, न स्त्रियों को। जितनी सूक्ष्मता और सहानुभूति के साथ नागरजी पुराने समाज के साधारण पात्रों को अंकित कर पाते हैं, वैसे आधुनिक समाज के पात्रों को नहीं। उनके आधुनिक पात्र या तो विरहेश अथवा चित्रा जैसे पतित हो सकते हैं या वनकन्या जैसे असाधारण। दूसरी ओर कर्नल और रामजी बाबा जैसे चरित्र अपने साधारण आडम्बर के बावजूद बड़े अच्छे लगते हैं। इन सबके अंकन में लेखक की सहज सहानुभूति और अन्तर्दृष्टि स्वाभाविक रूप से प्रकट होती है, क्योंकि वे सर्वथा उस पुराने जीवन के अंग न होकर भी, उससे कुछ-कुछ भिन्न होकर भी, अन्ततः हैं उसी के अधिक समीप, और इसीलिए लेखक के अधिक परिचित हैं।

यह बड़ी दिलचस्प स्थिति है कि इस बात में भी अमृतलाल नागर प्रेमचन्द से तुलनीय हैं। 'गोदान' में होरी और उसका परिवेश जितना अभूतपूर्व, यथार्थ और विश्वसनीय है, उतना शहरी प्रकरण नहीं। 'बूंद और समुद्र' में भी ताई और उसका परिवेश ही जीवन्त है, बाकी सब कमोबेश मात्रा में, उस परिवेश के साथ दूरी के अनुपात में, अर्द्ध-जीवन्त या मृतप्राय है। इसमें इतना आश्चर्य भी नहीं। अभी तक हमारे सामर्थ्यवान लेखक भी बीतते हुए युग में ही जीते हैं, वे मूलतः संक्रान्तिकाल के उस छोर पर खड़े हैं जहाँ से उन्हें डूबते सूरज के रंग ही स्पष्ट दिखायी देते हैं, दूर उगनेवाले प्रभात की चर्चा वे अपनी कल्पना के सहारे ही करते हैं, किसी जीवन्त अनुभूति के बल

पर नहीं। सम्भवतः प्रत्येक युग और प्रत्येक देश का संक्रान्तिकालीन लेखक इस कठिनाई का सामना करता है। और यदि वह स्वयं इस विषय में सजग रहे तो नये युग के इच्छापूर्तिपरक चित्रण से बच सकता है, कम-से-कम उस पर आग्रह करने से तो बच ही सकता है।

नागरजी की कला का यह अन्तर्विरोध 'बूँद और समुद्र' के बौद्धिक पक्ष में और भी तीव्रता से प्रकट होता है। इस उपन्यास में लेखक ने अनगिनती सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा अन्य सैद्धान्तिक प्रश्नों पर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं : कहीं किसी पात्र के माध्यम से उसके आत्मचिन्तन द्वारा, कहीं विभिन्न पात्रों के बीच विवेचन द्वारा, अथवा कहीं केवल परिस्थितियों के संघात द्वारा। अन्तिम अध्याय में लेखक ने अपने-आप भी अपने विचार रखे हैं।

मूलतः 'बूँद और समुद्र' में बूँद और समुद्र के, व्यक्ति और समूह के, स्वरूप, परस्पर सम्बन्ध-सहयोग और संघर्ष को खोजने और समझने का प्रयास है। सत्य बुनियादी तौर पर द्वन्द्वमूलक है; जीवन को उसकी द्वन्द्वात्मकता पहचाने बिना नहीं समझा जा सकता। यह द्वन्द्व जिस प्रकार व्यक्ति और समूह के बीच है, उसी प्रकार स्वयं व्यक्ति के भीतर भी है, और इकाई रूप में स्वयं समाज के भीतर भी है। और साथ ही ये द्वन्द्वग्रस्त व्यक्ति और समूह स्थिर नहीं हैं, निरन्तर गतिमान हैं, परिवर्तनशील हैं। इस प्रकार स्थिरता और गतिमानता के बीच भी एक अलग द्वन्द्व मौजूद है। यह बात उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण है कि सत्य की द्वन्द्वात्मकता के इन विभिन्न रूपों और स्तरों को, उनके पारस्परिक प्रभावों और सम्बन्धों को, एक साथ ही नागरजी अपने इस उपन्यास में खोजने का प्रयास करते हैं। बाबा रामजी एक जगह वनकन्या से कहते हैं : "हर बूँद का महत्त्व है क्योंकि वही तो अनन्त सागर है, एक बूँद भी व्यर्थ क्यों जाय ? उसका सदुपयोग करो।" पर यह सदुपयोग हो कैसे ? "कैसे यह बूँद अपने-आपको महासागर अनुभव करे ? इस विशाल जनसागर में वह नितान्त अकेली है। उसका कोई अपना नहीं। ऐसा लगता है जैसे उसके चारों ओर सागर सीमा बाँधकर लहरा रहा है और वह एक बूँद सागर से अलग रेत में घुलती चली जा रही है। और केवल उसकी ही यह हालत हो सो बात भी नहीं। हर व्यक्ति आमतौर पर इसी तरह अपनी बहुत छोटी-छोटी सीमाओं में रहता हुआ एक-दूसरे से अलग है'''आदर्श का यदि महत्त्व है तो सबके लिए उसका मूल्य समान हो, यह क्योंकर सम्भव नहीं ? बड़ी बूँद हो, छोटी बूँद हो, नन्ही जैसी बूँद ही क्यों न हो, यह छोटाई-बड़ाई नैतिक मापदण्ड के लिए कोई मूल्य नहीं रखती। वह मात्र यही देखता है कि बूँद में, प्रत्येक अणु में, सत्य के लिए निष्ठा कितनी है।"

स्पष्ट ही लेखक की सहानुभूति पुराने दकियानूसी विचारों, अन्धविश्वासों और मान्यताओं के साथ नहीं; किन्तु मनुष्य का धर्म, नये युग का धर्म, परम्परा से प्राप्त नयी शक्ति के आधार पर ही, आत्मविश्वास के आधार पर ही, बन सकता है। पर आज हमें वह आत्मविश्वास प्राप्त नहीं। इस अभाव का एक बड़ा कारण लेखक राजनीतिक पार्टियों को बताता है। एक जगह उसने लिखा है कि सब पार्टियाँ अधिकांश में एक एक से बढ़कर आकांक्षा वाले जालसाज, दम्भी और मगरूरों द्वारा अनुशासित हैं; आदर्श और सिद्धान्त तो महज शिकार खेलने के लिए आड़ की टट्टियाँ हैं। ये राजनीतिक पार्टियाँ या तो पुरानी रूढ़ियों को देश के ऊपर लादना चाहती हैं या विदेशी परम्पराओं को। इनमें से किसी पार्टी को भी, बल्कि राजनीति मात्र को, लेखक प्रगतिशील नहीं मानता। उसका विश्वास है कि रूढ़िगत अथवा राजनीतिजन्य अन्धविश्वासों और भ्रान्तियों से जकड़े हुए जनजीवन को केवल अपने देश से प्रेम करनेवाले बुद्धिजीवी ही रास्ता दिखा सकते हैं। पर यह काम बुद्धिजीवी तभी कर सकेंगे जब एक ओर उन्हें अपने देश की परम्परागत सृजनात्मक शक्तियों पर अभिमान हो और दूसरी ओर आज के युग की आवश्यकताओं की पकड़ भी। नागरजी चाहते हैं कि "मनुष्य का आत्मविश्वास जागना चाहिए, उसके जीवन में आस्था जागनी चाहिए। मनुष्य को दूसरों के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख मानना चाहिए। विचारों में भेद हो सकता है, विचारों के भेद से स्वस्थ द्वन्द्व होता है और उससे उत्तरोत्तर उसका समन्वयात्मक विकास भी। पर शर्त यह है कि सुख-दुःख में व्यक्ति का व्यक्ति से अटूट सम्बन्ध बना रहे—जैसे बूंद से बूंद जुड़ी रहती है—लहरों से लहरें। लहरों से समुद्र बनता है—इस तरह बूंद में समुद्र समाया है।"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि विभिन्न विचारधाराओं के प्रबल संघर्ष के इस युग में यह उपलब्धि एक संवेदनशील लेखक और बुद्धिजीवी के लिए महत्त्वपूर्ण है। बल्कि एक प्रकार से रास्ता दिखा सकने में निरन्तर सहायक हो सकती है। किन्तु साथ ही यह बात भी भुलायी नहीं जा सकती कि इस उपन्यास में यह उपलब्धि बड़ी सरल जान पड़ती है। जब तक वह जीवन के तीव्र संघर्ष और घात-प्रतिघात से उत्पन्न न हो तब तक वह निरे शब्दजाल से अधिक कुछ नहीं। इस बात का बड़ा भारी भय है कि वह भी एक अन्य विचारधारा बनकर रह जाय, जिसके पीछे सदाशयता हो तो हो, जीवन की अनुभूति नहीं।

यह बात इसलिए विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि 'बूंद और समुद्र' उपन्यास अनुभूति और कलात्मकता के स्तर पर इस उपलब्धि की ओर ले जाता हुआ नहीं जान पड़ता। लेखक उसे जीवन के संघर्ष में से उद्भूत दिखाने

पर नहीं। सम्भवतः प्रत्येक युग और प्रत्येक देश का संक्रान्तिकालीन लेखक इस कठिनाई का सामना करता है। और यदि वह स्वयं इस विषय में सजग रहे तो नये युग के इच्छापूर्तिपरक चित्रण से बच सकता है, कम-से-कम उस पर आग्रह करने से तो बच ही सकता है।

नागरजी की कला का यह अन्तर्विरोध 'बूँद और समुद्र' के बौद्धिक पक्ष में और भी तीव्रता से प्रकट होता है। इस उपन्यास में लेखक ने अनगिनती सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा अन्य सैद्धान्तिक प्रश्नों पर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं · कहीं किसी पात्र के माध्यम से उसके आत्मचिन्तन द्वारा, कहीं विभिन्न पात्रों के बीच विवेचन द्वारा, अथवा कहीं केवल परिस्थितियों के संघात द्वारा। अन्तिम अध्याय में लेखक ने अपने-आप भी अपने विचार रखे हैं।

मूलतः 'बूँद और समुद्र' में बूँद और समुद्र के, व्यक्ति और समूह के, स्वरूप, परस्पर सम्बन्ध-सहयोग और संघर्ष को खोजने और समझने का प्रयास है। सत्य बुनियादी तौर पर द्वन्द्वमूलक है; जीवन को उसकी द्वन्द्वात्मकता पहचाने बिना नहीं समझा जा सकता। यह द्वन्द्व जिस प्रकार व्यक्ति और समूह के बीच है, उसी प्रकार स्वयं व्यक्ति के भीतर भी है, और इकाई रूप में स्वयं समाज के भीतर भी है। और साथ ही ये द्वन्द्वग्रस्त व्यक्ति और समूह स्थिर नहीं हैं, निरन्तर गतिमान है, परिवर्तनशील हैं। इस प्रकार स्थिरता और गतिमानता के बीच भी एक अलग द्वन्द्व मौजूद है। यह बात उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण है कि सत्य की द्वन्द्वात्मकता के इन विभिन्न रूपों और स्तरों को, उनके पारस्परिक प्रभावों और सम्बन्धों को, एक साथ ही नागरजी अपने इस उपन्यास में खोजने का प्रयास करते हैं। बाबा रामजी एक जगह वनकन्या से कहते हैं : "हर बूँद का महत्त्व है क्योंकि वही तो अनन्त सागर है, एक बूँद भी व्यर्थ क्यों जाय ? उसका सदुपयोग करो।" पर यह सदुपयोग हो कैसे ? "कैसे यह बूंद अपने-आपको महासागर अनुभव करे ? इस विशाल जनसागर में वह नितान्त अकेली है। उसका कोई अपना ,नहीं। ऐसा लगता है जैसे उसके चारो ओर सागर सीमा बांधकर लहरा रहा है और वह एक बूंद सागर से अलग रेत में घुलती चली जा रही है। और केवल उसकी ही यह हालत हो सो बात भी नहीं। हर व्यक्ति आमतौर पर इसी तरह अपनी बहुत छोटी-छोटी सीमाओं में रहता हुआ एक-दूसरे से अलग है…आदर्श का [illegible] तो सबके [illegible] मूल्य समान हो,' यह क्योंकर सम्भव [illegible] हो, [illegible] नन्हीं जैसी बूंद ही क्यों न हो, [illegible] नैतिक [illegible] कोई मूल्य नहीं रखती। वह [illegible] बूंद [illegible] सत्य के लिए निष्ठा कितनी है।"

स्पष्ट ही लेखक की सहानुभूति पुराने दकियानूसी विचारों, अन्धविश्वासों और मान्यताओं के साथ नहीं; किन्तु मनुष्य का धर्म, नये युग का धर्म, परम्परा से प्राप्त नयी शक्ति के आधार पर ही, आत्मविश्वास के आधार पर ही, बन सकता है। पर आज हमें वह आत्मविश्वास प्राप्त नहीं। इस अभाव का एक बड़ा कारण लेखक राजनीतिक पार्टियों को बताता है। एक जगह उसने लिखा है कि सब पार्टियाँ अधिकांश में एक एक से बढ़कर आकांक्षा वाले जालसाज, दम्भी और मगरूरों द्वारा अनुशासित हैं; आदर्श और सिद्धान्त तो महज शिकार खेलने के लिए आड़ की टट्टियाँ हैं। ये राजनीतिक पार्टियाँ या तो पुरानी रूढ़ियों को देश के ऊपर लादना चाहती हैं या विदेशी परम्पराओं को। इनमें से किसी पार्टी को भी, बल्कि राजनीति मात्र को, लेखक प्रगतिशील नहीं मानता। उसका विश्वास है कि रूढ़िगत अथवा राजनीतिजन्य अन्धविश्वासों और भ्रान्तियों से जकड़े हुए जनजीवन को केवल अपने देश से प्रेम करनेवाले बुद्धिजीवी ही रास्ता दिखा सकते हैं। पर यह काम बुद्धिजीवी तभी कर सकेंगे जब एक ओर उन्हें अपने देश की परम्परागत सृजनात्मक शक्तियों पर अभिमान हो और दूसरी ओर आज के युग की आवश्यकताओं की पकड़ भी। नागरजी चाहते हैं कि "मनुष्य का आत्मविश्वास जागना चाहिए, उसके जीवन में आस्था जागनी चाहिए। मनुष्य को दूसरों के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख मानना चाहिए। विचारों में भेद हो सकता है, विचारों के भेद से स्वस्थ द्वन्द्व होना है और उससे उत्तरोत्तर उसका समन्वयात्मक विकास भी। पर शर्त यह है कि सुख-दुःख में व्यक्ति का व्यक्ति से अटूट सम्बन्ध बना रहे—जैसे बूँद से बूँद जुड़ी रहती है—लहरों में लहरें। लहरों से समुद्र बनता है—इस तरह बूँद में समुद्र समाया है।"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि विभिन्न विचारधाराओं के प्रबल संघर्ष के इस युग में यह उपलब्धि एक संवेदनशील लेखक और बुद्धिजीवी के लिए महत्त्वपूर्ण है। बल्कि एक प्रकार से रास्ता दिखा सकने में निरन्तर सहायक हो सकती है। किन्तु साथ ही यह बात भी भुलायी नहीं जा सकती कि इस उपन्यास में यह उपलब्धि बड़ी सरल जान पड़ती है। जब तक वह जीवन के तीव्र संघर्ष और घात-प्रतिघात में उत्पन्न न हो तब तक वह निरे शब्दजाल से अधिक कुछ नहीं। इस बात का बड़ा भारी भय है कि वह भी एक अन्य विचारधारा बनकर रह जाय, जिसके पीछे सदाशयता हो तो हो, जीवन की अनुभूति नहीं।

यह बात इसलिए विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि 'बूँद और समुद्र' उपन्यास अनुभूति और कलात्मकता के स्तर पर इस उपलब्धि की ओर ले जाता हुआ नहीं जान पड़ता। लेखक उसे जीवन के संघर्ष में से उद्भूत दिखाने

की बजाय अन्त में वह 'कन्विक्शन', वह 'आर्टिज़्म' करने को बाध्य होता है। कहानी स्तर के ऐसे 'कम्युनिस्टिक' सिद्धान्त-वाचन आवश्यक ही नहीं रह जाते। इसका मूल कारण, जैसा कि पहले भी कहा गया है, यह है कि समूचे उपन्यास में जैसी सहानुभूति और आत्मीयता लेखक ने पिछले युग के जीवन-संघर्ष के चित्रण में, उसकी पीड़ाएँ, उसकी पीड़ा और उसकी आकांक्षा के चित्रण में प्रकट की है, वैसी आधुनिक जीवन के चित्रण में वह नहीं कर सका। पुस्तक के अन्त में किन्हीं पात्रों के बारे में यह कह देना कि 'एक महान लेकर अपने छोटे-से क्षेत्र में मानवता का दर्शन करने के लिए कर्मरत हो गये," पर्याप्त नहीं है। अन्य श्रेष्ठ आदर्शों की भाँति यह उपलब्धि भी यदि ऊपर से आरोपित है और अनुभूतिजन्य नहीं है तो वह केवल खोखले और सस्ते आत्मसन्तोष को ही जन्म दे सकती है। सज्जन और वनकन्या बहुत हद तक इसी भाँति आत्मसन्तोष के प्रतीक लगते हैं। वे आधुनिक जीवन की विषमता का सामना ही नहीं करते, उनका संघर्ष आज के व्यक्ति का संघर्ष नहीं है, न वैयक्तिक स्तर पर, न सामूहिक स्तर पर। आदर्शों और भौतिक परिस्थितियों के बीच, मान्यताओं और आचरण के बीच, युद्ध और शान्ति के बीच, सृष्टि और संहार के बीच, जैसा भीषण संघर्ष आज सामाजिक जीवन और व्यक्ति-व्यक्ति के मन में छिड़ा हुआ है, उसका आभास भी सज्जन और वनकन्या की चेतना में नहीं है। बल्कि रामजी बाबा के रूप में जिस समाधान की ओर लेखक इंगित करता जान पड़ता है, वह चाहे जितना रोचक हो, प्रेमचन्द के 'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रम' से केवल एक-दो कदम से अधिक आगे नहीं है। निस्सन्देह यह आवश्यक नहीं है कि लेखक किसी भी समस्या का समाधान प्रस्तुत करे ही। पर 'बूँद और समुद्र' तो आग्रहपूर्वक जीवन की मूलभूत समस्याएँ उठाने और उनके समाधान खोजने की बात करता है। ऐसी स्थिति में उनका कैसा निर्वहण उपन्यास में हुआ है, इसका मूल्यांकन अनिवार्य हो जाता है। ऐसे मूल्यांकन की कसौटी पर 'बूँद और समुद्र' बहुत खरा नहीं उतरता।

वास्तव में 'बूँद और समुद्र' उपन्यास परोक्ष रूप में आज के बुद्धिजीवी के इस तीव्र मानसिक संकट की एक बड़ी ही महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति है। वह आज के जीवन की कृत्रिमता, पाखण्ड और स्वार्थपरता से अपनी संवेदन-
[illegible] चौंकता है और उनसे बचने का यत्न करता है; किन्तु
[illegible] जीवन में परम्परागत सृजनात्मक शक्तियों और आधुनिक
[illegible] तथा समस्याओं का ऐसा बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक
[illegible] सी निश्चित मार्ग की उपलब्धि कर सके। इसलिए
[illegible] ओर जाती है, और बौद्धिक मान्यताएँ दूसरी ओर।

यदि किसी प्रकार अपनी बौद्धिक मान्यताओं को वह किसी आदर्श की ओर उन्मुख भी कर पाता है, तो अन्त में उसे यही पता चलता है कि वह प्रेरणा अवास्तविक और खोखली थी। अमृतलाल नागर भी इस उपन्यास में इस विषम स्थिति से उबर नहीं पाये हैं, यद्यपि यह मानना पड़ेगा कि इस विषय में उनकी खोज और उनकी ईमानदारी से किसी को इन्कार नहीं हो सकता।

'बूँद और समुद्र' के कथ्य का यह अन्तर्विरोध उसके रूपबन्ध और गठन में भी मौजूद है। अमृतलाल नागर हिन्दी के बड़े क्षमतावान शिल्पी हैं। उनके कथा कहने के ढंग में ऐसा अनूठापन और आकर्षण है कि उनकी किसी भी रचना को एक बार शुरू करने पर छोड़ना कठिन होता है। विशेषकर इस रचना में उनका परम्परागत जीवन का अध्ययन और अवलोकन इतना सूक्ष्म और गहरा है, और उसको मूर्त रूप देने की क्षमता ऐसे अपूर्व रूप में प्रकट हुई है, कि हिन्दी में उनका सानी नहीं। वह बड़े सहज भाव से एक के बाद एक ऐसे चित्र उभारते चले जाते हैं जिनकी आत्मीयता और सहानुभूति से कोई अछूता नहीं रह सकता। किसी क्षेत्र की बोली की पुनर्सृष्टि में भी वह अद्वितीय हैं, और किसी भी प्रसंग को अपनी भाषा और शैली के चमत्कार से स्मरणीय बना दे सकते हैं। पर लगता है कि 'बूँद और समुद्र' में यह सहजता और क्षमता ही उनकी कठिनाई और सीमा बन गयी है। वह किसी भी प्रसंग को उठाकर उसके वर्णन के रस में स्वयं इतने डूब जाते हैं कि सम्पूर्ण उपन्यास के सन्दर्भ में उसकी स्थिति और आनुपातिक सार्थकता का उन्हें ध्यान नहीं रहता। इसलिए प्रत्येक छोटे-से-छोटा वर्णन भी स्वतन्त्र रूप से अत्यन्त रोचक और चमत्कारपूर्ण हो उठता है और समग्र रचना की अन्विति को तोड़ देता है। सज्जन-वनकन्या की वृन्दावन-बरसाना-यात्रा, राजा द्वारकादास का जलसा, महिला सेवामण्डल का भण्डाफोड़, ताई द्वारा राधा-कृष्ण का विवाह, चित्रों की प्रदर्शनी आदि ऐसे अनगिनती स्थल हैं, जहाँ रोचकता और वर्णन की विशदता के लिए पूरी रचना के समन्वित प्रभाव की बलि चढ़ा दी गयी है। ऐसे सब प्रसंग अपने-आप में स्वतन्त्र रेखाचित्र-जैसे हो जाते हैं। फलस्वरूप पूरी रचना के गठन में अनुपात और अन्तःसम्बन्ध की शिथिलता बेहद खलती है। विभिन्न कथा-सूत्रों के बीच—उनके भी अन्तर्गत उप-प्रसंगों, विवरणों और वर्णनों के बीच, कलात्मक-सौन्दर्यात्मक सन्तुलन और संयम नहीं रह पाया है। लेखक इतनी मधुरता की सृष्टि करता है कि वह कड़वी लगने लगती है। साथ ही नागरजी के इस संसार में सरस हरियाली के पास ही बीच-बीच में उजाड़ बंजर प्रदेशों की भी कमी नहीं। 'बूँद और समुद्र' के सबसे बोझिल और अनावश्यक अंश उसके लम्बे-चौड़े वाद-विवाद अथवा आत्म-विश्लेषणात्मक स्थल ही हैं। विशेष रूप से जहाँ लेखक ने विभिन्न विषयों से

सम्बन्धित अपनी जानकारी को किसी पात्र के माध्यम से कहने का यत्न किया है, वहाँ वह बहुत ही नीरस और अरोचक हो गया है। 'बूंद और समुद्र' ऐसा उपन्यास है जो संक्षिप्त होकर निश्चय ही अधिक तीव्र और प्रखर हो सकता है।

यह असमता और अन्विति का अभाव उसमें शैली के स्तर पर भी है। लेखक की मुख्य पद्धति यथार्थवादी है, पर बीच-बीच में वह अतिशयोक्ति और अयथार्थवादी युक्तियों का सहारा लेता है जिससे विसंगति पैदा होती है। संयत यथार्थवाद के साथ कार्टून-जैसी पद्धति सदा मेल नहीं खाती। नागरजी प्रथम कोटि के किस्सागो शैली के लेखक हैं और 'बूंद और समुद्र' के एक अंश के लिए उनकी वह शैली बहुत ही उपयुक्त भी है। कहीं-कहीं उनके वर्णन 'चन्द्रकान्ता' शैली की याद दिलाते है और बड़े चमत्कारपूर्ण भी लगते हैं। पर सम्पूर्ण उपन्यास में शैलीगत सामंजस्य नहीं है। कहीं वह ऐसे वर्णन करते है, जैसे घटनाएँ इसी समय सामने घट रही हों, कहीं इस प्रकार जैसे अतीत में घट चुकी हों, कहीं किस्सागो के ढंग से, कहीं मनोवैज्ञानिक विश्लेषणात्मक ढंग से। पूरे उपन्यास के रूपबन्ध में इससे विषयानुकूल विविधता के बजाय स्वर का बिखरीपन और वैषम्य, प्रभाव का ऊबड़-खाबड़पन और वातावरण का टूटना-बनना ही अधिक उभरता है।

निस्सन्देह यह सम्पूर्ण विश्लेषण इस परिप्रेक्ष्य में ही है कि 'बूंद और समुद्र' युद्धोत्तर हिन्दी-उपन्यास की एक महत्त्वपूर्ण और सशक्त कृति है जो अपनी अपूर्व उपलब्धि के कारण ही मूल्यांकन के स्तर को अधिक ऊँचा और कठोर रखने की माँग करती है। उसमें निश्चित रूप से इस दौर की सर्वश्रेष्ठ कथाकृति बनने की पूरी सम्भावना थी और अमृतलाल नागर के पास उस दायित्व को निभाने योग्य पर्याप्त सामर्थ्य भी है। इस बात से बड़ी गहरी निराशा ही होती है कि यह उपन्यास उस स्तर तक नहीं पहुँच सका। फिर भी, अपनी समस्त दुर्बलताओं के बावजूद, वह पिछले दस-पन्द्रह वर्षों के सबसे महत्त्वपूर्ण उपन्यासों में गिना जाने योग्य है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

७ | बाह्य का विस्तार : 'झूठा सच'

काल-प्रवाह मे इतिहास के कुछ क्षण ऐसे होते हैं जिनमे अचानक ही एक साथ कई युग सिमट आते हैं और जिनमे अकस्मात मन का ऐसी सर्वथा अकल्पनीय अनुभूतियों से साक्षात्कार हो जाता है जिनकी छाप परवर्ती युगों मे पीढियों तक बनी रह जाती है। संवेदनशील सर्जनात्मक प्रतिभा के लिए ऐसे युगक्षण सदा ही चुनौती बनते हैं। क्योंकि एक ओर तो उन क्षणों मे उसे मानव-चेतना के ऐसे रूप दिखायी पड़ जाते हैं जो साधारणतया सुलभ नही, और इसलिए उन्हें किसी कलात्मक रूप में लिपिबद्ध करने का बडा तीव्र आकर्षण होता है, दूसरी ओर ऐसे क्षणो मे एक साथ ही इतना कुछ पुंजीभूत और केन्द्रित होकर घटित होता है कि उसमे से सार्थक और निरर्थक का चयन असम्भव नही तो कठिन अवश्य हो जाता है। इसके अतिरिक्त ऐसे समय घटनाओं, भावो, विचारो, अनुभूतियों की गति मे इतनी तीव्रता रहती है कि उन्हें किसी परिप्रेक्ष्य मे, किसी विवेकपूर्ण क्रम मे रखना दुष्कर होता है। फलस्वरूप ऐसे क्षणो को अपनी विषयवस्तु बनाने वाली कृतियाँ प्रायः तथ्यों के ढेर मे अपनी निजी सत्ता खो बैठती है, और मानवीय दस्तावेज के बजाय सूचना-संग्रह मात्र रह जाती हैं। इसलिए किसी समुदाय, देश या समाज के जीवन मे आनेवाले ऐसे उपप्लावन उनके प्रति संवेदनशील कलाकार के मन मे अनिवार्य रूप से अन्तर्द्वन्द्व और कभी-कभी अन्तर्विरोध की सृष्टि करते है : वह बहुत आकर्षित होते हुए भी उनको अपनी रचना की विषयवस्तु नही बना पाता, या बना डालता है, पर फिर अपने प्रयास मे सफल या उससे सन्तुष्ट नही हो पाता। स्वाधीनता के बाद देश के विभाजन को लेकर लिखा गया यशपाल का वृहद उपन्यास 'झूठा सच' ऐसे अन्तर्द्वन्द्व या अन्तर्विरोध का बड़ा महत्त्वपूर्ण उदाहरण है।

'झूठा सच' अपने दो खण्डो मे १९४२ से १९५७ तक के कालखण्ड को

झूठा सच (प्र० सं० १९५८; द्वि० सं० १९६०)—लेखक : यशपाल; प्रकाशक : विप्लव कार्यालय, लखनऊ; पृष्ठ ५३७ और ७०९।

निस्सन्देह इतिहास के ऐसे विस्फोटक क्षण को अपने सर्जनात्मक कार्य की विषयवस्तु बनाकर लेखक ने उस चुनौती को पूरी तरह स्वीकार किया है जिसका प्रारम्भ में उल्लेख हुआ था। कई दृष्टियों से इस कार्य के लिए यशपाल हिन्दी में सबसे सक्षम, उपयुक्त और सुसज्जित कथाकार हैं . उनके पास व्यापक जीवन की गति को समझने के लिए उपयुक्त ऐतिहासिक दृष्टि है; उनका ज़िन्दगी के विभिन्न पक्षों का अवलोकन-निरीक्षण विस्तृत और समृद्ध है; उनमें विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक शक्तियों और प्रभावों को अलग-अलग, एक साथ और उनके पारस्परिक सम्बन्धों में, देखने की रुचि भी है, प्रवृत्ति भी; उनके भीतर का सजग प्रखर व्यंग्यकार उन्हें कभी किसी स्थिति के साथ सर्वथा एकाकार हो जाने से बचाये रखता है और बहुत सकीर्ण अर्थ में पक्षधर नहीं होने देता; उनमें एक प्रकार की मूर्तिभंजकता और साहसिकता है जिसके कारण वह बड़ी-से-बड़ी प्रतिमा को भी खण्डित करने में नहीं झिझकते; उनकी सहानुभूति, विशेषकर पीड़ित-दलित, लांछित-प्रताडित जन-समुदाय से, बड़ी सहज और व्यापक है। 'झूठा सच' में यशपाल अपनी इन क्षमताओं का भरपूर उपयोग करते हैं। विभाजन-जैसी सर्वग्राही घटना को उन्होंने उसकी आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सास्कृतिक और वैयक्तिक समग्रता में, साथ ही उसकी गतिमानता में, देखने का प्रयास किया है। इस राजनीतिक घटना की जड़ों को देखने-समझने के लिए लेखक ने पहले खण्ड में साम्प्रदायिकता के विष के बढ़ने की विभिन्न अवस्थाओं का, उसके विभिन्न सामाजिक-राजनीतिक-वैयक्तिक स्तरों का, उसके बारे में विभिन्न प्रतिक्रियाओं तथा उसके विभिन्न स्थूल-सूक्ष्म रूपों और स्थितियों का, प्रस्तुतीकरण किया है। उसने न तो साम्प्रदायिकता के आर्थिक-राजनीतिक पक्ष से बचने की कोशिश की है, न धार्मिक पक्ष से। इस भाँति विभाजन की पृष्ठभूमि को, विशेषकर उसके सामाजिक पक्ष को, वह बड़ी विशदता से उपन्यास में प्रस्तुत कर सका है।

एक प्रकार से यह विशदता, जीवन की विविधता, ही यशपाल के कथा-साहित्य की महत्त्वपूर्ण और सर्वप्रमुख उपलब्धि है। इस अर्थ में कहा जा सकता है कि मानव-स्वभाव के अनगिनती रूपों के दर्शन उनके इस उपन्यास में होते हैं, विशेषकर जीवन की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों को बड़े विस्तार से अंकित किया गया है—पहले खण्ड में भोला पांधे की गली और सारे लाहौर की राजनीतिक-सामाजिक ज़िन्दगी का, तथा विभाजन के साथ ही उसके टूटने, बिखरने और चूर-चूर हो जाने का; और दूसरे खण्ड में, विभाजन के तुरन्त बाद से अगले आठ-दस वर्ष तक, दिल्ली के अस्त-व्यस्त, केन्द्र-विच्युत, जनाकीर्ण जीवन का। यह वर्णन इतना अधिक 'यथार्थ' और

'प्रामाणिक' है कि एक पूरे युग का विवरण मिल जाता है, जैसे बड़ी ही सावधानी और सिद्धहस्त निपुणता से असंख्यों की अनगिनती कतरनें एक विशेष क्रम से सँजो दी गयी हों। निस्सन्देह पहले खण्ड के इन जीवन-चित्रों में मार्मिकता, स्वाभाविकता अधिक है, जीवन का सहज रंग अधिक प्रवाहित जान पड़ता है, स्थान-स्थान पर ऐसी कचोट और व्यथा भी है जिसे एक कलाकार ही देख और उजागर कर सकता है। दूसरे खण्ड में घटनाओं की उग्रता, पाशविकता और अकल्पनीय तीव्रता अधिक उभरकर सामने आयी है, कथा और प्रसंगों में अनगिनती सूत्र उलझे दीख पड़ते हैं जिनमें गहनता तो नहीं पर फैलाव अवश्य ही बहुत है, चाहे वह फैलाव भी विशृंखल ही हो, किसी सम्पूर्णता को स्थापित न कर पाता हो। 'झूठा सच' में यशपाल की क्षमता की बहुत-सी विशेषताओं से—कहानी गढ़ने और कहने की सामर्थ्य, एक विशेष प्रकार की रोचकता और उसकी चमक, विषमता और पाखण्ड के ऊपर चुभते हुए तीखे पैने व्यंग्य, राजनीतिक आन्दोलनों को सामाजिक यथार्थ के अन्य पक्षों के साथ समेटते चलने के कौशल, आदि से—एक नये रूप में साक्षात्कार होता है। और ये सब विशेषताएँ किसी हद तक इसको हिन्दी-उपन्यास में एक खास दर्जा भी देती हैं।

लेखक ने अपने इस उपन्यास को 'झूठा सच' कहा है। एक तो इसलिए कि तारा का सोमराज की पत्नी होना सच होकर भी सच नहीं है। विवाह की पहली ही रात को सोमराज द्वारा वह अपमानित तथा पीड़ित-प्रताड़ित ही होती है, स्थूल अर्थ में भी उसकी पत्नी नहीं बनती। और उसके बाद तो गली में दंगा होने के कारण वह मकान से कूदकर भाग निकलती है और फिर उस तूफान में पड़कर बहुत-कुछ सहती-भोगती दिल्ली पहुँचकर अन्त में नये सिरे से अपने जीवन को गढ़ती है। किन्तु सोमराज से औपचारिक विवाह एक बार फिर उसके अपमान और पराजय और आघात का कारण बनने को है कि वह उस 'झूठे' सच से किसी प्रकार मुक्ति पा जाती है। नैयर कहता है, "घटना तो झूठ-सच नहीं होती, झूठ-सच तो घटना को प्रकट करने के प्रयोजन में होता है। मूल सत्य को प्रकट करने के लिए प्रयत्न करना या उसे जमाना भी आवश्यक होता है। सच को बल देने के लिए साक्षी आवश्यक होती है।"

यह उद्धरण एक प्रकार से यशपाल की विशेष कला-दृष्टि को सूचित करता है—सत्य को 'जमाना' या उसको बल देने के लिए 'साक्षी' जुटाना। इस कथन में ही दृष्टि के उस सरलीकरण के बीज हैं जो यशपाल को सत्य की जटिलता को देखने से रोकता है, जो उनके 'सच' को अन्ततः सीमित, एकांगी, जमाया हुआ, दूसरे शब्दों में बहुत-कुछ 'झूठा' बना देता है। वह जिस

खण्ड-सत्य को सम्पूर्ण सत्य मान लेते है, उसे 'जमाने' मे कोई कोर-कसर नही छोड़ते और इस प्रक्रिया मे उसे अधिकाधिक आंशिक बनाते जाते हैं। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप एक प्रकार का आवेश उनके लेखन मे अवश्य आता है, एक प्रकार की भाव-ऊष्मा, जो उनका विशेष रग है। पर रचना की शक्ति, उसकी निर्मम, निरपेक्ष अनिवार्यता नष्ट नहीं तो शिथिल अवश्य हो जाती है।

इस उपन्यास मे भी उन्होने अपने सच को जमाने का भरसक प्रयत्न किया है। तारा के सोमराज से स्वतन्त्र व्यक्तित्व को स्थापित करने के लिए अनगिनती स्थितियाँ, घटनाएँ जुटायी गयी है। इसीलिए अन्ततः तारा की कहानी भी यशपाल के एक अन्य उपन्यास 'मनुष्य के रूप' की सोमा की कहानी की भाँति, एक सफलता-कथा बनकर रह गयी है। तरह-तरह की परिस्थितियो और लाछनाओ को पार करती हुई तारा एक ओर सफलतापूर्वक भारत सरकार मे अण्डर-सेक्रेटरी बन जाती है और दूसरी ओर उसे डॉक्टर प्राणनाथ का सर्वथा निस्वार्थ एकान्त प्रेम भी प्राप्त हो जाता है। इसके सम्पूर्ण प्रतिफलन मे भी दो बाधाएँ आती हैं। एक तो यह कि लाहौर से दिल्ली तक की अपनी पीड़ाभरी यात्रा मे एक मुसलमान द्वारा बलात्कार के फलस्वरूप उसे एक जघन्य यौन-व्याधि लग गयी है और वह इस कारण अपने को इस योग्य नही समझती कि डॉक्टर नाथ से विवाह की कल्पना भी करे। दूसरी ओर इसका इलाज भी कैसे हो? इसमे तो अपवाद का भय है। इसका हल यह निकलता है कि डॉक्टर नाथ सहर्ष उससे विवाह करके उसे विदेश ले जाते हैं और वहाँ सफलतापूर्वक इस व्याधि से मुक्ति पाकर दोनो स्वदेश लौट आते हैं। दूसरी बाधा यह उत्पन्न होती है कि तारा के भाई जयदेव पुरी के उकसावे और सहयोग से सोमराज तारा पर अपनी पत्नी होने का दावा करता है। फलस्वरूप सरकारी कर्मचारी होकर भी ऐसा अनैतिक कार्य करने के लिए डॉक्टर नाथ और तारा के आचरण की जाँच होने लगती है और यह आशका होती है कि दोनों को सरकारी नौकरी से हाथ न धोना पड़े। पर उपन्यास के अन्त मे तारा और डॉक्टर नाथ भी 'एक्ज़ानेरेट' (दोषमुक्त) हो जाते हैं और कोई कठिनाई नही बचती। जितने दुष्ट लोग हैं उन सबको अपने किये का फल मिलता है, और भले लोगो पर आयी हुई विपता का आखिरकार अन्त होता है। केवल इस एक वाक्य की ही कसर है कि 'जैसे इनके दिन फिरे सबके फिरें।' अन्त की यह अनिनाटकीय सुखदता गहन जीवनदृष्टि के अभाव अथवा उसके अत्यन्त सरलीकरण की जिस प्रवृत्ति की सूचक है, वह लेखक यशपाल के गौरव को बढ़ाती नही है।

किन्तु एक और अर्थ मे भी लेखक ने अपनी इस कथा को 'झूठा सच' माना है। उपन्यास के समर्पण मे लेखक ने कहा है : "सच को कल्पना से रंग-

कर उसी जन-समुदाय को सौंप रहा हूँ जो सदा झूठ से ठगा जाकर भी सच के लिए अपनी निष्ठा और उसकी ओर बढ़ने का साहस नहीं छोड़ता।" वास्तव मे उसने उपन्यास के अनगिनती इन्सानों की पीड़ा-यात्रा को जीवन की एक निर्मम क्रूर नियति के बजाय, स्वार्थी लोगों द्वारा जनसाधारण को झूठ से ठगने और जनसाधारण द्वारा इन स्वार्थियों को परास्त करके अपना भाग्य अपने हाथ में ले लेने के दोहरे संघर्ष के रूप मे देखा है। दूसरे खण्ड का, बल्कि पूरे उपन्यास का अन्त डॉक्टर प्राणनाथ के इन शब्दों से होता है : "गिल, अब तो विश्वास करोगे, जनता निर्जीव नहीं है। जनता सदा मूक भी नहीं रहती। 'देश का भविष्य' नेताओं और मन्त्रियों की मुट्ठी में नहीं है, देश की जनता के ही हाथ मे है।"

काश, यह बात सच होती! उपन्यास का समर्पण और उसका यह अन्त लेखक की रचना-दृष्टि में उद्देश्यपरकता को तो सूचित करता ही है, साथ ही उसके दृष्टिकोण मे अत्यधिक सरलीकरण और इच्छित चिन्तन की उस प्रवृत्ति को भी दृढ़ करता है जिसका पहले उल्लेख हुआ। आधुनिक भारतीय इतिहास की इस सबसे अधिक विस्फोटक घटना को विभिन्न राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक शक्तियों के संघात की परिणति के रूप मे देखने के प्रयास में वह उन्हीं को पूर्णत: नियामक मानने लगता है, बल्कि कभी-कभी तो वह केवल उन्हीं को देखता जान पड़ता है, जैसे उनके आवर्त में फँसे इन्सान उदाहरण मात्र हों। दूसरे, इन शक्तियों को पहचानने की कोशिश मे उसे जिन्दगी का बाह्य रूप ही अधिक दीख पड़ता है, उसकी पीड़ा की गहराई नहीं। और तीसरे, वह इन सबका एक सरल हल पाने के लिए बहुत ही उत्सुक-लालायित है, जो वह 'जनता' के एक प्रकार के रोमैंटिक गौरवान्वयन के रूप मे प्राप्त करता है। उपन्यासकार यशपाल की यह सबसे बड़ी दुर्बलता है कि वह अपने पूर्व-चिन्तित और सरलीकृत निष्कर्षों से अपने जीवन के दर्शन को, पर्यवेक्षण को प्रभावित हो जाने देते हैं। उनकी राजनीतिक-सामाजिक मान्यताएँ उनकी दृष्टि को प्रभावित करती हैं—उसे कम-से-कम गहराई के आयाम में सीमित भी बनाती हैं, धुंधली भी, और सतही भी।

इस प्रवृत्ति की एक अन्य दिलचस्प अभिव्यक्ति है राजनीतिक प्रश्नों का बड़ा सतही प्रकार का विवेचन। जैसे, यशपाल गांधी और गांधीवाद से बड़े असहमत हैं, कुछ बड़े ही भावुकतापूर्ण यान्त्रिक तथा स्थूल ढंग से। उनकी पुस्तक 'गांधीवाद की शवपरीक्षा' राजनीति पर सरलीकृत, [illegible] और [illegible] 'उग्र' चिन्तन-विवेचन का बड़ा उल्लेखनीय उदाहरण है। गांधीवाद के सम्बन्ध में उनका यह पूर्वाग्रह 'झूठा सच' में भी दिखायी पड़ता है। जगह-जगह आकस्मिक-अनावश्यक रूप से गांधी और गांधी के सिद्धान्तों पर छींटाकशी

है, अहिंसा के सिद्धान्तों की खिल्ली उडायी गयी है। स्वाधीनता-आन्दोलन में और उसके बाद गांधीजी के विभिन्न कार्यों और उनके सिद्धान्तों को कही तीखे और कही निहित व्यंग्य से प्रस्तुत किया गया है। विभाजन के बाद दिल्ली मे मुसलमानों की रक्षा को लेकर गांधीजी के अनशन के प्रसग का कुछ ऐसे ढंग से वर्णन किया गया है, जैसे वह सब निरा ढोंग और पाखण्ड हो। इसी प्रकार कांग्रेस सरकार और जवाहरलाल नेहरू की भी बडे हलके सतही ढग की आलोचना है। सामान्यत: पूरे उपन्यास मे राजनीतिक प्रश्नो पर यशपाल का मतामत मोटे तौर पर कम्युनिस्ट पार्टी के विचारों का समर्थक है; विभाजन से पहले और बाद मे विभिन्न राजनीतिक स्थितियो और शक्तियो के सन्तुलन को प्राय: उसी रूप मे प्रस्तुत किया गया है जिस प्रकार कम्युनिस्ट पार्टी करती थी, यद्यपि कुछेक प्रश्नों पर कम्युनिस्टो से भिन्न विचार भी उन्होंने रखे हैं। सामान्यत: व्यक्तियों के चरित्रांकन में भी कम्युनिस्टो के प्रति एक प्रकार का हलका-सा पक्षपात जैसा उपन्यास मे महसूस होता है। यह नही कि लेखक की कोई विचारधारा नही होनी चाहिए, पर ज़िन्दगी के प्रस्तुतीकरण मे एक समर्थ लेखक अपनी वस्तुनिष्ठता को बनाये रखकर ही विचारधारा विशेष को कलात्मक रूप मे स्थापित कर पाता है। कम-से-कम महान लेखक और महान कृति में यह अनिवार्य है। 'झूठा सच' इस कसौटी पर हलका उतरता है, विशेषकर दूसरे खण्ड मे, जहाँ मानवीय स्थितियो के प्रस्तुतीकरण की अपेक्षा बहस अधिक है। एक प्रकार की सरलीकृत, एकांगी सिद्धान्तवादिता जो जीवन से नि:सृत नही आरोपित अधिक जान पडती है, पक्षधर राजनीतिक मताग्रह लेखक की दृष्टि की निर्ममता को, प्रखरता और स्पष्टता को, कम कर देता है। फलत: मानवीय परिस्थितियों का प्रस्तुतीकरण ऊपरी लगने लगता है, प्रश्नों और स्थितियों की गहराई मे जाता नही जान पड़ता।

दृष्टि की इसी एकांगिता का एक और भी स्तर 'झूठा सच' मे है। कुल मिलाकर विभाजन की अकल्पनीय विभीषिका का मुख्य निदर्शन स्त्री के ऊपर अत्याचार के रूप में हुआ है। इस उपन्यास मे स्त्री को लेकर पुरुष की विभिन्न प्रतिक्रियाओ के बेशुमार चित्र हैं। विभाजन के जो तीखे-से-तीखे परिणाम हैं वे घूम-फिर तारा, वती, उर्मिला, कनक तथा ऐसी ही अनगिनती स्त्रियो के भाग्य की विडम्बना पर आकर टिक जाते हैं। उनमे कई स्थलों पर निस्सन्देह बहुत करुणा है। किन्तु इस बात से बडी निराशा होती है कि ऐसे सर्वग्रासी सकट मे भी मानव-स्वभाव की अन्य अनेक विकृतियों और सुन्दरताओ के प्रति लेखक की दृष्टि बहुत ही कम गयी है। विभाजन के फलस्वरूप अनगिनती स्त्रियो पर नाना प्रकार से, नाना स्थितियो मे, तरह-तरह से लोगो द्वारा बलात्कार ही केवल नही हुआ, जीवन के अन्य बहुत-से मूल्य नष्ट-भ्रष्ट हो

कर उसी जन-समुदाय को सौंप रहा हूँ जो मरा *के लिए अपनी निष्ठा और उसकी ओर बढ़ने* *वास्तव में उसने उपन्यास के अनगिनती इन्सानों* *एक निर्मम क्रूर नियति के बजाय, स्वार्थी लोगों द्वा* *ठगने और जनसाधारण द्वारा इन स्वार्थियों को* *अपने हाथ में ले लेने के दोहरे संघर्ष के रूप में देख* *पूरे उपन्यास का अन्त डॉक्टर प्राणनाथ के इन शब्द* *तो विश्वास करोगे, जनता निर्जीव नहीं है। जनता* *'देश का भविष्य' नेताओं और मन्त्रियों की मुट्ठी में* *ही हाथ में है।"*

काश, यह बात सच होती ! उपन्यास का सम लेखक की रचना-दृष्टि में उद्देश्यपरकता को तो मु *ही उसके दृष्टिकोण में अत्यधिक सरलीकरण और* *प्रवृत्ति को भी दृढ करता है जिसका पहले उल्लेख* इतिहास की इस सबसे अधिक विस्फोटक घटना आर्थिक और सामाजिक शक्तियों के संघात की प प्रयास में वह उन्हीं को पूर्णतः नियामक मानने लग वह केवल उन्ही को देखता जान पड़ता है, जैसे उन उदाहरण मात्र हों। दूसरे, इन शक्तियों को पर जिन्दगी का बाह्य रूप ही अधिक दीख पड़ता है, उस और तीसरे, वह इस सबका एक सरल हल पा लालायित है, जो वह 'जनता' के एक प्रकार के रो में प्राप्त करता है। *उपन्यासकार यशपाल की यह* *वह अपने पूर्व-चिन्तित और सरलीकृत निष्कर्षों से* पर्यवेक्षण को प्रभावित हो जाने देते हैं। उनक मान्यताएँ उनकी दृष्टि को प्रभावित करती हैं— आयाम में सीमित भी बनाती हैं, धुँधली भी, और

इस प्रवृत्ति की एक अन्य दिलचस्प अभिव्यक्ति बड़ा सतही प्रकार का विवेचन। जैसे, यशपाल गां अप्रसन्न हैं, कुछ बड़े ही भावुकतापूर्ण यान्त्रिक ढ पुस्तक 'गाँधीवाद की शवपरीक्षा' *राजनीति पर सर* *तथाकथित 'उग्र' चिन्तन-विवेचन का बड़ा उल्लेखनी* के सम्बन्ध में उनका यह पूर्वाग्रह 'झूठा सच' में भी जगह आवश्यक-अनावश्यक रूप में गाँधी और गाँधी

'झूठा सच' के मानवीय तत्व पर विचार करने पर यह सरलीकरण एक और स्थिति को प्रकट करता है। उसमें इन्सान के अनगिनती रूप अवश्य हैं, पर वे अधिकांश ही बाहरी हैं। यशपाल अपने स्वभाव से ही व्यक्ति के आन्तरिक जीवन और उसके द्वन्द्व को कम देख पाते हैं। स्थूल आवरण के स्तर पर होने वाला मानसिक संघर्ष 'झूठा सच' में कम नहीं है। पर उसमें भी गहरे जाकर व्यक्तित्व के मूल केन्द्र को झकझोरने वाला संघर्ष इतने बड़े उपन्यास में नहीं के बराबर है। यह खतरा विभाजन जैसी विस्फोटक घटना को विषयवस्तु बनाने के कारण हर उपन्यास के लिए रहेगा। किन्तु यशपाल का कलात्मक दृष्टिकोण उसको और भी अनिवार्य बना देता है। वह स्थिति के अन्तर्विरोध को कम देख पाते हैं, और देख भी पाएँ, तो उसका गतिमान चित्रण नहीं हो पाता। उनके भीतर बैठा समाजशास्त्री, राजनीतिक, सामाजिक सिद्धान्तकार विरोधी स्थिति के किसी-न-किसी एक पक्ष को तुरन्त अपना समर्थन प्रदान कर देता है, जिससे स्थिति की द्वन्द्वात्मकता नष्ट हो जाती है, और हर अन्तर्विरोध का किसी-न-किसी इच्छित तीसरी स्थिति में पर्यवसान सहज हो जाता है।

इस प्रवृत्ति का सबसे सरल यद्यपि सबसे सफल रूप उपन्यास के केन्द्रीय व्यक्तित्व तारा में दीख पड़ता है। वह प्रारम्भ से ही संवेदनशील, पढ़ने-लिखने में तेज, महत्त्वाकांक्षिणी लड़की है, शुरू से ही उसे राजनीति में दिलचस्पी है। प्रारम्भ में उसके व्यक्तित्व को लेखक ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि एक निम्न मध्यवर्गीय लड़की के क्रमशः जाग्रत और आत्मसजग होने का प्रभाव सम्प्रेषित होता है। यह प्रभाव भी मुख्यतः बाह्य घटनाओं और परिस्थितियों के माध्यम से ही है। उसके और प्राण के बीच एक हलके-से सूत्र की स्थापना भी लेखक प्रारम्भ में ही कर देता है, बल्कि पहले खण्ड के पृष्ठ ८० पर तारा और प्राण के बीच सेक्स को लेकर भी कुछ चर्चा हो जाती है। किन्तु उसके प्रारम्भिक जीवन का सबसे रोचक और नियामक प्रसंग है कम्युनिस्ट कार्यकर्ता असद से उसका कोमल किशोरसुलभ स्नेह-सम्बन्ध। उसको लेखक ने सम्भवतः सबसे अधिक संवेदनशीलता और सूक्ष्मता के साथ, भावनात्मकता के साथ, प्रस्तुत किया है। इस प्रसंग की हल्की-सी मिठास में भावुकता या स्थूलता का अभाव है, यद्यपि समूची स्थिति कम्युनिस्ट पार्टी में हिन्दू-मुस्लिम-समानता तथा अन्य सैद्धान्तिक-राजनीतिक दृष्टियों से भी परिचालित लगती है। तारा एक साथ ही विभिन्न स्तरों पर आस-पास के सभी व्यक्तियों से भिन्न है—शीलो और रतन से, जयदेव से, कनक से। अन्य महत्त्वपूर्ण पात्रों से उसकी यह विशृंखलता उसे एक व्यक्तित्व देती है, और कुल मिलाकर इस व्यक्तित्व में, कम-से-कम प्रारम्भिक अंश में, एक प्रकार की आन्तरिक संगति और विश्वसनीयता है। उपन्यास के केन्द्रीय चरित्र के रूप में उसकी विश्वसनीयता

गये, युगों की संचित पोषित मान्यताएँ ढह गयी, अन्य सभी विविध वैयक्तिक-सामाजिक सम्बन्ध ध्वस्त हो गये, विषाक्त हो गये, संस्कारों के आधार बदल गये, जीवन से अपेक्षाएँ बदल गयी, पूरे मानवीय आचरण का स्वरूप बदल गया। विभाजन के बाद का भारतीय जीवन, विशेषकर उत्तर भारत में और दिल्ली में किसी भी रूप में ठीक पहले जैसा ही नहीं रह सका। वह सदा के लिए एकदम भिन्न हो गया। पर यशपाल की दृष्टि जीवन के अन्य पक्षों पर इतनी नहीं जाती जितनी स्त्री के शोषण, पीड़न और अपमान पर, उसके साथ अत्याचार और पाशविक व्यवहार पर। यह अकारण ही नहीं कि उपन्यास की मुख्य पात्र एक स्त्री है, तारा। पूरे उपन्यास में स्त्री-सम्बन्धी विचारों की भरमार है, स्वयं स्त्री के, तथा उससे सम्बन्धित पुरुषों के, विभिन्न आचरणों की अनगिनती छायाएँ प्रस्तुत की गयी हैं। और स्त्री के प्रति यह असन्तुलित दृष्टि भी बड़ी स्थूल है, शरीर और सेक्स के स्तर पर ही अधिक है। यशपाल के सभी उपन्यासों में सेक्स के प्रति एक प्रकार का असन्तुलित विकृत दृष्टिकोण उनके कृतित्व के स्तर को नीचे गिराता रहा है। यहाँ भी वह नारी के शरीर और उसके साथ यौन-सम्बन्धों को लेकर पुरुषों की विभिन्न प्रतिक्रियाओं पर अधिक बल देते हैं। एक जगह तारा के विषय में लेखक ने कहा है 'उसे जान पड़ रहा था कि वह जला हुआ मकान देश-भर में नहीं, संसार-भर में नारी पर अत्याचार का प्रतीक है, इसीलिए भाग्य उसे यहाँ ले आया है। उसने ही नहीं, असंख्य नारियों ने पुरुषों की पाशविकता को सहा है। पुरुष को मनुष्य बना सकने के लिए स्त्री को कितना सहना पड़ेगा ?'' और यह एक स्थान पर नहीं, पूरे उपन्यास की रचना में ध्वनित है। अपने को मार्क्सवादी कहनेवाले लेखक के लिए यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि स्त्री के ऊपर बलात्कार से बड़ी बर्बरता और मूल्यहीनता की वह कल्पना नहीं कर पाता।

यही कारण है कि पूरे उपन्यास में जीवन की भव्यता, उदात्तता और सुन्दरता के प्रति सजगता का ऐसा अभाव है। लेखक का दृष्टिकोण सीमित ही नहीं, अत्यधिक नकारात्मक है, अभावात्मक है। उसमें ब्यौरा और तीखापन तो है, पर वह ऐसे समाज का चित्र है जो जिन्दा रहने के लिए प्रेरित करता नहीं जान पड़ता। यशपाल ब्यौरे में, घटनाओं में, जानकारी के प्रदर्शन में, उलझे रह जाते हैं, जीवन की गहनता में प्रवेश नहीं कर पाते। क्योंकि उसके लिए सचमुच अधिक संवेदनशील, सूक्ष्म और सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि चाहिए। यशपाल की कला का यह एक दिलचस्प विरोधाभास है कि कथाकार में 'जीवन-दृष्टि' पर सबसे अधिक आग्रह करनेवाले लेखक में जीवन-दृष्टि का अभाव ही सबसे अधिक खटकता है।

कोमलता के साथ-साथ उसके व्यक्तित्व में साहस, संयम और सुनेपन का ऐसा मिश्रण है जो उसे विशिष्टता देता है। पर जयदेव के प्रति उसके उत्कट अदम्य आकर्षण का केन्द्र बड़ा सतही है और अपर्याप्त भी। उसकी भावात्मक अभिव्यक्ति भी कुछ अधिक सुन्दर है जो कनक के व्यक्तित्व को कोई ऊँचा आयाम नहीं पाने देती। परवर्ती जीवन में वह और भी सामान्य और वैशिष्ट्य-हीन हो जाती है, और अपने ढंग से जीवन के उलझने जाने पर भी उसकी कोई छाप नहीं रहती। लखनऊ में गिल के साथ उसका सम्बन्ध उसके व्यक्तित्व के कुछ सशक्त रूप में उभरने की सम्भावनाएँ प्रस्तुत करता है, पर वे भी यों ही बिसर जाती है, उनका पूरा उपयोग नहीं होता। अन्य पात्रों में यही बात नरोत्तम के बारे में भी सही है। डॉक्टर प्राणनाथ भी दिलचस्प तो है, पर उसमें भी कोई अन्य आयाम नहीं।

गौण पात्रों में उर्मिला तथा शीलो और रतन में अधिक विशिष्टता है और वे अपनी छाप मन पर छोड़ते हैं। पर उपन्यास के रूपबन्ध में उनका स्थान इतना प्रासंगिक है कि रचना के समग्र प्रभाव को वे नहीं बदल पाते। दृश्यपट की घोर घटनाप्रधानता और बाह्यपरकता में वे भी खो जाते हैं।

मानवीय परिदृश्य की इस अन्तहीन इतिवृत्तात्मकता के बीच बंती का प्रसंग एकमात्र ऐसा स्थल है जिसकी तीव्रता और भावगहनता लगभग विस्फोटक है। वह सहज मानवीय विश्वास की गरिमा और निर्मम स्वार्थपरता की चरम क्षुद्रता के दो दूरस्थ छोरों को एक साथ स्पर्श करता है और अपनी प्रखरता से एक नया भावलोक उद्घाटित कर जाता है। यदि ऐसे स्थल कुछेक भी और होते, तो उपन्यास का स्तर निस्सन्देह भिन्न हो जाता।

पर भावना का यह छिछलापन सर्जनात्मक कृति के रूप में 'झूठा सच' को किसी सार्थक स्तर तक नहीं उठने देता। इस इतिवृत्तात्मकता का एक अन्य प्रमाण है 'झूठा सच' की नितान्त वर्णनात्मक, रंगहीन, सपाट भाषा, जिसमें व्यंजनात्मकता बहुत कम है और बिम्बमयता तो नहीं के बराबर है। जो चित्र या बिम्ब हैं भी वे निहायत स्थूल, फूहड़ और चालू प्रकार के है। पहले खण्ड के बीच में से लगभग दो-सवा दो सौ पृष्ठों में जो थोड़े-से बिम्ब आये हैं उनकी बानगी दर्शनीय है—

"कनक की अवस्था किसी मेले में मालिक से बिछुड़ गये कुत्ते जैसी हो रही थी जो मालिक को ढूँढने के लिए सब ओर सूँघता और भटकता फिरता है।" (पृष्ठ १६७)

"उसके आँसू से भीगे चेहरे पर मुसकान आ गयी, जैसे ओस से लदे फूलों पर प्रभात की किरणें पड़ जायें।" (पृष्ठ १७६)

सारे उपन्यास को भी एक प्रकार की स्वाभाविकता प्रदान करती है। पर जैसा पहले कहा गया है, दूसरे खण्ड में वह क्रमशः एक सफलता-कथा की नायिका-जैसी हो जाती है, और दिल्ली में उसके अनुभवों की विविधता का विवरण रोचक अधिक है, गहरी मानवीय पीड़ा को उजागर करने वाला दस्तावेज़ कम। उसके जीवन का सबसे तीव्रतम सघन अनुभूति का क्षण भी पहले खण्ड में ही है—उसकी तथाकथित सुहागरात। अपनी अप्रत्याशित क्रूरता और मानव-मन के निम्नतम स्तरों के उद्घाटन के कारण यह प्रसंग उपन्यास के गहनतम आन्तरिकता वाले स्थलों में से है। इसके तथा असद के साथ प्रथम प्रेम-स्वीकार के प्रसंग के अतिरिक्त, उसका अधिकांश परवर्ती जीवन पूर्व-नियोजित और बाह्य घटनाओं का पुंज मात्र जान पड़ता है। अपने प्रति डॉक्टर प्राणनाथ के प्रेम का ज्ञान भी बड़े घरेलू साधारण स्तर पर ही रह जाता है, यद्यपि लेखक ने उसे नाटकीय बनाने का पर्याप्त यत्न किया है। कुल मिलाकर तारा आत्मसंगत और रोचक होकर भी अत्यन्त साधारण पात्र है, उसके द्वारा जीवन की ऊँचाइयों या गहराइयों का व्यंजित होना सम्भव नहीं लगता।

उपन्यास के दूसरे महत्त्वपूर्ण पात्र जयदेव पुरी के व्यक्तित्व में उतार-चढ़ाव और विविधता अधिक है, पर उसमें आन्तरिक संगति नहीं। वह द्विधा-ग्रस्त तथा अनिश्चित मन से रचा हुआ लगता है। पहले खण्ड में उसका जो रूप क्रमशः बनने लगता है, दूसरे खण्ड में वह लगभग नाटकीय ढंग से बदल-कर भिन्न हो जाता है। लगता है जैसे दूसरे खण्ड तक पहुँचते-पहुँचते लेखक ने उसके व्यक्तित्व को दूसरी ओर ले जाने का निश्चय कर डाला हो। उसका यह परिवर्तन मनोविज्ञान की दृष्टि से असम्भव न होते पर भी कलात्मक सार्थकता की दृष्टि से अस्पष्ट और अनावश्यक लगता है। शायद इस परि-वर्तन की आवश्यकता उसके व्यक्तित्व की अपेक्षा कथाकार को अधिक है। जालन्धर में उर्मिला के सम्बन्ध में भी उसके भावों का आकस्मिक परिवर्तन, उर्मिला के साथ अकेले रह जाने की परिणति, सब आरोपित लगती है। कनक के प्रति उसके भावों और व्यवहार में गिरावट भी बड़ी जल्दबाज़ी से दिखायी गयी है। इसी प्रकार तारा के लिए उसके मन का आक्रोश बड़ी सतही मनो-वैज्ञानिकता का परिणाम जान पड़ता है। जयदेव तारा से तीव्र रूप में विसदृश व्यक्ति है, पर उसमें उतनी बाह्य आत्मसंगति भी नहीं जितनी तारा में है। उसकी नीचतापूर्ण परिणति इच्छित अधिक जान पड़ती है और अन्त उपन्यास के पूरे बुनाव को ऊपरी, कृत्रिम और आन्तरिक बनाने में सहायक होती है।

कनक तारा और जयदेव दोनों से भिन्न है, अपने परिवेश के कारण भी और अपने मूलभूत व्यक्तित्व के कारण भी। भावुकता, कल्पनाशीलता और

कोमलता के साथ-साथ उसके व्यक्तित्व में साहस, संयम और खुलेपन का ऐसा मिश्रण है जो उसे विशिष्टता देता है। पर जयदेव के प्रति उसके उत्कट अदम्य आकर्षण का केन्द्र बड़ा सतही है और अपर्याप्त भी। उसकी भावात्मक अभिव्यक्ति भी कुछ अधिक मुखर है जो कनक के व्यक्तित्व को कोई ऊँचा आयाम नहीं पाने देती। परवर्ती जीवन में वह और भी सामान्य और वैशिष्ट्य-हीन हो जाती है, और अपने ढंग से जीवन के उलझते जाने पर भी उसकी कोई छाप नहीं रहती। लखनऊ में गिल के साथ उसका सम्बन्ध उसके व्यक्तित्व के कुछ सशक्त रूप में उभरने की सम्भावनाएँ प्रस्तुत करता है, पर वे भी यों ही बिखर जाती हैं, उनका पूरा उपयोग नहीं होता। अन्य पात्रों में यही बात नरोत्तम के बारे में भी सही है। डॉक्टर प्राणनाथ भी दिलचस्प तो है, पर उसमें भी कोई अन्य आयाम नहीं।

गौण पात्रों में उर्मिला तथा शीलो और रतन में अधिक विशिष्टता है और वे अपनी छाप मन पर छोड़ते हैं। पर उपन्यास के रूपबन्ध में उनका स्थान इतना प्रासंगिक है कि रचना के समग्र प्रभाव को वे नहीं बदल पाते। दृश्यपट की घोर घटनाप्रधानता और बाह्यपरकता में वे भी खो जाते हैं।

मानवीय परिदृश्य की इस अन्तहीन इतिवृत्तात्मकता के बीच बती का प्रसंग एकमात्र ऐसा स्थल है जिसकी तीव्रता और भावगहनता लगभग विस्फोटक है। वह सहज मानवीय विश्वास की गरिमा और निर्मम स्वार्थपरता की चरम क्षुद्रता के दो दूरस्थ छोरों को एक साथ स्पर्श करता है और अपनी प्रखरता से एक नया भावलोक उद्घाटित कर जाता है। यदि ऐसे स्थल कुछेक भी और होते, तो उपन्यास का स्तर निस्सन्देह भिन्न हो जाता।

पर भावना का यह छिछलापन सर्जनात्मक कृति के रूप में 'झूठा सच' को किसी सार्थक स्तर तक नहीं उठने देता। इस इतिवृत्तात्मकता का एक अन्य प्रमाण है 'झूठा सच' की नितान्त वर्णनात्मक, रंगहीन, सपाट भाषा, जिसमें व्यंजनात्मकता बहुत कम है और बिम्बमयता तो नहीं के बराबर है। जो चित्र या बिम्ब हैं भी वे निहायत स्थूल, फूहड़ और चालू प्रकार के हैं। पहले खण्ड के बीच में से लगभग दो-सवा दो सौ पृष्ठों में जो थोड़े-से बिम्ब आये हैं उनकी बानगी दर्शनीय है—

"कनक की अवस्था किसी मेले में मालिक से बिछुड़ गये कुत्ते जैसी हो रही थी जो मालिक को ढूँढने के लिए सब ओर सूँघता और भटकता फिरता है।" (पृष्ठ १६७)

"उसके आँसू से भीगे चेहरे पर मुसकान आ गयी, जैसे ओस से लदे फूलों पर प्रभात की किरणें पड़ जायें।" (पृष्ठ १७९)

"कद-काठ भी बना है, जैसे महँगाई के ज़माने में मसाला न मिलने पर बचे-खुचे से ही बना दिया गया हो।" (पृष्ठ २६१)

"छः दिन से नगर में शान्ति थी। ऐसी ही शान्ति जैसी चौक में भिड़ गये दो साँडों के लहूलुहान होकर और हाँफकर गिर जाने के बाद हो जाती है।" (पृष्ठ ३०५)

"छज्जों के लोहे के दाँते पशुओं की झुलसी हुई पसलियों और पंजरों की तरह झूलते जान पड़ते थे।" (पृष्ठ ३१४)

"पुरी विश्राम के लिए स्प्रिंगदार पलंग पर लगे कोमल बिस्तर पर बैठा तो एक बार उछल-सा गया। यह नया अनुभव असुविधाजनक नहीं, अपितु कुछ-कुछ अपरिचित युवा नारी के स्पर्श की भाँति लगा।" (पृष्ठ ३८३)

किसी उत्कृष्ट कथाकृति में इससे अधिक स्थूल, लय-संगीतहीन तथा नीरस शुष्क भाषा मिलनी कठिन है। वास्तव में यशपाल 'झूठा सच' में 'सत्य' को 'कल्पना से रँगने' के उद्योग में लगे अवश्य हैं, पर नितान्त रंगसाज के स्तर पर, रंगों की मौलिक सर्जनशील योजना के द्वारा नये जीवन के स्रष्टा कलाकार के स्तर पर नहीं।

'झूठा सच' के सन्दर्भ में प्रायः तालस्तॉय के अमर उपन्यास 'युद्ध और शान्ति' का स्मरण किया जाता है। पर दुर्भाग्यवश यह स्मरण 'झूठा सच' के लिए बहुत प्रशंसात्मक नहीं सिद्ध होता। क्योंकि इसका केवल विस्तार ही 'युद्ध और शान्ति' जैसा है। कलात्मक उपलब्धि इसकी इतनी सीमित है कि दोनों कृतियों में कोई तुलना ही नहीं हो सकती। यशपाल की कला की सीमा केवल यही नहीं है कि वह जीवन का एक छोटा, सतही टुकड़ा ही देख पाते हैं; बल्कि उससे भी अधिक इस बात में है कि वह जो कुछ देख पाते हैं वह मानवीय अनुभूति का सार्थकतम अंश नहीं होता। वह मूलतः जीवन की कुत्सा और पाशविकता के द्रष्टा है। निस्सन्देह उस पर वह बड़ा गहरा, तीखा और मार्मिक व्यंग्य कर सकते हैं। समाज के अमानवीय, विकृत, किन्तु ऊपर से संस्कृत और शिष्ट और स्वस्थ दिखायी पड़ने वाले, गलित अंश को उधेड़कर रखने में उन्हें बड़ा कमाल हासिल है। जीवन की कुरूपता को छिपाने वाली तड़क-भड़क को फोड़ सकने की यह क्षमता यशपाल को हिन्दी का महत्त्वपूर्ण कथाकार बनाती है। किन्तु अन्ततः यह शक्ति ही उनकी सबसे बड़ी सीमा भी है। जीवन के संवेदनशील, आन्तरिक गहन पक्ष में न तो यशपाल की गति है और न रुचि। वह मूलतः नकारात्मक मूल्यों के कथाकार हैं, रचनात्मक मूल्यों के नहीं। इस कारण उनके केवल वही पात्र कुछ-कुछ जीवन्त होते हैं जो या तो कटुता को सहन करते हैं या कटुता को जन्म देते हैं। वह ऐसे ही व्यक्तियों को शक्ति और तीव्रता के साथ चित्रित कर पाते हैं। पर जो पात्र जीवन की

रचना में योग देते हैं, जिनके व्यक्तित्व में निर्माण की प्रतिभा है, अथवा जिनमें सुकुमारता, भावनाशीलता या सवेदनशीलता अधिक है, उनको या तो यशपाल देख-समझ ही नहीं पाते; और यदि देख भी पाते हैं तो उनका अकन सहानुभूतिहीन, उखड़ा हुआ और यान्त्रिक हो जाता है। यशपाल इन्सान के मन की गहराई में उतरने का या तो प्रयत्न ही नहीं करते और केवल बाह्य आचरण के वर्णन द्वारा आन्तरिक जीवन को अभिव्यजित करके सन्तुष्ट हो जाते हैं, और यदि प्रयत्न करते भी हैं, तो वह आरोपित लगने लगता है। वह ऐसा जान पड़ता है जैसे किसी पूर्व-कल्पित ढाँचे में बँधा हुआ हो। 'झूठा सच' में वास्तव में ऐसा लगता है जैसे राजनैतिक मान्यताएँ, सम्बन्ध और गतिविधियाँ अपने-आप में एक साध्य बन गयी हों, मानवीय परिस्थिति मात्र नहीं। लगता है इन्सान राजनीति का नियामक नहीं, उसका एक खिलौना मात्र है। इस प्रकार अन्तत फिर भी प्रभाव सतह का ही पैदा होता है, गहराई का नहीं, यद्यपि इस चित्रण में सहानुभूति का, आत्मीयता का अभाव नहीं है और इसीलिए जहाँ तक जाता है, प्रामाणिक और विश्वसनीय लगता है। वास्तव में यशपाल सामाजिक सम्बन्धों और परिस्थितियों को सदा एक दर्शक की भाँति प्रस्तुत करते हैं। उनका मूल उद्देश्य होता है या तो सरस कहानी कहना या किसी राजनैतिक मान्यता को स्थापित करना। इसीलिए उनके उपन्यास पढ़कर किसी उपलब्धि का भाव नहीं होता, सम्भवतः कुछ जानकारी बढ़ जाती है और जीवन के कई नये पक्षों से परिचय हो जाता है। उनके पूर्ववर्ती उपन्यास 'मनुष्य के रूप' और 'अमिता' भी दोनों ही चरित्र या व्यक्तित्व की खोज की अपेक्षा किसी मान्यता की स्थापना से अधिक सम्बद्ध है।

यशपाल के कलाकार व्यक्तित्व की यह भावभूमि उनके उपन्यासों की सामर्थ्य और दुर्बलता दोनों को प्रकट करती है। उनकी रचनाओं में रोचकता पर्याप्त होती है, व्यग्य का चुटीलापन भी कम नहीं होता, किन्तु जीवन को सस्कार देने वाली गहन मानवीय सवेदना का अभाव रहता है, मन को सस्कार देने वाली अथवा अधिक सवेदनशील और सजग बनाने वाली, विवेक को सतर्क बनाने वाली, सहानुभूति, करुणा और सौन्दर्य-दृष्टि नहीं मिलती। उनके उपन्यासों में जिन्दगी का अधूरा ही साक्षात्कार मिलता है। 'झूठा सच' भी इसका अपवाद नहीं। हिन्दी उपन्यास साहित्य की सबसे महत्त्वपूर्ण कृतियों में होने पर भी 'झूठा सच' अन्ततः किसी आत्यन्तिक सार्थक उपलब्धि के स्तर को छूने में असफल हो रह जाता है।

८ | दृष्टि का सरलीकरण : 'भूले-बिसरे चित्र'

जीवन के बाह्य रूप के कथाकार को प्रायः यह मोह होता है कि अंकन की परिधि में अधिक-से-अधिक विस्तार को घेरा जाय। वह देश और काल दोनों में जीवन के अधिकाधिक, दीर्घतम खण्डों को रूपायित करने के लिए प्रवृत्त होता है। किन्तु जैसे-जैसे यह विस्तार बढ़ता जाता है, वैसे-ही-वैसे उसे किसी प्रकार की कलात्मक अन्विति में केन्द्रीभूत रखने की, अनन्त गोचर विविधता को किसी सुस्पष्ट भावसूत्र में बाँधे रखने की कठिनाई भी तीव्रतर होती जाती है। विशेषकर काल के आयाम में ऐसे विस्तार के कारण, विगत युगों के साथ वर्तमान की, पूर्ववर्ती युगों के साथ परवर्ती युगों की, जीवन-पद्धतियों, सामाजिक सम्बन्धों, बौद्धिक मान्यताओं, भावस्थितियों के बीच निरन्तरता को प्रकट तथा मूर्त कर सकना बहुत दुष्कर हो जाता है। और यदि यह कालखण्ड तीव्र सक्रान्ति का युग हो, तब तो परिवर्तन की गति इतनी द्रुत होती है कि साधारणतः रचना में या तो स्थितियों की परस्पर-विच्छिन्न, नित्य-परिवर्तित, नित-नूतन झाँकियाँ-भर प्रस्तुत हों अथवा विभिन्न स्थितियाँ किसी नितान्त गतिहीन चौखटे में जड़ी हुई मात्र जान पड़ें। उपन्यासकार की जीवन-दृष्टि और कला-बोध जब तक सचमुच पुष्ट और प्रौढ़ न हो, तब तक जीवन का विस्तारमूलक चित्र प्रायः रूपहीन वृत्तान्त मात्र होकर रह जाता है, समर्थ कलाकृति नहीं बन पाता।

१९५९ में प्रकाशित भगवतीचरण वर्मा का उपन्यास 'भूले-बिसरे चित्र' इस कठिनाई का बड़ा उल्लेखनीय उदाहरण है। इसमें भारतीय जीवन के, विशेषकर उत्तर भारत के नागरिक और देहाती जीवन के, बहुमुखी और बहुरंगी चित्र की परिकल्पना प्रस्तुत है, और उसे काल और मानसिक जीवन, दोनों आयामों में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। 'भूले-बिसरे चित्र' में लगभग पचास वर्ष की कहानी है—१८८५ से लगाकर १९३०-३१ तक।

भूले-बिसरे चित्र (१९५९)—लेखक : भगवतीचरण वर्मा; प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली; पृष्ठ ७४९।

४ जुलाई, १८८५ को फतेहपुर के कलक्टर की अदालत के अर्ज़ीनवीस मुंशी शिवलाल के लड़के ज्वालाप्रसाद को नायब तहसीलदारी का परवाना मिलना है, जो बाद में तहसीलदार होकर अवकाश प्राप्त करता है, फिर उनका बेटा गंगाप्रसाद डिप्टी कलक्टर और अन्त में कलक्टर बनता है; और अन्त में गंगाप्रसाद का लड़का नवलकिशोर कुल की परम्परा से विद्रोह करके कांग्रेस-कार्यकर्ता के रूप में सन् १९३१ के नमक-सत्याग्रह में भाग लेकर जेल चला जाता है। चार पीढ़ियों के इस चित्र में मूल स्थायी स्वर के रूप में दिखायी पड़ता है ज्वालाप्रसाद, जिसके माध्यम से चारों पीढ़ियों के इस उतार-चढ़ाव, परिवर्तन और विकास को लेखक ने देखा और प्रस्तुत किया है। उपन्यास का आरम्भ ज्वालाप्रसाद के नायब तहसीलदार के पद पर नामज़द होने से शुरू होता है और अन्त में वही अपने बँगले के दरवाज़े पर खड़ा विवश देखता रह जाता है कि उसका पौत्र नवल एक कांग्रेसी जुलूस में शामिल होकर जेल चला गया। अपने लम्बे जीवन में उसने कई युग देखे हैं, ज़िन्दगी के अनेक उतार-चढ़ाव देखे हैं, उसके पास अनुभवों का भण्डार है; पर फिर भी जीवन और मूल्यों के इस बदले हुए रूप के आगे वह विवश और निस्सर रह जाता है। "और दूर हज़ारों, लाखों, करोड़ों आदमी जीवन की गति से प्रेरित, नवीन उमंग और उल्लास लिये हुए, एक नवीन दुनिया की रचना करने के लिए" आगे बढ़े चले जाते हैं।

स्पष्ट ही इस दृश्य में विस्तार तो बहुत बड़ा है ही, साथ ही यह काल-खण्ड हमारे देश के आधुनिक इतिहास का सबसे महत्त्वपूर्ण युग है। १८८५ से १९३१ तक का काल देश के नयी करवट लेने का, नये सपने देखने और नये स्वरों में गुनगुना उठने का, एक नयी चेतना से अनुप्राणित और संचालित होने का युग है। इन चार पीढ़ियों में हमारी सामाजिक चेतना के निर्माण की नींव पड़ी। आज के हमारे अनेक आवेग और विश्वास, मान्यताएँ और प्रवृत्तियाँ, सफलताएँ और असफलताएँ इन्हीं चार पीढ़ियों के इतिहास से जुड़ी हुई हैं, और एक हद तक यह अनिवार्य है कि हमारे समर्थ रचनाकार अपनी-अपनी व्यक्तिगत दृष्टियों के साथ, अपने-अपने निजी संस्कारों और धारणाओं के साथ, इन पीढ़ियों के जीवन को, उनके विकास को, उनके उत्थान और पतन को, और उनके माध्यम से एक व्यवस्था और मानस के टूटने तथा दूसरे मानस और व्यवस्था के बनने को, देखें और उसको अंकित करें। उपन्यास-जैसे साहित्य रूप की जो महाकाव्य-जैसी (एपिक) सम्भावनाएँ हैं, उनके प्रतिफलित होने के लिए ऐसा विस्तृत दृष्टिपटल आवश्यक भी होता है, और साथ ही रचनाकार के लिए चुनौती भी बनता है। ऐसे दृष्टिपटल को चुनने के साथ-साथ उसे प्रामाणिकता, सूक्ष्मता और गहराई से अंकित कर सकना उसकी श्रेष्ठता और महानता की कसौटी बन सकता है।

यह कहा जा सकता है कि इतने बड़े दृश्यपट को अपने उपन्यास की विषयवस्तु बनाकर वर्माजी ने एक प्रकार से उस चुनौती को स्वीकार किया है और अपनी दृष्टि के विस्तार का परिचय दिया है, और सम्भवतः, प्रसंगों के वर्णन की रोचकता के अतिरिक्त, क्षेत्र का विस्तार ही इस उपन्यास की सबसे उल्लेखनीय विशेषता है। जीवन के इस विस्तार को और काल में उसके प्रवाह को लेखक ने अनगिनती छोटे-मोटे कथा-चित्र संजोकर सूचित करना चाहा है। निस्सन्देह इतने बड़े कालखण्ड को एक प्रवाह में चित्रित करने के लिए घटनाओं, व्यक्तियों, आवेगों और उनके परस्पर संघर्षों में चयन की, सर्वथा अनिवार्य को ग्रहण करके अवान्तर सूत्रों को छोड़ देने की, बहुत आवश्यकता होती है। 'भूले-बिसरे चित्र' में वर्माजी ने एक हद तक यह प्रयास किया भी है कि विभिन्न पीढ़ियों के जीवन में से घटनाओं और व्यक्तियों को छाँटकर इस प्रकार प्रस्तुत किया जाय कि एक पूरी चेतना, परिस्थिति अथवा व्यवस्था रूपायित हो सके। विशेषकर व्यक्तियों के चुनाव में उन्होंने ऐसे अनगिनती प्रकार के बड़े दिलचस्प पात्र एकत्रित किये हैं जो मिलकर एक साथ विभिन्न पीढ़ियों की अपनी-अपनी समग्र चेतना, मनोवृत्ति, संस्कारों और मनोदशाओं को एक हद तक मूर्त कर सकते हैं।

किन्तु इस उपन्यास की कठिनाई यहीं से प्रारम्भ होती है। अन्ततः 'भूले-बिसरे चित्र' बहुत-से स्वतः सम्पूर्ण और अपने-आप में रोचक चित्रों का पुंज बनकर रह गया है। प्रभाव की समग्रता भी उनमें नहीं है, और न वे जीवन की वास्तविक गति का ही सही-सही बोध पाठक को देते हैं। पूरा उपन्यास एक प्रकार से अनगिनती असम्बद्ध, अथवा शिथिल रूप में सम्बद्ध, चित्र-शृंखला-जैसा है, और अन्त में जब वह समाप्त होता है तो हमें यह अनुभव नहीं होता कि हम सचमुच पचास वर्षों के एक घटना-बहुल क्रान्तिकारी तथा विविधतापूर्ण कालखण्ड की यात्रा करके लौटे हैं। निस्सन्देह बहुत-से सुन्दर अथवा कुरूप, मनोरम अथवा अप्रीतिकर, किन्तु सशक्त और बहुत बार तीक्ष्ण, चित्रों की स्मृति हमारे मन में रह जाती है। यह भी लगता है कि उन चित्रों में बहुत-से पात्र ऐसे थे जिनके नाक-नक्श, सूरत-शक्ल, रंग-ढंग, हमारे जाने-पहचाने हैं। किन्तु इस उपन्यास की यात्रा-काल में यात्रा नहीं है, बल्कि एक ही युग में एक साथ जीने वाली चार पीढ़ियों के जीवन-खण्ड की यात्रा है। जिन चार पीढ़ियों का चित्रण वर्माजी ने इस उपन्यास में किया है, वे एक साथ ही आज भी हमारे देश में मौजूद हैं। किसी भी देहात में, कस्बे में, अथवा कम विकसित साधारण औद्योगिक नगर में, मुंशी शिवप्रसाद, तहसीलदार ज्वालाप्रसाद, डिप्टी कलक्टर गंगाप्रसाद और कांग्रेसी युवक कार्यकर्ता नवलकिशोर एक साथ मिल जायेंगे। उन्हें किसी सभा-सोसाइटी में, धार्मिक आयोजन में, मोहल्ले

की बैठक में भी एक साथ पाया जा सकता है। वर्माजी ने वास्तव में इन सबको एक साथ ही किसी ऐसी ही मजलिस में देखा है और अंकित किया है। किन्तु इस सत्य से कोई छुटकारा नहीं कि पुस्तक के विभिन्न खण्डों में जिस बाह्य तथा आन्तरिक जीवन का, जिन भौतिक तथा मानसिक परिस्थितियों, विश्वासों, धारणाओं, और उनके आधार पर निर्मित सामाजिक और व्यक्तिगत सम्बन्धों का चित्रण किया गया है; वह उद्दिष्ट युग की कोई छाप मन पर नहीं छोड़ जाता। एक क्षण के लिए भी हमें यह अनुभव नहीं होता कि हम आज से पचास-साठ-सत्तर वर्ष पहले के जीवन में जा पहुँचे हैं। काल की दृष्टि से इस चित्रण के पीछे की चेतना अधिक-से-अधिक सन् १९३०-४० के बीच मँडराती रहती है। जिन छोटी या बड़ी सामयिक घटनाओं अथवा रहन-सहन के तरीकों का जिक्र वर्माजी ने यत्र-तत्र किया है, वह ऊपरी ही लगता है। शायद प्रेमचन्द के 'गोदान' में जितना पुराना और अधिक तत्कालीन वातावरण है, 'भूले-बिसरे चित्र' में उतना भी नहीं है। 'गोदान' को पढ़कर आज निस्सन्देह यह लगता है कि हम किसी बीती हुई अथवा टूटती हुई सामाजिक व्यवस्था के बीच आ पहुँचे हैं, जबकि 'भूले-बिसरे चित्र' की परिस्थितियाँ—आन्तरिक और बाह्य दोनों ही—दो दशाब्दी पहले के विभिन्न सामाजिक, मानसिक, वैयक्तिक वर्गों और अंशों की हैं। इस प्रकार 'भूले-बिसरे चित्र' में काल का आयाम भ्रामक है और उपलब्धि के बजाय एक प्रकार की असमर्थता को ही सूचित करता है।

यह असमर्थता केवल काल के प्रवाह को न पकड़ पाने में ही नहीं है। एक ही युग के जीवन को भी किसी सार्थक समग्रता या अन्विति के साथ इस उपन्यास में नहीं प्रस्तुत किया जा सका है। प्रारम्भिक दो खण्डों में, जिनका ज्वालाप्रसाद से सम्बन्ध है, एक हद तक एक अन्विति मौजूद है, और वहाँ तक यह अनुभव होता है कि, चाहे बाह्य ही सही, किसी समग्र जीवन-खण्ड से साक्षात्कार हो रहा है। पर तीसरे खण्ड से यह अन्विति विघटित होने लगती है और कथा विभिन्न स्वतःसम्पूर्ण रेखाचित्रों के समूह का रूप ले लेती है। पहले दो खण्डों में भी ऐसे स्वतःसम्पूर्ण चित्र कई-एक हैं, जैसे मोरांव में महावीरजी के मन्दिर पर विजय गुरु के अखाड़े की दास्तान। किन्तु किसी हद तक उन चित्रों का कथा के मूल भावसूत्र से आन्तरिक सम्बन्ध है और कोई अनुपातहीन लगने पर भी वे सर्वथा अनावश्यक अथवा निरर्थक नहीं लगते। किन्तु तीसरे-चौथे और पाँचवें खण्ड में तो कोई सुस्पष्ट भावसूत्र उनका निजी भी नहीं है और सम्पूर्ण कथा का भी नहीं। तीसरे खण्ड के प्रारम्भ में ही १९११ के दिल्ली दरबार का प्रसंग न केवल निरर्थक और बेतुका है, बल्कि अपूर्ण और भटकानेवाला भी है। ज्वालाप्रसाद, विद्याधर, गंगा, राजकिशन,

किसी और भी प्रकार से, किसी और भी परिवेश में, एक-दूसरे से परिचित सकते थे। उसके लिए दिल्ली दरबार की इतनी टीमटाममयी पृष्ठभूमि म अनावश्यक है। वह न तो उस कालखण्ड को स्थापित करती है, न इन वि व्यक्तियों और उनके परस्पर सम्बन्धों को कोई सार्थकता प्रदान करती है। ब स्वयं अपने-आप में इतनी बड़ी घटना होने से उसके कारण ध्यान हटकर दू अवान्तर बातों पर टिकने लगता है। शिउदमनसिंह की अपनी कहानी भी इ तरह अपने-आप में एक स्वतन्त्र कथा या उपन्यास की विषयवस्तु हो सक है; इस उपन्यास को वह कोई बल नहीं प्रदान करती। बरेली में जटिलान अल्लामा बहशी तथा पादर मसीह का शास्त्रार्थ, कलकत्ता में राजा-महाराजा की दावतें और मनोरंजन, कांग्रेस की गतिविधियों से सम्बन्धित विभि विवरण—सब एक बड़ी दास्तान के भीतर छोटी-छोटी स्वतन्त्र दास्तानें हैं औ उनका परस्पर सम्बन्ध प्रायः इतना ही है कि उनको सुनाने वाला व्यक्ति ए ही है। 'भूले-बिसरे चित्र' आधुनिक उपन्यास से अधिक दास्तानों का मण्डा है। उनके पीछे कोई सर्जनात्मक हेतु स्पष्ट नहीं है और कुल मिलाकर कलात्मक-बोध और विवेक की दुर्बलता ही सूचित करती हैं।

यह दुर्बलता इस कारण और भी तीव्रता से प्रकट होती है कि इन दास्तानें के भीतर भी किसी अपनी निजी आन्तरिक कलात्मक सार्थकता से, जीवन की गहरी अनुभूति से, किसी प्रबल भावना या तीखी पीड़ा की ज्वाला से, साक्षात्कार नहीं होता। वे अधिकांश सतही तथा भावुकतापूर्ण हैं और छिछली रोचकता उत्पन्न करने के लिए जुटायी गयी हैं। ज्वालाप्रसाद और जैंदेई के बीच जो कोमल सम्बन्ध-सूत्र बनता है, वह अपेक्षाकृत अधिक सहज है, पर उसका भी कोई गहन कलात्मक उपयोग नहीं हो पाता और वह सम्बन्ध भी एक विचित्र प्रकार की घरेलू नामरूपहीनता में खो जाता है।

फिर गंगाप्रसाद के दो प्रेम-प्रसंगों को लीजिए : एक सन्तो के साथ, दूसरा मलका के साथ। सन्तो के साथ उसका परिचय जिस नाटकीयता के साथ लेखक ने कराया है वह बड़ी अपेक्षाएँ पाठक के मन में उत्पन्न करती है। किन्तु वह जिस सूत्र के सहारे बढ़ता जान पड़ता है वह एकदम तारतम्यहीन है। वर्माजी प्राय: सन्तो के मन की गहराई में उतरने के प्रयत्न में जीवन के ऐसे प्रदेशों में जा भटकते हैं जिनसे उनका परिचय या तो बहुत ही ऊपरी और हलका है या फिर है ही नहीं। सन्तो, उसका पति, उसकी भौजाई और दिल्ली दरबार का प्रकरण तथा फिर इसके बाद कलकत्ता में राजाओं और रानियों और वायसराय के ए०डी०सी० मिस्टर वाट्स के बीच सन्तो के मन और जीवन का तथा गंगाप्रसाद की प्रतिक्रियाओं का जो चित्र लेखक ने खींचा है, वह न तो प्रामाणिक है, न विश्वसनीय और न आवश्यक। मूल कथासूत्र के साथ उसका

कोई दूर का भी सम्बन्ध नही है। अचानक ही ये पात्र उपन्यास के लगभग पचीस-तीस पृष्ठ तक पाठक को घेरे रहते हैं और फिर अचानक ही एकदम गायब हो जाते हैं। सन्तो ने गगाप्रसाद के मन को प्रभावित किया है, और उसे लेखक ने गगाप्रसाद के जीवन से जिस प्रकार जोड़ा है, उसे देखते हुए उसके व्यक्तित्व को अधिक सूक्ष्मता से निभाना आवश्यक था। पर न केवल लेखक उन दोनो के सम्बन्ध की सही रूपरेखा अथवा उसके पारस्परिक प्रभाव को ठीक से अंकित नही कर सका है, बल्कि एक ऐसे मनमौजीपन से उसने सारे प्रसग को प्रस्तुत किया है कि अन्तत झल्लाहट के सिवाय उसका और कोई प्रभाव मन पर नही रह जाता।

कुछ मिलाकर उसकी परिणति बडी सतही, भावुकतापूर्ण और योजना-बद्ध प्रकार की है। लेखक ने दिखाया है कि सन्तो का गगाप्रसाद के साथ एक बार शारीरिक सम्बन्ध होते ही जैसे उसके मन की सारी दीवारें टूट जाती हैं और वह इस रास्ते पर बेलगाम चल पडती है। लेखक उसके 'पतन' के लिए गंगाप्रसाद को दोषी ठहराता है। रिपुदमन उससे कहता है : "आज मैंने अपनी आँखों से देखा कि वह स्त्री सतवन्ती···तुमने उसे भयानक रूप से नीचे गिरा दिया है।" बहुत बार स्वयं सन्तो गगाप्रसाद से कहती है "एक बार मुझसे अपने को शैतान के हाथ मे सौंपने की गलती हो गयी थी और उस गलती की प्रेरणा दी थी मुझे तुमने। और उस एक गलती का परिणाम तो देख रहे हो तुम।" स्वय गगाप्रसाद को भी इसके लिये अपने को ज़िम्मेदार और दोषी अनुभव करते दिखाया गया है। इस पूरे प्रसग मे इतनी अतिरंजना, कृत्रिमता और स्थितियों का सरलीकरण है कि आश्चर्य होता है। प्रथम परिचय के समय सन्तो का रेल मे जो व्यवहार है, वह उसके बाकी आचरण से बडी यान्त्रिकता के साथ जुड़ा हुआ है। उसकी परिणति को इतना विकृत दिखाने के सिवाय थोथी नैतिकता के और कोई कारण नही हो सकता। वायसराय के निजी सहायक मेजर वाट्स से उसका सम्बन्ध, और उसके फलस्वरूप उसके पति को राजाबहादुर का खिताब इत्यादि शेखचिल्ली की कहानियो के स्तर की मनगढन्त कल्पनाएँ मात्र हैं। उन्हें प्रस्तुत करने में लेखक का उद्देश्य भी कलात्मक नही, बल्कि अत्यन्त ही भोड़े ढंग से उच्च-वर्गों की नीचता तथा चरित्र-हीनता दिखाना है। रिपुदमन प्रारम्भ मे गगाप्रसाद से कहता है : "जिस जगह तुम हो, वहाँ हर चीज बिकती है—दीन, ईमान, सत्य, चरित्र। यह पूँजीवाद का युग है, यह बनियों की दुनिया है, सब-कुछ बिकना है।" बाद मे कलकत्ता मे मिलने पर जब गगाप्रसाद रिपुदमन से पूछता है कि यह सन्तो अनायास ही इतनी कैसे बदल गयी, तो उत्तर में रिपुदमन कहता है : "इसमें आश्चर्य की क्या बात है? परिस्थिति और आधारभूत व्यक्तित्व। बाबू गगाप्रसाद, आधार

भूत व्यक्ति में देवता होता है, दानव होता है। नेकी और बदी, क्रिया और प्रतिक्रिया के रूप में हर एक व्यक्तित्व के भाग हैं, अन्तर इतना है कि यह आधारभूत व्यक्तित्व परिस्थिति के अनुसार अपने को प्रकट करता है। तुम्हारी इस सन्तो के अन्दर की झिझक दूर हो गयी, उसके अन्दर वाला समाज द्वारा आरोपित विश्वास नष्ट हो गया—केवल इतना भर हुआ···आधारभूत प्रवृत्तियाँ विशेष परिस्थितियों में उभरेंगी ही; उभारने के लिए यदि तुम साधन न बने होते, तो कोई दूसरा बन गया होता। आदमी कुछ नहीं करता, जो कुछ कराती हैं वे परिस्थितियाँ ही कराती हैं।" कितना आसान है यह सारा दर्शन ! वर्माजी की सारी दुनिया इसी सरलता के साथ चलती है। चाहे तो कह सकते हैं कि यह मासूमियत ही उनकी विशेषता है। पर शायद हिन्दी उपन्यास अपनी समस्त अपरिपक्वता और अवयस्कता के बावजूद इस प्रकार के सरलीकरण से तो कुछ आगे बढ़ ही गया है। जिन्दगी की कोई गहरी समझ इस सरलीकरण के सहारे न तो प्राप्त हो सकती है, न सर्जनात्मक स्तर पर दूसरों को सम्प्रेषित ही की जा सकती है।

किन्तु 'भूले-बिसरे चित्र' की मूल दृष्टि में ही यह सरलीकरण मौजूद है। इसीलिए उसमें कहीं कोई गहराई, कोई तीखी व्यथा, उद्दाम लालसा अथवा अदम्य उल्लास का आभास नहीं मिलता; और न किसी सूक्ष्मता का, किसी शब्दों में भी न बँध सकने वाली किन्तु फिर भी अधिकतम मूल्यवान भावना का, प्रेरणा का, आकांक्षा का। इससे बड़ी निराशा और क्या हो सकती है कि पचास वर्षों के लम्बे समय और दर्जनों इन्सानों के जीवन में भी वर्माजी कोई सार्थक और अविस्मरणीय अनुभूति का क्षण नहीं देख सके हैं।

गंगाप्रसाद का दूसरा मामला—मलका के साथ—तो और भी अति-नाटकीय है। मलका एक वेश्या है जो गंगाप्रसाद से प्रेम करती है। असी रजा के समझाने से गंगाप्रसाद इसके लिये तैयार हो जाते हैं कि वह असी रजा से निकाह कर ले, ताकि वह बेखटके गंगाप्रसाद से अपना प्रेम-सम्बन्ध निभा सके। मलका को यह योजना मंजूर नहीं होती और वह चुपके से कहीं चली जाती है। बाद में पता चलता है कि अचानक ही एक हिन्दू नवयुवक ने उसे हिन्दू बनाकर आर्यसमाजी ढंग से शादी कर ली है, वे दोनों कांग्रेसी कार्यकर्ता बन गये हैं, और मलका एक बार राजनीतिक आन्दोलन में गिरफ्तार करके गंगाप्रसाद की अदालत में ही लायी जाती है, इत्यादि-इत्यादि। बाद में कथा और भी सनसनीपूर्ण होती है, जब असी रजा उसे फिर उड़ा ले जाता है और जबरदस्ती उससे शादी करना चाहता है, और अन्त में गंगाप्रसाद और ज्ञानप्रकाश फज़लउल्ला की मदद से ऐन मौके पर उसका उद्धार करते हैं। इसमें लेखक ने साम्प्रदायिक तनाव और दंगों का मसला भी उठा दिया

है और पूरी कहानी का स्तर हिन्दी फिल्मों या सस्ते लोकप्रिय उपन्यासों से अधिक भिन्न या ऊंचा नहीं है।

निस्सन्देह 'भूले-बिसरे चित्र' में ऐसी लोकप्रियता के कई तत्त्व मौजूद हैं। उनमें से एक है असाधारण रोचकता। वर्माजी मूलत पुराने किस्सागो शैली के कथा-लेखक हैं। उन्हें कहानी गढ़ने और सुनाने में मजा आता है, और जिस रस के साथ वह अपनी छोटी-से-छोटी बात को कह सकते हैं वह सचमुच बहुत लोभनीय है। यह भी सच है कि हिन्दी के बहुत ही कम उपन्यासकारों में यह क्षमता दिखायी पड़ती है। बहुत-से आधुनिक लेखक मानव मन की गहराइयों और विविध ग्रन्थियों के नीरस विश्लेषण में इतने खो जाते हैं कि सरसता की ओर कभी उनका ध्यान भी नहीं जाता। एक प्रकार से सरसता को वे अवाछनीय भी समझने लगे हैं, जो सम्भवत. उनके कलात्मक सौन्दर्यमूलक आदर्शों के अनुरूप भी है। फिर भी जीवन के विविध रूपों की गाथा का सरसतापूर्ण अकन अपने-आप में एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कौशल सदा ही माना जाता रहेगा। वर्माजी इस शैली के सिद्धहस्त लेखक हैं और 'भूले-बिसरे चित्र' में उनकी इस चमत्कारपूर्ण कला का बड़ा आकर्षक प्रमाण मिलता है। इसीलिए यदि किसी सार्थकता की मांग और उसका आग्रह न हो, तो छोटे-मोटे स्थलों को छोड़कर साढ़े सात सौ पृष्ठों के इस बृहद उपन्यास को एक साँस में पढ़ा जा सकता है। बहुत-कुछ इसी कारण इस उपन्यास की दृष्टिगत और शिल्पगत शिथिलताओं पर तुरन्त ध्यान नहीं जाता। पर अन्ततः इस रोचकता की सार्थकता क्या है? जासूसी उपन्यास बड़े रोचक होते हैं, पर उन्हें इसी कारण सर्जनात्मक साहित्य तो नहीं कहा जा सकता। वर्माजी अपनी इस कुशलता को कोई गहरी जीवन-दृष्टि सप्रेषित करने के लिए काम में नहीं लाते, बल्कि वह एक प्रकार से विषयवस्तु और उसकी जटिलता की चुनौती को स्वीकार करने की आवश्यकता से आँख मूंद लेने में उनके लिए सहायक होती है। उदाहरण के लिए, १६११ के दिल्ली दरबार का चित्रण सर्वथा ऊपरी और अपेक्षाकृत कम महत्त्व की ब्यौरे की बातों में उलझा होने पर भी रोचक तो लगता है; किन्तु उस वर्णन को पढ़कर हम सचमुच दिल्ली दरबार के युग में पहुँच जाते हैं, ऐसा एक क्षण के लिए भी अनुभव नहीं होता। यही बात अन्य सभी घटनाओं, परिस्थितियों और व्यक्तियों के सम्बन्ध में सही है। उन सबकी रोचकता अपने-आप में है, लेखक की वर्णन-कुशलता के कारण है, अतिनाटकीय प्रभावों और युक्तियों के कारण है। पर वे मिलकर एक साथ कोई निश्चित अथवा सार्थक प्रभाव मन पर नहीं छोड़ते।

वास्तव में 'भूले-बिसरे चित्र' में कोई मानवीय स्थितियाँ नहीं हैं, केवल

घटनाएँ हैं। सार्थक मानवीय सन्दर्भ की यह क्षीणता उनके पात्रों के व्यक्तित्वों को भी पूरी तरह उभरने नही देती। ज्वालाप्रसाद तो कथा का केन्द्र है। उसी के माध्यम से ही लेखक ने चारों पीढ़ियो को एक सूत्र में जोड़ने का प्रयास किया है। उपन्यास का प्रारम्भ भी उससे है और अन्त भी। फिर भी उसके व्यक्तित्व की कोई बड़ी सशक्त और प्रबल तथा अविस्मरणीय छाप हमारे मन पर नही रह जाती। क्योंकि वह केवल शारीरिक रूप से ही शुरू से अन्त तक उपन्यास मे है। पूरा उपन्यास उसको केन्द्र मानकर रचा हुआ नही है। दूसरे खण्ड के बाद वह दृष्टि-केन्द्र से हट जाता है, और केवल प्रसंगवश ही बीच-बीच मे प्रकट होता है। परवर्ती घटनाक्रम में उसका हाथ नही के बराबर है। इससे उसकी प्रतिमा, जो पहले से ही बहुत सुस्पष्ट और तीखे नाक-नक्श वाली नही है, प्रायः धुंधली पड़ जाती है और अन्त में उसके ऊपर कथा की परिणति को झेलने का जो बोझ पड़ता है, वह अन्यायपूर्ण ही लगता है। अपने-आप मे भी उसकी जिन्दगी अत्यन्त ही अनुल्लेखनीय साधारणता की सर्वथा साधारण-सी कहानी है, चाहे उसे लेखक ने लगभग आदर्श पात्र बनाने का ही प्रयत्न क्यों न किया हो। वह निमित्त अधिक है, मानवीय नियति का रचयिता अथवा भोक्ता कम। उसके जीवन में असामान्य घटना केवल एक ही होती है, वह है जैदेई की उसके प्रति तीव्र आसक्ति। पर जैसा पहले ही कहा जा चुका है कि वह प्रसग और भी अथाह साधारणता में डूबकर निरर्थक हो गया है, और उसी के साथ ही अपनी समस्त सम्भावनाओं के बावजूद जैदेई भी डूब गयी है।

गंगाप्रसाद और उसकी प्रेमिकाओं की चर्चा पहले ही हो चुकी है। गगाप्रसाद अपने मन की चंचलता और अस्थिरता मे अवश्य ज्वालाप्रसाद से लगभग विपरीत है, पर रूपाकारहीनता में तो ज्वालाप्रसाद से भी दो कदम आगे है। गंगाप्रसाद के पुत्र नवल में अवश्य कुछ व्यक्तित्व भी है और उसके विकास की सम्भावनाएँ भी। उसकी दृढता अन्त मे कुछ प्रभाव भी मन पर छोड़ती है। पर वह भी किसी गहराई या सूक्ष्मता के आयाम में विकसित नही किया जा सका है। उषा और उसके प्रेम-प्रसग मे भी मानवीय करुणा के संधान को व्यजित करने की सम्भावना थी। पर अपनी स्थूल और बाह्य दृष्टि के कारण लेखक उसे भी निरर्थक नैतिकता और सिद्धान्तवादिता के मरुस्थल मे विलीन हो जाने देता है और वह कोई उल्लेखनीय सार्थकता नहीं प्राप्त करता।

मुख्य पात्रों के अतिरिक्त भी 'भूले-बिसरे चित्र' मे विभिन्न प्रकार के स्त्री-पुरुषों का पूरा जुलूस मौजूद है। उनमे से बहुत-से, कम-से-कम सम्भावनाओं की दृष्टि मे, अत्यन्त ही दिलचस्प पात्र हैं—छिनकी, दमोदे,

भीखू, मीर सखावत हुसैन, बरजोरसिंह, राधेलाल, श्यामलाल, लछमीचन्द, रिपुदमनसिंह, राधाकिशन, कैलासो, ज्ञानप्रकाश, मलका, अली रज़ा, विद्या, रायबहादुर कामतानाथ, विन्देश्वरीप्रसाद, सिद्धेश्वरीप्रसाद, प्रेमशंकर आदि-आदि अनगिनती व्यक्ति हैं, जो याद भी रह जाते हैं। इनमें से कुछ थोड़ी देर के लिए आते हैं, और कुछ दूर तक साथ देते हैं। पर उनकी उपस्थिति कथा-सूत्र की आवश्यकता पर निर्भर है। कुछ देर तक उनसे सम्पर्क रहता है, पहचान होती है, परिचय होता है, कुछ-एक से मेल-मोहब्बत भी हो जाती है, और फिर कथासूत्र की आवश्यकता के कारण और उसी भाँति ही वे दृश्य-पट से हट जाते हैं। प्रायः मन में यह प्रश्न रह जाता है कि वे कहाँ चले गये, क्यों चले गये ? उनके विषय में उत्सुकता बनी रह जाती है, क्योंकि लेखक ने जिस जोश से उनका परिचय कराया था वह मन पर ऐसी छाप छोड़ता है कि उनके भाग्य के विषय में कुछ चिन्ता-सी होने लगती है। पर उनकी परिणति में कोई कलात्मक उद्देश्य या सार्थकता नहीं है, उनका आना-जाना घटना मात्र ही है। कुछेक पात्र जब अपनी जीवनलीला समाप्त कर देते हैं, तो भी यह अनुभव नहीं होता कि एक युग बीत गया अथवा कोई पीढ़ी मिट गयी और काल का दुर्दम रथचक्र उन लोगों को कुचलता हुआ आगे बढ़ गया। इसके बजाय केवल यही लगता है कि जीवन की अनिवार्य परिस्थिति के रूप में लोग संसार से उठ जाते हैं। मुंशी शिवलाल, छिनकी, जँदेई, प्रभुदयाल, जमुना, गंगाप्रसाद सब-के-सब जैसे एक ही स्तर पर, एक ही युग में, लगभग एक ही से कारणों से, अपना जीवन समाप्त करते हैं, और सबके मरने की प्रतिक्रिया लगभग एक ही प्रकार की होती है।

इसी कारण पात्रों की दृष्टि से भी 'भूले-बिसरे चित्र' अनगिनती दिलचस्प रेखाचित्रों का संग्रह मात्र है। इन रेखाचित्रों के पात्रों में कहीं-कहीं सजीवता है, गति है, पर वह उस रेखाचित्र के चौखटे के भीतर तक ही सीमित है। प्रायः ये चौखटे अपने भीतर की तसवीर को एक प्रकार का सौन्दर्य प्रदान करते हैं, एक सुसज्जित आकृति और रूप प्रदान करते हैं। पर स्पष्ट है कि चौखटे में जड़े हुए रेखाचित्र में और जीवित व्यक्ति में बहुत अन्तर है। 'भूले-बिसरे चित्र' के कई पात्र बड़ी खूबसूरती से और प्यार के साथ अंकित किये हुए आकर्षक सूक्ष्म चित्र-जैसे लगते हैं। पर उनके जीवन की गहराई, उनके व्यक्तित्व की मूल गतिशीलता का अनुभव हमें उपन्यास में नहीं होता। व्यक्तियों के अंकन के सम्बन्ध में एक और विशेषता वर्माजी की पद्धति में है। वह है एक प्रकार की मानसिक और बौद्धिक अराजकता। वर्माजी जैसे आवेश में, झोंक में, बल्कि कहा जाय तो सनक में, लकीरें खींचे चले जाते हैं। फिर उन्हें परस्पर सम्बन्ध या सामंजस्य का, जीवन के परिप्रेक्ष्य का कोई

ध्यान नहीं रहता और उनकी बातें निरी कल्पनाविलास होकर रह जाती हैं। जैसे जैदेई की मृत्यु के समय लक्ष्मीचन्द की मूर्खता, नीचता और कटुता। उसकी कोई सार्थकता नहीं, बल्कि वह पूरी स्थिति को हास्यास्पद और आरोपित बना देती है। पर लेखक यह नहीं समझ पाता।

इसी प्रकार ज्ञानप्रकाश को ही लीजिये। उसका व्यक्तित्व अनावश्यक रूप से खींचा-ताना हुआ है। कभी-कभी लगता है वह लेखक का मुखपात्र जैसा है। इसीलिए यह भी आवश्यक था कि उसके व्यक्तित्व में इतनी सप्राणता और तेजोमयता होती कि उससे सारे उपन्यास को एक गरिमा और सार्थकता प्राप्त होती, किन्तु ऐसा नहीं होता। उसके अत्यधिक असाधारण और महान होने की घोषणा के बावजूद वह बहुत ही साधारण केन्द्रहीन कठपुतली-जैसा प्राणी जान पड़ता है। वास्तव में ज्ञानप्रकाश के चरित्र को इतनी दुर्बलता से अंकित करने के कारण ही उपन्यास का अन्तिम अंग, विशेषकर चौथा और पाँचवाँ खण्ड, बेहद उलझा हुआ, दीर्घ-सूत्री और बनावटी हो गया है। उसके उतने विस्तार में कोई सार्थकता नहीं जान पड़ती। बहुत बार तो यह भी लगता है कि लेखक उपन्यास के कलेवर को बढ़ाने के लिए ही एक के बाद एक घटना को इतने विस्तार से खींचता जा रहा है। इसी कारण सन् '२१ और '३१ के देश को झकझोर देने वाले राजनीतिक आन्दोलन भी इतने प्राणहीन और फीके लगते हैं, उनके वर्णन इतने निरर्थक लगते हैं। यही कारण है कि नवल का अन्त में उसमें कूद पड़ना भी किसी गहरे आवेग के आलोड़न की सृष्टि नहीं करता, एक परिस्थिति मात्र बनकर रह जाता है।

संयम और कलात्मक-बोध का यह अभाव वर्माजी की केवल इसी रचना की विशेषता नहीं। उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में भी इसी प्रकार मनगढ़न्त अप्रासंगिक बातों को बहुत तूल देकर लिखने की प्रवृत्ति मौजूद थी जिसके कारण उस उपन्यास का स्तर भी बहुत हद तक नीचे उतर आता था। 'भूले-बिसरे चित्र' में 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' की-सी अन्तर्दृष्टि और अनुभूति की तीव्रता भी नहीं है। अपनी सारी दुर्बलताओं के बावजूद 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' को पढ़कर यह अनुभव तो होता ही था कि एक युग के, एक पूरी दुनिया के, धीरे-धीरे जर्जर होने और टूटने का दृश्य आँखों के सामने से गुजर रहा है। उस उपन्यास में लेखक उस बीतते हुए युग की सारी शक्ति को, और उसके टूटने से उत्पन्न होने वाली सारी पीड़ा और व्यथा को, बड़ी सहज सहानुभूति और करुणा के साथ अंकित कर सका था। इसी कारण स्थान-स्थान पर परिलक्षित पूर्वाग्रहों अथवा दुराग्रहों के बावजूद, वह रचना गहरा प्रभाव मन पर छोड़ती थी। 'भूले-बिसरे चित्र' में संयम का अभाव लगभग वैसा ही है पर न तो वैसी

अन्तर्दृष्टि है और न वैसी सहज सहानुभूति । इसीलिए यह उपन्यास उस स्तर तक भी नहीं उठता ।

कुल मिलाकर 'भूले-बिसरे चित्र' उपलब्धियों से अधिक अपरिपूर्ण अथवा विनष्ट सम्भावनाओं की छाप ही मन पर छोड़ता है। उसे पढ़ना समाप्त करने पर, अधूरी रचना को देखने का-सा असन्तोष मन में भर जाता है, जिससे परितृप्ति से अधिक खीझ होती है । यह उपन्यास इस बात का प्रमाण है कि बड़ी रचना की महत्त्वाकांक्षा मात्र से बड़ी रचना नहीं होती । उसके लिये सर्जनात्मक प्रतिभा के साथ-साथ दृष्टि, सहानुभूति और बोध की व्यापकता और गहराई दोनों की ही अनिवार्य रूप से आवश्यकता होती है।

९ | मानवीय अनुभूति की क्षीणता : 'जयवर्धन'

आज के युग का एक प्रबल अन्तर्विरोध और द्वन्द्व इस बात को लेकर है कि एक ओर व्यक्ति की महत्ता और स्वतन्त्रता का क्षेत्र, स्तर और अर्थ निरन्तर अधिकाधिक व्यापक होता जाता है, और दूसरी ओर व्यक्ति के जीवन में राज्य और राजसत्ता का अधिकार और नियन्त्रण भी निरन्तर बढ़ रहा है। लगता है, वैयक्तिक स्वाधीनता के व्यापक और सीमित होने की यह दुहरी प्रक्रिया कहीं-न-कहीं एक है; उसके दोनों छोर कहीं-न-कहीं जुड़े हुए अवश्य हैं, और दोनों सम्भवतः एक ही स्थिति के दो भिन्न रूप हैं। वह जो हो, इतना निस्सन्देह है कि यह स्थिति व्यक्ति-मानस और सामूहिक क्रिया के बड़े सार्थक और गहरे कलात्मक-सर्जनात्मक अनुसन्धान की सम्भावना उत्पन्न करती है। वास्तव में मौजूदा दौर में देश जिस संक्रान्ति की अवस्था में से गुज़र रहा है, उसमें इस स्थिति की नैतिक और आध्यात्मिक परिणतियों की खोज किसी भी रचनाकार के लिए बड़ी भारी चुनौती हो सकती है। हिन्दी उपन्यास की दुर्बलता का एक मापसूचक यह सत्य भी है कि इस मानव-स्थिति पर हिन्दी कथाकार का बहुत ही कम ध्यान गया है। इस दृष्टि से जैनेन्द्रकुमार का १९५६ में प्रकाशित उपन्यास 'जयवर्धन' कम-से-कम जीवन के इस महत्त्वपूर्ण क्षेत्र की ओर उन्मुख होने के कारण एक उल्लेखनीय और दिलचस्प रचना है, यद्यपि अपनी कथा और जीवन-सम्बन्धी दृष्टि और मान्यताओं तथा व्यवहार के कारण, जैनेन्द्रकुमार इस स्थिति के मानवीय परीक्षण के लिए सबसे उपयुक्त उपन्यासकार नहीं हैं।

'जयवर्धन' में आज से आधी शताब्दी बाद, २००७ में, जयवर्धन नामक भारत के राष्ट्रनेता के मन के नैतिक-आध्यात्मिक संघर्ष को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। 'जयवर्धन' राष्ट्र का सर्वमान्य अधिनायक है, अपनी

जयवर्धन (१९५६)—लेखक : जैनेन्द्रकुमार; प्रकाशक : पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली; पृष्ठ ४४०।

दुर्दान्तता और शक्ति के कारण नही, बल्कि अपनी लोकप्रियता के कारण। पर राजनीति और विशेषकर राज्य के विषय में उसके विचारों का आधार नैतिक और आध्यात्मिक अधिक है। राजसत्ता को वह व्यक्ति और समाज के कल्याण का अस्थायी साधन भर मानता है, जिसे व्यक्ति के आत्मनिर्भर हो जाने पर एक दिन बीच से हट जाना है। राजसत्ता को अनावश्यक बना देने के उद्देश्य से ही उसने शासन का भार सम्हालना स्वीकार किया है। वह कूटनीति, दमन और शक्ति-प्रदर्शन द्वारा देश की घरेलू तथा वैदेशिक समस्याओं को सुलझाने में विश्वास नही करता। वह राज्य को यथासम्भव नैतिक आधार पर चलाना चाहता है, और अपनी कथनी तथा करनी में उन्मुक्त, खुला हुआ और दो-टूक है। अनिवार्यत, देश की अन्य राजनीतिक शक्तियों के साथ उसके ऐसे नैतिक रवैये का कोई सामजस्य नही बैठता और उसके प्रति विरोध तथा सघर्ष की सृष्टि होती है।

इस विरोध को और भी तीखा और पैना आधार मिलता है 'जयवर्धन' के वैयक्तिक जीवन से। उसके साथ इला नामक एक स्त्री रहती है जिससे उसका विवाह नही हुआ, पर जो लगभग उसकी पत्नी-स्थानीय है, यद्यपि देश-विदेश में उन दोनो के सम्बन्धो को लेकर तरह-तरह की कहानियाँ प्रचलित हैं। इला का विवाह जय से इसलिए नही हो सका है कि इला के पिता आचार्य की अनुमति नहीं है और इला तथा जय दोनों में से कोई उनकी आज्ञा का उल्लंघन करना उचित नही समझता; क्योकि आचार्य देश की राजनीति में शीर्षस्थानीय और एक प्रकार से देश के और जय के मन्त्रदाता, अभिभावक और शिक्षक रहे हैं। वर्तमान स्थिति में जयवर्धन और सत्तारूढ़ दल की राजनीति से असहमति के कारण वे किसी एक निर्जन स्थान में नज़रबन्द हैं, पर फिर भी देश में उनके प्रति जैसा आदर और श्रद्धा का भाव है, उसकी उपेक्षा नही की जा सकती। जय और इला उनका इतना आन्तरिक सम्मान करते हैं कि व्यक्तिगत उद्देश्य के लिए उनकी अवहेलना की कल्पना भी नहीं कर सकते। इस स्थिति में जय बार-बार इला से आचार्य के पास लौट जाने को कहते हैं, पर इला जाती नही।

"लेकिन मैं जय को कैसे छोड सकती हूँ? पिता जेल में हैं, इसलिए निश्चिन्त सुख में हैं। जय प्रतिपल राज पर हैं इस कारण सूली पर है। उनको अकेला छोड़ूँ तो कैसे? और मेरे रोके वह यहाँ हैं, नही तो जाने कहाँ होते। जय की मुझसे यही लड़ाई है कि कहते हैं, 'जाओ, पिता की सेवा में रहो।' पर वहाँ सेवा अनावश्यक है, और मैं जय से कैसे कहूँ कि सेवा स्वयं उनको आवश्यक है। कारण, वह त्रस्त और रुग्ण भी अधिक है।"

इसलिए इला जय के साथ ही रहती है। देश के अन्य विरोधी दल इस

स्थिति को अपने विरोध का आधार बनाकर जय के विरुद्ध प्रचार, आन्दोलन और प्रदर्शन करते हैं, जिससे क्रमशः देश में संकट की स्थिति उत्पन्न होती है। फलस्वरूप आचार्य रिहा किये जाते हैं, और शिवधाम में नयी सरकार बनाने के उद्देश्य से एक सर्वदल सम्मेलन बुलाया जाता है। वहाँ जय अपना त्यागपत्र देता है, यद्यपि उधर आचार्य इला और जय के विवाह की अनुमति दे देते हैं तथा विवाह सम्पन्न भी हो जाता है, और इस प्रकार जय के विरोध का वैयक्तिक आधार भी समाप्त हो जाता है। पर जय राज्याधिप अब नहीं रहना चाहता।

" ··राज्य बड़ी चीज है और करोड़ों का सुख-दुःख उसमें गर्भित है। लेकिन अब यही करना चाहता हूँ कि उन करोड़ों को कहूँ कि अपना सुख-दुःख मुक्त बनाओ, राज के अधीन उसे न होने दो। शासन कभी अपनी ओर से अपने को समाप्त करनेवाला नहीं है। समाज को नीचे से अपने को शासन-मुक्त करते हुए उठना होगा।" और जय इस प्रकार राज्य छोड़ देते हैं और क्योंकि अब सभी लोग उनको सम्मिलित संयुक्त सरकार में रखने के लिए बहुत ही आग्रहशील हैं इसलिए वह विवाह के बाद ही अगली रात को अकेले चुपचाप कहीं अज्ञानवास के लिए चले जाते हैं।

इस भाँति, बाह्य तर्क-संगति में मूलतः अत्यन्त काल्पनिक, अविश्वसनीय और सामंजस्यहीन होने पर भी 'जयवर्धन' उपन्यास वैयक्तिक और सामूहिक, आध्यात्मिक-नैतिक और राजनीतिक दोनों स्तरों पर एक बड़ी सम्भावनापूर्ण मानवीय स्थिति को अपनी विषयवस्तु बनाता है। और यदि विषयवस्तु के चुनाव की सार्थकता और रोचकता ही सर्जनात्मक कार्य की कसौटी हुआ करती, तो 'जयवर्धन' की गिनती हिन्दी के सबसे महत्त्वपूर्ण उपन्यासों में होती। दुःख की बात है कि 'जयवर्धन' समस्त सम्भावनाओं के बावजूद सार्थक उपलब्धि के स्तर तक उठने में रह जाता है। इस प्रकार के उपन्यास के सर्जनात्मक रूप में सार्थक होने के लिए लेखक में एक ओर विभिन्न राजनीतिक और नैतिक सिद्धान्तों को उनकी समस्त जटिलता में, परस्पर सम्बन्धों और उलझावों में, देखने की क्षमता चाहिए। क्योंकि समस्याओं के सरलीकरण से मुख्य विषयवस्तु का हलका, काल्पनिक और अविश्वसनीय हो जाना अनिवार्य है। दूसरी ओर, उसे इन नैतिक-राजनैतिक सिद्धान्तों, विचारों और परिस्थितियों के जीवन्त मानवीय सन्दर्भ को, उनकी मानवीय परिणति और सार्थकता को, गहराई से पहचान सकना चाहिए। सचमुच किसे आदमी ... में सिद्धान्त स्वयं क्या रूप लेते हैं, इन्सानों को क्या रूप देते हैं ... करते और प्रभावित होते हैं—जब तक इस स्तर पर जीवन ... में ... हो, तब तक ऐसा सिद्धान्तपरक चिन्तनात्मक कृति का ...

सहज ही नीरस, बौद्धिक ऊहापोह और विश्लेषण मात्र होकर रह जाता है, उसे सर्जनात्मक आयाम प्राप्त ही नही होता। वास्तव मे, जिस सीमा तक लेखक की जीवनानुभूति मे सैद्धान्तिक और भावात्मक रूप एकान्वित और अखण्ड होगे, उसी सीमा तक वह ऐसी, बल्कि किसी भी प्रकार की सार्थक, साहित्यिक कृति को जीवन्तता प्रदान कर सकेगा। 'जयवर्धन' मे इन दोनो ही दृष्टियो से बडी दुर्बलता और अपर्याप्तता है। उसमे सिद्धान्तो का सरलीकरण भी है, और उनके मानवीय आयाम की पहचान और अनुभूति भी बड़ी क्षीण है।

एक प्रकार से मुख्य क्षीणता मानवीय आयाम की अनुभूति की ही है। इसीलिए उपन्यास के रूप मे 'जयवर्धन' की उपेक्षा भी होती रही है क्योकि उसका रूप जैनेन्द्र के निबन्धो जैसा लगता है, और उसमे किसी तीव्र महानुभूति से पाठक का साक्षात्कार नही होता। जैनेन्द्र सदा ही जीवन के साधारण अथवा असाधारण कार्य-व्यापार और भावानुभूति से प्रत्यक्ष साक्षात्कार की अपेक्षा विचारो और तर्कों मे अधिक रस ही नही लेते, बल्कि उन्ही मे उलझकर खो जाते हैं। इसी से उनके उपन्यास इतने हलके और प्राणहीन जान पडते हैं। 'जयवर्धन' भी इस दोष का अपवाद नही है। किन्तु जैसा पहले उल्लेख किया गया है, उसमे मानवीय आयाम की सम्भावना पूरी थी और यदि वह उभरकर नही स्थापित हो पाती, तो इसका दोष लेखक के क्षीण जीवन-बोध को ही देना होगा।

'जयवर्धन' मे मानवीय सम्बन्धो की ऊष्मा और तरलता मुख्यतः इला और जय के सम्बन्ध मे ही है। सम्बन्ध के जिस रूप को लेखक ने प्रस्तुत किया है उसमे पर्याप्त करुणा और भावगत तीव्रता की सम्भावना है। बल्कि वह एक प्रकार से अत्यन्त ही विस्फोटक प्रकार का स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध है। स्त्री समर्पिता है, पर उसके दान को कोई सामाजिक मान्यता नही, बल्कि उस दान से ही जैसे दोनों व्यक्तियों का जीवन अभिशप्त है तथा उनके ध्वस का कारण बन सकता है और बनने लगता है। जय और इला जैसे मूर्धन्य व्यक्तियों की स्थिति मे यह और भी अधिक सर्वग्राही विस्फोट और ध्वंस का कारण बन सकता है। 'जयवर्धन' मे इस भयंकर तनाव का कुछ आभास निस्सन्देह मिलता है जो कथा को बड़ी करुणा भी प्रदान करता है। साथ ही लेखक इस सम्बन्ध के भीतर कुछ और भी वैयक्तिक आन्तरिक तनावों को उजागर करता है। इला अपने-आपको सम्पूर्णतः उत्सर्ग करके भी अपरिपूर्ण है, उसका नारीत्व और मातृत्व सार्थक होने का अवसर नही पा सका है। बाहर लोग उनके बारे मे चाहे जो कहते रहें, पर इला और जय दोनों अपने-अपने नैतिक आग्रहों के बन्दी है। दोनो चाह कर भी अपने आवेगों के आगे झुक नहीं पाते। इला बिलवर मे कहती है :

"तब से कभी मैंने उन्हें अवश नहीं पाया है। अपनी ओर से चेष्टा की है, निर्लज्जता की है, पर नहीं, कुछ नहीं हुआ है'''पूछती हूँ, यह प्रेम है ?"

आगे कहती है :

"कामना नहीं है उनमें, सो नहीं। फिर जो सयम है, वह क्या है ? प्रेम है ?"

"'''वान सच है। मैंने बापू को वचन दिया था। उन्होंने आस्था से उसे ले लिया और आगे एक शब्द नहीं कहा। मेरे प्रति वह आस्था सदा के लिए मेरी मर्यादा बन गयी'''कृतज्ञ हूँ जय ने कभी मर्यादा पर किंचित रेख नहीं आने दी'''पर पूछती हूँ, वह प्रेम है जिसमें मर्यादा दीखने को रह जाती है ? अन्था नहीं वह प्रेम है ?"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इला के इस भावावेश में बहुत-कुछ आदिम अभिव्यक्त होता है : मूलभूत आकर्षण और ऐच्छिक मर्यादा का, आवेग और नैतिक मान्यताओ का चिरन्तन द्वन्द्व। जैनेन्द्र स्वय इस शब्दहीन मानवीय द्वन्द्व और उसकी शक्ति को इस क्षण मे देख पाते हैं। "एक नाम रूप की नारी के माध्यम से कुछ अनादि और असंज्ञ प्रकट हो रहा हो।" और इला कहे जाती है :

"बीस साल हो गये, शायद अधिक'''आँखें मेरी उठी हैं और सामने की आँखो मे मैंने चाह चीह्नी है। पर तभी वे आँखें मुंद गयी हैं और मुंदी रही हैं। उँगलियो की पोरों में लालसा लहकी दीखी है, कि वे अब बढ़ेंगी। लेकिन नही, नाम के जाप मे उन्हें अपनी ही ओर फेर लिया गया है। मैं समक्ष हूँ और सवेरे का तडक अँधेरा है। कोई पास नही है। या सन्ध्या का उतार है और वही एकान्त है। मैं हूँ और वह, कोई पास नही है। और कहते हैं, 'अब भजन'। हर सवेरे, हर शाम, यही कि 'अब भजन'''रात दूर रहते हैं, मैं दूर रहती हूँ। सो सब इन सुबह-शाम की घडियो मे इकट्ठा हो आता है। पर तब वह कहते हैं, 'अब भजन' और भजन होता है, और इकतारा बजता है, और प्रार्थना दुहरायी जाती है। सवेरे यह होता है और शाम यह होता है। और कुछ नही होता'' पचीस बरस से यही होता आ रहा है'''"

एक अत्यन्त ही मूलभूत द्वन्द्व की यह लगभग प्रगीतात्मक अभिव्यक्ति और उसकी अनिवार्य करुणा ही 'जयवर्धन' को वह मानवीय रूप देती है जो उसे कलात्मक भी बनाता है। जैनेन्द्र इस स्तर को छू पाते हैं, यह सृष्टा के रूप में उनकी सार्थकता भी है। पर दुर्भाग्यवश वह उस स्तर पर देर तक ठहर नहीं पाते। पूरे उपन्यास मे ऐसी काव्यात्मक तीव्रता के क्षण बहुत ही कम हैं, और अधिकतर ही उपन्यास नीरस गद्यात्मकता मे घिसटता रहता है। यदि इस सूत्र को अधिक पुष्ट और व्यापक किया जा सकता, उसके विविध रूपों और

आयामों को प्रस्तुत किया जा सकता, उसे जय और इला के सामाजिक और सैद्धान्तिक परिवेश में गहराई से उद्घाटित किया जा सकता, तो निस्सन्देह यह एक महान कलाकृति होती। पर जो है, उसमें यह भावाकुलता अधिक टिकती नहीं और रचना का प्रभाव शिथिल हो जाता है।

कथा के मानवीय सूत्र में एक और घुमाव स्वामी चिदानन्द के कारण आता जान पड़ता है। ऐसा लगता है मानो चिदानन्द द्वारा जय के विरोध के मूल में इला के प्रति उसका कोई अबूझ अज्ञात आकर्षण ही है। पर लेखक उसका इंगित करके छोड़ देता है, उसकी विभिन्न जटिल परिणतियों को विकसित नहीं करता। एक और अन्य उलझन लिज़ा के कारण आती है। लिज़ा उपन्यास की सबसे जटिल पात्र है। वह उग्र दल के नेता नाथ की विदेशिनी पत्नी है। वह जय की ओर आकर्षित होती है, और, इला से भिन्न तथा विपरीत, एक प्रकार की बाह्य भाव-तीव्रता से परिचालित होती है। उसमें सहज आकर्षण की तरलता भी है, ईर्ष्या की उत्कटता भी है, और निराशा की विस्फोटक तीक्ष्णता भी। पर वह बाह्य अधिक है; लगता है वह भारतीय इला की तुलना में पाश्चात्य नारी की विसदृशता दिखाने के लिए ही रखी गयी है। इस कारण उस व्यक्तित्व में गहराई नहीं आ पाती उसका एक-आयामी व्यक्तित्व किसी महत्त्वपूर्ण और सार्थक स्तर पर किसी द्वन्द्व की सृष्टि नहीं कर पाता। और अन्त में उसकी परिणति की अनिवार्यता और अवयस्कता उसे लगभग व्यर्थ बना देती है। यह परिणति लगभग निराश करती है क्योंकि इला और लिज़ा के व्यक्तित्वों की भिन्नता में, और जय के माध्यम से उनके परस्पर तथा बाह्य जीवन के साथ सम्बन्धों में, बड़ी गहरी मानवीय और इसी से कलात्मक सम्भावनाएँ हैं। लेखक उनका केवल बाहरी रूप ही देख पाता है, उनको किसी गहरी सार्थकता में नहीं अनुभूत कर पाता। यही कारण है कि वह अचानक ही कथा के 'नैरेटर' विलवर को भी लिज़ा के साथ एक 'रोमैंटिक' प्रसंग में घसीट लेता है जिससे कथा की सारी गम्भीरता और अर्थवत्ता नष्ट होती जान पड़ती है।

कलात्मक विवेक की यह कमी और भी कई प्रसंगों और स्थलों में है। इन्द्रमोहन का पूरा प्रसंग ही बड़ा कृत्रिम, सनसनीपूर्ण और बालसुलभ है। आतंकवादी-क्रान्तिकारी चरित्र जैनेन्द्र की दुर्बलता बन गया है। वह उनके प्रायः प्रत्येक उपन्यास में आता है और लगभग एक ही रूप में प्रकट होकर प्रायः एक-सी ही हरकतें करता है। लगता है जैसे किसी आतंकवादी चरित्र की स्मृति उनके मन में गाँठ बनकर अड़ी हुई है। 'जयवर्धन' में भी इन्द्रमोहन का रेलयात्रा में अचानक प्रकट होना, बम्बई में उसके निवास पर विलवर की यात्रा, सब-कुछ जेम्स बाण्ड की कहानी का टुकड़ा-जैसा जान पड़ता है, किसी

गम्भीर कलाकृति का अंश नहीं। जयवर्धन के ऊपर इन्द्रमोहन का इतना प्रभाव और अधिकार भी बड़ा आरोपित और कृत्रिम लगता है। अपने-आप में भी इन्द्रमोहन का व्यक्तित्व कई अलग-अलग टुकड़ों का बना है, जिनमें आपस में कोई तालमेल नहीं, कोई सामंजस्य नहीं। इतनी ही अचिन्तित और अर्थहीन उपन्यास की अन्तिम परिणति है, अनिनाटकीय और हेतुहीन। अन्तिम विश्लेषण में, ये सब विसंगतियाँ मुख्य भावधारा की अल्पप्राणता और क्षुद्रता को ही सूचित करती हैं, और रचना के सर्जनात्मक स्तर को नीचा कर देती हैं।

वास्तव में जय और इला के रूप में प्रेम और नैतिक मूल्यों के लिए भीतर-ही-भीतर सुलगने और पीड़ा सहने वाले व्यक्तियों से परिचय की अनोखी मिठास इस उपन्यास में न होती, तो यह सर्वथा नगण्य ही होता। अपनी अनगिनती दुर्बलताओं के बावजूद, उपन्यास में इन व्यक्तियों के कारण ही, *चाहे हलकी-सी ही सही, एक उल्लेखनीय मानवीय अनुभूति का मीठा-सा स्पर्श मन पर होता है। इसी से अन्ततः उस बौद्धिक-सैद्धान्तिक विवेचन को भी एक हलका-सा आवेश प्राप्त हो जाता है, जो उसकी अपनी नीरसता और सरलीकृत प्रस्तुति को थोड़ा सह्य बनाता है।*

इसका एक कारण यह भी है कि भावात्मक आयाम की इस क्षीणता के बावजूद व्यक्ति-रूप में स्वयं जयवर्धन भी बड़ी दिलचस्प सम्भावनाएँ प्रस्तुत करता है। उस तरह के व्यक्ति के किसी राज्य के अधिनायक होने की सम्भावना लगभग मनगढ़न्त जान पड़ती है, यद्यपि यह ठीक है कि वह नेहरू से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। सम्भवतः वह नेहरू के व्यक्तित्व की तर्कसंगत परिणति को अथवा जैसा उन्हें होना चाहिए था, वैसे प्रतिरूप को प्रस्तुत करता है। किन्तु यदि सचमुच इस प्रकार का कोई व्यक्ति राज्य का प्रधान कभी बन ही जाय, तो क्या स्थिति होगी? जयवर्धन के आत्मचिन्तन, भाषण तथा बिलवर के साथ विवेचन के रूप में, लेखक ने आज के युग के कई एक महत्त्वपूर्ण बौद्धिक प्रश्नों पर, राजनीतिक, नैतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक समस्याओं पर, बड़े उत्तेजक विचार प्रस्तुत किये हैं। एक जगह जयवर्धन कहता है :

"राज्य है और वह व्याप्त नहीं केन्द्रित है, नैतिक नहीं कार्मिक है, तो ऐसे राज्य के साथ अनिवार्य होकर युद्ध कैसे न लगा चलेगा, मैं समझ नहीं पाता। ऐसा राज्य निहित स्वार्थ का दुर्ग हुए बिना रह नहीं सकता'''वह अर्थ-रचना जो हर दो पड़ोसियों को एक हित में मिलाये, राज के किये नहीं हो सकती। राज्य चाहे तो भी उसे सींच नहीं सकता। कारण, राज्य मशीन है और केन्द्र है और यह रचना इतनी आत्मिक और विकेन्द्रित होगी कि केन्द्र स्वयं आदमी हो रहेगा। हर आदमी अपना केन्द्र, और जग का केन्द्र'''

सामाजिकता निरे गिरोह हो रहने में नही है'''समूह समाज नही है'''यानी दलों पर चलने वाले लोकतन्त्र से बहुत आशा नही हो सकती ।"

या फिर :

"राज की पुलिस के भरोसे ही यदि नागरिक जन-सुरक्षा अनुभव करेगा तो यह स्थिति फिर हमें वर्बर दशा तक ले जायगी । डर से जो होता है वह संयम नही है, संस्कृति संयम का फल है। दमन हिंस भाव को निमन्त्रण है।"

या :

"'''पर स्वतन्त्रता क्या कहीं है ? स्वतन्त्र बस वह है जो सब है ''नही, कहीं किसी की स्वतन्त्रता नही है। सब परस्पर में अनुबद्ध है'''कोई स्वतन्त्रता नही। सब युक्त हैं'''"

अथवा :

"जिस समाज मे व्यक्ति की समस्या अपना अस्तित्व रखने की भाषा में समझी और समझायी जाती है वह समाज विषम है और विफल है।"

जय के विचार मूलतः अराजकतावादी सिद्धान्तों पर आधारित हैं

"कल्याण को जानने का भी काम राज्य का हो, और वह करे तभी हो, इस रास्ते से राज्य चाकर बनते-बनते मालिक बन जाता है'''शासन न करना पड़े जिसे वह शासन अच्छा है।"

या :

"सरकार रहेगी तब तक कोने भी होंगे। जहाँ गरीबी रहे। रोजगार सरकार से मिलेगा तो बेरोजगारी को भी रहना होगा।"

किन्तु उसके अराजकतावादी दृष्टिकोण में कहीं गांधीवादी अथवा अध्यात्मवादी दृष्टिकोण का भी स्पर्श अवश्य है :

"मूल्य कहाँ है ? उसमे जिसे समाज कहते हैं या वहाँ जो आत्म है ? समाज मानसिक तत्त्व है, आत्म-अनुभूत। मूल्य क्या निरपेक्ष होगा, आत्म-निरपेक्ष ?"

अथवा :

"संसार नही जीता गया जीतने की कोशिश करके। विजेता हारा है, सम्राट् गिरा है'''जीता गया है अगर संसार तो प्यार से। इस प्यार के आदमी को चाहे तो उसने अपने हाथों जहर दे दिया, सूली चढ़ा दिया, गोली से मार दिया, या कुछ भी चाहे किया, लेकिन प्यार टूटा नही और संसार जाने बिना न रह सका कि वह जीता जा चुका था। स्वयं संसार के लिए अपनी इस पराजय से बड़ी कृतार्थता कोई न हो सकी।"

जयवर्धन निरन्तर इस प्रकार के विचार अभिव्यक्त करता है। और यद्यपि एक प्रकार से इन समस्याओं पर ये लेखक के अपने विचार ही अधिक हैं, फिर

भी जयवर्धन की स्थिति के व्यक्ति के मुख से वे एक विशेष प्रकार की तीव्रता प्राप्त करते हैं। व्यक्ति, समाज, राज्य आदि की समस्याओं पर वे ऐसा दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं जो सर्वथा अपरिचित न होने पर भी जयवर्धन की स्थिति के कारण बड़ा नया, असाधारण और स्फूर्तिदायक तथा विचारोत्तेजक लगता है और वह उस हद तक उपन्यास को एक प्रकार का आकर्षक आवेग भी प्रदान करता है। जयवर्धन के व्यक्तित्व का आकर्षण उसकी इसी आडम्बरहीनता, सहजता, अपनी स्थिति के विपरीत आत्मीयता आदि सहानुभूति के भाव में है। विस्पर के शब्दों में "वह सर्वथा निरीह है, सर्वथा विरागी, सर्वथा हार्दिक"। उसका यह रूप उसे शासक होने पर भी प्रिय बनाता है। साथ ही सहज और मानवीय होने की उसके भीतर जो आकांक्षा है उसके पूरा होने में बाधा पड़ने से उसके लिए सहानुभूति भी होती है। विस्पर कहता है "ये लोग जो ऊँची जगहों पर हैं कितने विवश हैं। स्वयं होने की उन्हें उतनी ही कम सुविधा है।" उसे कितना सहना पड़ता होगा। यदि वह भी सामान्य होता तो क्या इस दुर्भाग्य से बच न जाता। "पर हो सकता है कि राज्य को ही उसने अपने लिए सूली माना और इसीलिए स्वीकारा हो!'''सचमुच क्या जीवन क्रॉस ही नहीं है? प्रभु ईसा को कीलों से सलीब पर ठोका गया, इस आसन को कीलें सोने की हैं तो क्या वह इसलिए सलीब से ज्यादा या उससे कम है?'''" जयवर्धन को लेकर यह क्रॉस और सलीब का बिम्ब एकाधिक बार इस उपन्यास में आया है और एक हद तक यह भाव जयवर्धन के व्यक्तित्व में उत्पन्न करने में भी लेखक सफल हो सका है। किन्तु कुल मिलाकर यह आरोप बौद्धिक अधिक है, किसी उत्कट जीवन्त स्थिति में से सहज ही निकलता हुआ भाव नहीं। इसलिए किसी हद तक दिलचस्प होते हुए भी मानवीय तत्त्व के अभाव में उपन्यास किसी सार्थक स्तर तक नहीं पहुँचता।

मानवीय तत्त्व की यह क्षीणता उपन्यास में एक अन्य प्रकार से भी प्रकट होती है। पहले उल्लेख किया गया है कि उपन्यास की कथावस्तु को आज से पचास साल बाद २००७ में रखा गया है। आज की जिन्दगी की परिस्थितियों और बौद्धिक मान्यताओं के अन्तर्विरोधों, असंगतियों का बड़ा सार्थक विश्लेषण और मूल्यांकन उन्हें काल के परिप्रेक्ष्य में रखकर हो सकता है। 'जयवर्धन' ऐसी अपेक्षाएँ प्रारम्भ में जगाता भी है। पर जैनेन्द्र में मूर्त कल्पनाशक्ति का इतना अभाव है कि उपन्यास की जिन्दगी आज से एक इंच भी आगे बढ़ी हुई नहीं दीखती। जयवर्धन में नेहरू से, आचार्य में गांधी से, शिवधाम में सेवाग्राम से समानता इतनी स्पष्ट और अधिक है कि किसी दूरस्थ भविष्य का चित्र ही नहीं बनता। इसी प्रकार स्वामी चिदानन्द गुरु गोलवलकर के अथवा आज की उग्र सम्प्रदायवादी, जनसंघीय या हिन्दू सभाई राजनीति के तथा नाथ

दम्पति साम्यवादियो के प्रतिनिधि हैं। बल्कि साम्यवादी दल के नेताओ को जिस प्रकार उपहासास्पद रूप मे लेखक ने दिखाने का यत्न किया है, वह बडा सतही और आरोपित तो लगता ही है, साथ ही पूरे उपन्यास को सर्वथा सामयिक स्थिति से जोड देता है। आज से पचास वर्ष बाद हमारे देश मे और ससार मे राजनीतिक दलो और विचारो का स्वरूप वैसा ही बना रहेगा जैसा आज है और उस समय के साम्यवादी या हिन्दू सस्कृतिवादी आज जैसे ही बोलेंगे और कार्य करेंगे, यह बात हास्यास्पद ही नही, जैनेन्द्र के बौद्धिक खोखलेपन की भी सूचक है। अणुयुग की समूची राजनीति और उसकी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था सारे ससार मे इतनी तेज़ी से बदल रही है कि उसे पकड़ने और किसी भी सीमा तक विश्वसनीय रूप मे अकित करने के लिए न केवल बडी सजग और गतिशील कल्पनाशक्ति चाहिए, बल्कि आज के जीवन के विभिन्न रूपो और उनकी नियामक शक्तियो और अन्तर्धाराओ का गहरा अनुभव और बोध चाहिए। जैनेन्द्र मे दोनो का करुण अभाव है। इसलिए उनका चित्र न केवल २००७ के चित्र के रूप मे अत्यन्त फूहड लगता है, बल्कि सामयिक स्थितियो के चित्र के रूप मे भी नितान्त अविश्वसनीय और मनगढन्त है। वह निरा एक खोल है जिसके भीतर आत्मा नही—न केवल २००७ के जीवन की, बल्कि आज के जीवन की आत्मा भी बहुत ही अल्प है।

जैनेन्द्र की यह असफलता इसलिए और भी भीषण तीव्रता से उभरकर आती है, क्योकि यह उपन्यास बड़ी-बड़ी सामाजिक-राजनीतिक समस्याओ के ढाँचे मे जीवन को देखने-दिखाने का प्रयत्न करता है। जैनेन्द्र मुख्यत व्यक्ति-मन की कुछेक सीमित समस्याओ या उलझनो के ही कथाकार हैं, और हो सकते हैं। उन समस्याओं के बौद्धिक-नैतिक पक्षो को किसी हद तक नये परिप्रेक्ष्य में भी वह रख सकते हैं। पर व्यापक सामाजिक-राजनीतिक जीवन को मूर्त कर सकना, उसे कोई कलात्मक रूप दे सकना, उनकी भावात्मक और कलात्मक क्षमता दोनों के लिए असाध्य लगता है। कोई आश्चर्य नही कि सर्जनशील लेखक के रूप मे जैनेन्द्र पिछले वर्षों में अधिकाधिक चुकते गये हैं और उनका नीतिकार और उपदेशक का रूप ही अधिक उभरकर सामने आता गया है। 'जयवर्धन' उपन्यास मे भी उनका विवेचक-उपदेशक अधिक प्रबल है, जीवन का द्रष्टा और व्याख्याता कलाकार दुबका ही रह जाता है।

प्रबल नीतिकार और दब्बू रचयिता के बीच यह कशमकश जैनेन्द्र के कथा-साहित्य की बुनियादी विशेषता है। उद्धत नीतिकार सदा ही उनके सवेदनशील कलाकार को दबोच लेने मे सफल हो जाता है। यह बात हम 'जयवर्धन' मे शिल्प के स्तर पर भी देखते है। पूरी कथा को पचास वर्ष बाद के काल मे स्थित एक काल्पनिक के रूप मे प्रस्तुत करने मे असफलता की

बात पहले कही जा चुकी है। उसे एक विदेशी अजनबी पत्रकार की डायरी के रूप में अंकित करने की युक्ति भी, राजनीतिक काल्पनिका को मूर्त करने के लिए अत्यन्त उपयुक्त और दिलचस्प होने के बावजूद, वास्तव में अधिक सफल नहीं होती। बिलवर का अजनबीपन न तो बहुत उभरता है, न स्थापित ही हो पाता है। जीवन की धारा को कहीं दूर से बाहर से देख सकने की सम्भावना बड़ी रोमांचक और आकर्षक है। किन्तु उसके लिये निरन्तर अन्तरंगता का एक आयाम चाहिए जिसकी तुलना में व्यवधान का आयाम स्थापित हो सके। 'जयवर्धन' में यह सम्भावना जीवन की धड़कन के पूर्ण अथवा आंशिक अभाव में व्यर्थ ही हो जाती है। इसी प्रकार डायरी का माध्यम एक प्रकार की तात्कालिकता का प्रभाव उत्पन्न करता है। उसमें शिल्पगत ताजगी, नयापन और चमक भी स्थान-स्थान पर है। विवेचनात्मक अंशों में प्रखरता तथा इला के आत्मोल्लेखपरक प्रसंगों के विवरण में बड़ी मार्मिकता भी है। पर कुल मिलाकर आत्मा के अभाव में इस शिल्पगत युक्ति पर लेखक का पूरी तरह नियन्त्रण नहीं रहता और वह बनावटी और आरोपित हो जाती है और डायरी लेखक की अन्तरंग आत्मीयता को सम्प्रेषित करने की बजाय निरी औपचारिकता मात्र रह जाती है। शिल्प की दृष्टि से सबसे बड़ी बाधा है जैनेन्द्र की भाषा। इस उपन्यास में सम्भवतः वह अधिकतम बनावटी, ऊबड़-खाबड़, यहाँ तक कि फूहड़ भी हो जाती है। अधिकांश अंशों में वह इतनी भीषण रूप में अनुवादगंधी है कि विदेशी बिलवर की डायरी होने की बात भी उसकी कृत्रिमता और रूपहीनता को उचित नहीं ठहरा सकती। जैनेन्द्र की भाषा का यह विघटन उनके कलाकार व्यक्तित्व के विघटन का ही एक पक्ष है।

वास्तव में जैनेन्द्रकुमार जो सन् '३० के आस-पास इतनी शक्ति और सम्भावनाएँ लेकर कथाकार के रूप में हिन्दी में आये थे, आज अपनी सामर्थ्य के अवसान-बिन्दु पर खड़े जान पड़ते है, क्षमताओं की प्रौढ़ता के शिखर पर नहीं। उनकी कला में गहराई का संकेत मात्र होता है, वास्तविक गहराई नहीं होती। मानवीय अनुभूति की उनकी रचनाओं में इतनी क्षीणता और कृशता है, और वह इतनी सीमित है, कि वह रूपाकारों की पुनरावृत्ति मात्र करते रहते हैं। निस्सन्देह उन्हें जीवन की पीड़ा और करुणा की पहचान और पकड़ किसी समय थी, जीवन की ट्रेजेडी के कुछ रूपों और क्षणों को वह तब देख पाते थे। विशेषकर नारी के समर्पण-भाव के वह सबसे बड़े कथाकार हिन्दी में रहे हैं और अपनी सबसे समर्थ रचनाओं में इस समर्पण की महिमा और उसकी अस्वीकृति की अनिवार्य नियति से उत्पन्न करुणा को उन्होंने बड़ी मौलिक सूक्ष्मता से अंकित किया है। उनकी रचनाओं में भोग पर आग्रह नहीं होता,

पर भोग की कामना के बड़े हृदयस्पर्शी संकेत रहते हैं। इसके आधार पर वह एक निजी वैयक्तिक नैतिक आदर्श भी प्रस्तुत करते हैं। पर कुल मिलाकर उनके भावजगत में तीव्रता का सदा ही अभाव रहा है और 'जयवर्धन' में वह उसकी सम्भावनाओं के कारण और भी अधिक अनुभव होता है। फलस्वरूप रचना एकदम निष्प्राण लगने लगती है। सशक्त, आत्मलीन पुरुष और निरीह समर्पिता नारी का स्थिति-रूप अब इतना घिस गया है कि जय और इला के व्यक्तित्वों की विशिष्टता भी उसे जीवन्त नहीं बना पाती। कलाकृति के रूप में 'जयवर्धन' अन्ततः ऐसा मरुस्थल है जिसमें भाव और विचार की आकर्षक और सम्भावनापूर्ण धाराएँ क्रमशः सीमाहीन बालू में लुप्त होकर मरीचिका मात्र रह जाती है।

१० | दृष्टिकेन्द्र का स्खलन : 'चारु चन्द्रलेख

परम्परा से सर्जनशील सम्बन्ध का एक रूप निस्सन्देह यह है कि वर्तमान स्थितियों को अतीत के सन्दर्भ में भी पहचानने का यत्न किया जाय अथवा अतीत को किसी आधुनिक दृष्टिकेन्द्र के अन्तर्गत रखा जाय। इस प्रक्रिया में एक ओर अतीत वर्तमान के लिए अधिक सार्थक और महत्त्वपूर्ण बनता है, और दूसरी ओर समकालीन अनुभूति को काल में गहराई का और तीव्रता का एक सर्वथा नया आयाम प्राप्त होता है। इस भाँति हम अपने-आपको अतीत से जुड़ा हुआ ही नहीं, एक सर्वव्यापक सार्थकता के साथ देख पाते हैं। इसी से प्रायः प्रत्येक प्रकार की कलात्मक अभिव्यक्ति में इतिहास और पुराण की नये सिरे से व्याख्या करने का, उन्हें नये रूप में प्राप्त करने का, प्रयास बारम्बार होता रहा है। दुर्भाग्यवश हिन्दी कथा-साहित्य में इतिहास-पुराण का उपयोग प्रायः इतिवृत्तात्मक अथवा भावुक श्रद्धापूर्ण ही रहा है, उनके सर्जनात्मक पुनर्निर्माण के प्रयत्न बहुत ही कम मिलते हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के बाद हजारीप्रसाद द्विवेदी का दूसरा उपन्यास 'चारु चन्द्रलेख' इस दृष्टि से उल्लेखनीय अपवाद है। इसमें लेखक ने आधुनिक स्थितियों की चेतना के साथ, बारहवीं-तेरहवीं शती के आन्तरिक कलह से जर्जर और तान्त्रिक साधना के मोह में पथभ्रष्ट भारतीय जीवन में, उस युग की अराजकता, विशृंखलता, नैतिक हीनता और मूढ़ता के सूत्र और उनकी परिणति खोजने का प्रयास किया है। उज्जयिनी का राजा सातवाहन, उसकी बत्तीस स्त्री-लक्षणों से युक्त रानी चन्द्रलेखा और उसकी संगिनी मैना—त्रिधा-विभक्त शक्ति के तीन आद्य रूप, ज्ञान, इच्छा और क्रिया—एक-दूसरे से विच्छिन्न हैं, संयुक्त नहीं हो पाते और इसीलिए कोई सिद्धि प्राप्त नहीं होती। रानी चेतना का गतिशील पार्श्व है—इच्छामात्र; मैना उस पार्श्व का प्रतिनिधित्व करती है जो केवल क्रियामात्र है।

चारु चन्द्रलेख (१९६३)—लेखक : हजारीप्रसाद द्विवेदी; प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली; पृष्ठ ४४२।

"इच्छा गति-मात्र है, क्रिया स्थिति-मात्र है। इच्छा और क्रिया के अनवरत आघात-प्रत्याघात से जो तरंगमाला विकसित हो रही है वही मेरा इतिहास है, मेरा जीवन है, मेरा संसार है। मैं ज्ञाता हूँ, मैं दृष्टा हूँ, मैं साक्षी हूँ।"

किन्तु इच्छा अप्रतिहत है, दुर्वार वेग से गलत दिशा की ओर बढ़ी चली जाती है, और फिर कुण्ठित हो रहती है; क्रिया ऐसी है जिसके मूल मे ज्ञान नही, जिसकी समाप्ति ज्ञान में नही, इसलिए इच्छा की गोद मे आत्मघात के अतिरिक्त उसकी अन्य परिणति नही। और इच्छा तथा क्रिया से टूटा हुआ यह 'ज्ञाता', यह चैतन्य, मोहग्रस्त है, विमूढ है, रोने-झीकने वाला अपदार्थ क्लीव है। लेखक ने दिखाना चाहा है कि भारतीय इतिहास के उस अन्धकार-युग के विघटन और स्खलन का कारण यही था, पर उसने यह भी कहना चाहा है कि क्या आज भी हमारे जीवन की अराजकता और विश्रृंखलता का कारण यही नही है कि बुद्धि, इच्छा और कर्म मे कोई सामजस्य नही, कोई सहयोग नही, कोई सन्तुलन नहीं ? उस युग की परिस्थितियो और मनस्थितियों को प्रस्तुत करने मे स्थान-स्थान पर लेखक ने आधुनिक युग की गूँज पैदा की है।

"राजाओं का युद्ध समाप्त हो गया। अब कही आशा है तो प्रजा की संगठित शक्ति मे है।"

"सिद्धियाँ मनुष्य को कुछ विशेष बल नही देतीं। एक साधारण किसान, जिसमे दया-माया है, सच-झूठ का विवेक है, और बाहर-भीतर एकाकार है, वह भी बड़े-से-बड़े सिद्ध से ऊँचा है।"

"देवी के चरणों पर सिर रखकर शपथ कर कि तू सीधे जनता से सम्पर्क रखेगा, किसी को छोटा और बड़ा नही मानेगा, धरती को बपौती नही, धरोहर समझेगा, सामन्ती-प्रथा का उच्छेद करेगा।"

इस भाँति बहुत प्रकार से लेखक ने उस युग के संघर्ष मे आज की स्थितियां को समझने और पहचानने का प्रयत्न किया है, और इस कार्य के लिए उसने पूरे युग के अन्तर्द्वन्द्व को एक उपाख्यान (फेबल) द्वारा मूर्त्त करना चाहा है।

उज्जैन का राजा सातवाहन एक दिन सीदी मौला नामक एक सिद्ध की खोज मे निकलता है, तो रास्ते में उसकी चन्द्रलेखा नामक एक परम सुन्दरी, समस्त स्त्री-गुणों से सम्पन्न स्त्री से भेंट होती है जो स्वयं किसी तपस्वी की खोज मे है। राजा से वह अपनी खोज में सहायता की माँग करती है और उसकी रानी बनने को तैयार हो जाती है। सातवाहन राजधानी लौटकर उससे विवाह कर लेता है और साथ ही उस तपस्वी नागनाथ को भी ढूँढ निकालता है। पर वह तपस्वी कोटिवेधी रस की सिद्धि मे लगा है और रानी

चन्द्रलेखा से इस कार्य में सहायक होने की माँग करता है, क्योंकि सर्वगुण-सम्पन्न स्त्री द्वारा ही उस रस की सिद्धि सम्भव है।

इधर सारा देश तुर्कों के आक्रमण से आक्रांत और भयभीत है। देश के शासकों के बीच आपसी कलह और कुछ स्वार्थी लोगों के विश्वासघात के फल-स्वरूप उन्हें सफलता भी मिल रही है। विशेषकर पृथ्वीराज और जयित्रचन्द्र के वैमनस्य तथा अन्य ऐसे ही कारणों से देश नेतृत्वहीन है। इस स्थिति में सातवाहन को मन्त्री विद्याधर भट्ट, जो पहले जयित्रचन्द्र का भी मन्त्री था, देश का नेतृत्व सम्हालने के लिए प्रेरित करता है; यद्यपि उसे यह भी भय है कि राजा कहीं रानी चन्द्रलेखा के अनिंद्य सौन्दर्य पर लुब्ध और मुग्ध होने से अपना कर्तव्य न भुला बैठे। पर रानी स्वयं देश में चारों ओर घूमकर जनता को जगाने का व्रत लेती है और राजा को भी इसी के लिए प्रेरणा देती है। उसकी प्रेरणा से राजा तो इस कार्य में लगता है, किन्तु रानी स्वयं कुछ समय बाद कोटिवेधी रस की सिद्धि के लिए तपस्वी के साथ चली जाती है। रस अन्ततः सिद्ध नहीं होता और उसके बाद रानी मानसिक दृष्टि से लगभग अस्वस्थ-सी हो जाती है।

सातवाहन और उसके मन्त्री आदि मिलकर तुर्कों को हराने के लिए तैयारी करते हैं। उनका संघर्ष कुछेक तान्त्रिक मठों के महन्तों-योगियों आदि से भी है जो तुर्कों से मिल गये हैं। दूसरी ओर रानी चन्द्रलेखा की प्रेरणा से मालव प्रदेश के जनसाधारण, नट आदि, जिनमें मैना, बोधा प्रधान आदि भी हैं, राजा की सहायता के लिए सन्नद्ध हो गये हैं। कई बार शत्रु से मुठभेड़ होती है—कभी जीत, कभी हार। एक ऐसे ही संघर्ष में राजा और रानी दोनों आहत होते हैं, और एक-दूसरे से बिछुड़ भी जाते हैं। स्वस्थ होने के बाद सातवाहन शत्रु से फिर लोहा लेने के लिए अन्य राजाओं की सहायता पाने का प्रयास करता है। पर वे लोग सिद्धों और देवी-देवताओं के चक्कर में पड़े हैं, और कोई निश्चय करने में असमर्थ हैं। अन्त में सातवाहन की चन्द्रलेखा से उस समय भेंट होती है, जब उसकी प्रिय सहायिका मैना आत्मघात करती है, और वे दोनों भी आश्रय छोड़कर अन्धकार में भागने को लाचार होते हैं। चेतना को प्राप्त क्रियाशक्ति नष्ट हो जाती है, और इच्छाशक्ति दिग्भ्रमित है।

कथा का मुख्य सूत्र यही है, पर उसके अन्तर्गत बहुत से अन्य प्रसंग हैं जो इस युग की धार्मिक और बौद्धिक मान्यताओं पर, विश्वासों और विचार-कलापों पर, सामाजिक और नैतिक जीवन पर, प्रकाश डालते हैं। इनमें चन्द्रलेखा का अपना जीवन-वृत्तान्त है, विद्याधर भट्ट द्वारा राजा जयित्रचन्द्र के राज्य और शासन आदि का वर्णन और उसमें जुड़ी हुई चन्द्रलेखा के जन्म

की कथा है; चन्द्रलेखा के कोटिवेधी रस की सिद्धि से सम्बन्धित अनुभवों के साथ विष्णुप्रिया के प्रसंग हैं; सीदी मौला के निर्वाण और मध्य एशिया में भ्रमण तथा विचित्र अनुभवों की, इल्तिमश खान की कब्र पर पूजा की, तान्त्रिक और महायानी बौद्ध अभिचारों-क्रियाओं की कथा है, नाटी माता के जीवन और उनके नृत्य तथा चन्द कवि के पुत्र जल्हन के प्रसंग का सविस्तार वर्णन है; व्याघ्र-तीर्थ में अघोर भैरव द्वारा दिया बलि के अनुष्ठान के, तथा अक्षोभ्य भैरव तथा भट्टवाली के प्रसंग हैं, मैना और बोधा प्रधान के प्रेम-प्रसंग के साथ-साथ मैना और सातवाहन के बीच भी एक कोमल सूत्र का उद्घाटन है, आदि-आदि।

इस प्रकार मुख्य कथा-सूत्र अनगिनती छोटी पगडंडियों में भटकता-उलझता-बिखरता चलता है। यहाँ तक कि कई स्थलों पर प्रासंगिक गौण सूत्र प्रधान हो जाते हैं, यद्यपि समस्त बिखरे हुए सूत्रों को, विभिन्न अन्तर्कथाओं और उपकथाओं को, एक ही पार्श्वपट के रूप में बुनने का प्रयत्न भी यथा-साध्य लेखक ने किया है, और बड़े कौशल से कथा का विन्यास करने का प्रयास पूरे उपन्यास में दृष्टिगोचर होता है। किन्तु कुल मिलाकर लगता यही है कि कथा के बहाने एक अत्यन्त रोचक युग की बहुमुखी सांस्कृतिक गाथा को पूरे विस्तार से कहने का मोह लेखक संवरण नहीं कर सका है। वह उस युग के जीवन को, उसके विभिन्न स्तरों पर, विभिन्न रूपों और आयामों में, इतने विस्तार से जानता है कि उसे सभी-कुछ मूल्यवान और महत्त्वपूर्ण और सार्थक प्रतीत होता है। लगता है जैसे उस अगाध विराट भण्डार में से चुनाव करना उसके लिए कठिन हो गया है और अधिक-से-अधिक सामग्री प्रस्तुत कर देना ही उसे सर्वोत्तम उपाय जान पड़ा है। इस प्रक्रिया में 'चारु चन्द्रलेख' एक 'उपाख्यान की बजाय कथा-सरित्सागर' जैसा कहानी-क़िस्सों का ख़ज़ाना बन गया है जिसमें एक में से दूसरा आख्यान तो निकलता चला आता है, पर कुल मिलाकर रचना का कोई कलात्मक रूप नहीं उभरता।

वास्तव में इस उपन्यास की रचना में निजी तौर पर लेखक का जो भी उद्देश्य रहा हो, उसको कार्यान्वित करने में वह कलात्मक कथाकृति और सूचनात्मक ज्ञानवर्धक इतिवृत्त के बीच असमंजस में पड़ गया है, जिसके फल-स्वरूप दोनों में से कोई भी उद्देश्य पूरी तरह सिद्ध नहीं होता। निस्सन्देह 'चारु चन्द्रलेख' का प्रारम्भिक अंश हिन्दी के कल्पनामूलक सर्जनात्मक गद्य-लेखन में अपूर्वतम और अनूठा है। सातवाहन की वन में चन्द्रलेखा से भेंट और राजधानी में लौटकर उससे विवाह तक का प्रसंग कुछ इस प्रकार रचा गया है कि वह अपने सूक्ष्म कला-बोध में, काव्यात्मक व्यंजना में, भाव और विचार के सुकुमार सन्तुलन और नियोजन में, अभिव्यक्ति के निखार और संयम में,

एकदम बेजोड़ है। इस स्थल पर कथा में आधुनिक उपन्यास के वे अनिवार्य तत्त्व मौजूद हैं, जो उसे समकालीन कथा-रचना का एक अत्यन्त विशिष्ट और मार्मिक प्रकार बनाते हैं। कथा का यह उठान पाठक के मन में ऐसी छवियाँ मूर्तिमान करता है जो न केवल अपने रूप और अपेक्षाओं में नयी हैं, बल्कि साथ ही जीवन के नये अर्थों की ओर ले जाने की सम्भावनाएँ भी प्रस्तुत करती हैं।

इसके बाद ही लेखक फिर से सीदी मौला के प्रसंग को बढ़ाता है, जिससे गाँव से निकलने पर राजा की चन्द्रलेखा से भेंट हुई थी। किन्तु सीदी मौला की लम्बी कहानी, अपने-आप में पर्याप्त रोचक और तरह-तरह की जानकारी से भरपूर होने पर भी मूलतः अवान्तर और अनावश्यक जान पड़ती है। उसके बाद फिर कुछ देर तक विद्याधर भट्ट द्वारा जयित्रचन्द्र के दरबार के वृत्तान्त और चन्द्रलेखा के जन्म की कथा में तथा उसके बाद युद्ध के लिए मालव जनपद के उद्बोधन के प्रसंग में लेखक किसी हद तक मूल कथा-सूत्र को ही नहीं, उसके व्यंजनाप्रधान रूप की ओर भी, मोड़ने का प्रयास करता है। विशृंखल देश को जाग्रत और संगठित करने के लिए जन-सहयोग की आवश्यकता के विचार का समावेश वह यहीं करता है। और इस तत्त्व के समावेश से यद्यपि उपन्यास अपनी प्रारम्भिक भावभूमि से कुछ उतरता हुआ जान पड़ता है, फिर भी एक प्रकार की सार्थकता बनी रहती है।

किन्तु इसी स्थल पर गर्धया-ताल में मानवाहन का ही सर्वस्व नहीं डूबता बल्कि पूरे उपन्यास पर 'ऐसा अनभ्र वज्रपात' होता है जिसमें 'लहलहाती लता' अचानक ही सूख जाती है। इसके बाद कथा अनेकानेक सम्बद्ध-असम्बद्ध प्रसंगों और प्रसंगान्तरों में भटकने लगती है। मूल भाववस्तु खो जाती है, और इस काल के जीवन पर, उसके दृष्टिपूर्ण तथा दृष्टिहीन विश्वासों पर, धार्मिक और तान्त्रिक अभिचारों पर, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के विवरणों पर, आग्रह बढ़ जाता है। यह बात जितनी दिलचस्प है, उतनी ही अनिवार्य और स्वाभाविक है, कि अब लेखक उन तान्त्रिक प्रक्रियाओं और विश्वासों को मानव-स्थिति और नियति के साथ मौलिक रूप में जोड़ने के बजाय, उनके मनोवैज्ञानिक आधार प्रस्तुत करने लगता है। तान्त्रिक साधनाओं को किसी आधुनिक वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में देख सकने की बजाय, लेखक उनकी व्याख्या और अर्थ खोजता है, और लगता है जैसे उनकी रोचक रहस्यमयता में वह स्वयं डूब गया हो। पौराणिक अथवा मध्ययुगीन कर्मकांड, संस्कार-अभिचार आदि को या तो एक कलात्मक-रचनात्मक जीवन-पद्धति और उसकी अनिवार्य ट्रेजेडी के रूप में देखा जा सकता है, या बौद्धिक स्तर पर उसकी ऐतिहासिक-वैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय समीक्षा हो सकती है। किन्तु उसे एक स्वतन्त्र

रहस्यमयी सत्ता देकर उसका रोमांचकारी वर्णन-विवरण तिलिस्माती प्रभाव भले ही उत्पन्न करे, कोई कलात्मक सार्थकता नही प्रदान कर सकता। 'चारु चन्द्रलेख' में लेखक इस मायाजाल से अपनी रक्षा नहीं कर सका है, और उसकी भाववस्तु एक मानवीय दस्तावेज़ के बजाय प्रायः एक रहस्य-कथा बनकर रह गयी है। उपन्यास के परवर्ती अंश में सातवाहन और चन्द्रलेखा किसी आधुनिक उपाख्यान के सार्थक पात्र नही, एक रोमांचक-कथा के रोमैंटिक नायक-नायिका मात्र बने रहते हैं।

भावभूमि का यह स्खलन-परिवर्तन एक और रूप में दिखायी पड़ता है। उपन्यास के इस अंश में मैना क्रमश. प्रधानता प्राप्त करती है। किन्तु मैना-सम्बन्धी प्रसगो का अंकन अपेक्षाकृत यथार्थवादी है। अब लेखक जीवन को अभिव्यंजनाप्रधान काव्यात्मक रूप की बजाय अधिक सीधे प्रत्यक्ष रूप मे प्रस्तुत करता है, और कथा का उद्‌घाटन प्रायः विवरणात्मक और घटनाप्रधान हो जाता है। यदि अब भी उसमे काव्यात्मकता बची रहती है, तो वह मैना के दुहरे व्यक्तित्व के कारण, उसके एक सर्वथा भिन्न कोटि के अन्त सघर्ष के कारण, बोधा के साथ उसके प्रेम के बावजूद राजा सातवाहन के प्रति उसके मन के एक अत्यन्त कोमल भावसूत्र के कारण। यदि एक स्तर पर मैना चेतना के क्रिया-तत्त्व की प्रतीक है, तो एक अन्य स्तर पर वह साधारण अविशिष्ट सीधे-सादे, अकृत्रिम जीवन की भी प्रतिनिधि है—ऐसा जीवन जो सामान्य परिचित भावो और आवेगो के रूप मे देखा, जाना और समझा जा सकता है। इस दृष्टि से मैना चन्द्रलेखा और सातवाहन से सर्वथा भिन्न है, और जीवन के एक अलग ही स्तर को सूचित करती है। यदि उपन्यास के प्रतीकात्मक रूप को छोड़ दें, तो मैना और चन्द्रलेखा के बीच यह भिन्नता, बल्कि विसदृशता अपने-आप मे पर्याप्त रोचक और विशिष्टतापूर्ण है। चन्द्रलेखा और मैना सर्वथा भिन्न प्रकार की नारियाँ होकर भी अपने-अपने ढग से अपूर्व महिमामयी हैं और अपना विशिष्ट आकर्षण बनाये रखती है। इसलिए उपन्यास के इस अश मे यदि उसका प्रतीकात्मक उपाख्यानमूलक रूप टूटता है, तो एक नयी सार्थकता और प्राणवत्ता उसे मैना के रूप मे प्राप्त होती है। मैना जैसे धड़कते हुए जीवन की प्राणदायी बयार इस मन्त्र-तन्त्र से आबद्ध तथा नाना पदार्थों के होम-धूम्र से अवरुद्ध-अवसन्न प्रदेश मे बहा लाती है। उसके व्यक्तित्व मे एक प्रकार की सहजता, मधुरता और स्फूर्ति है जो उस पूरे युग के वातावरण मे अपूर्व और अप्रत्याशित लगती है, जैसे अनगिनती छाया-आकृतियो के बीच वही जीवन्त हो।

मैना के इस विशिष्ट रूप का उल्लेख इसलिए आवश्यक है कि उपन्यास के इस अंश में लगता है जैसे लेखक का दृष्टिकेन्द्र (फोकस) चन्द्रलेखा से खिसक-

कर मैना पर आ गया हो। वास्तव में उपन्यास में दृष्टिकेन्द्र का यह परिवर्तन जितना अप्रत्याशित है, उतना ही उसके मूल कथ्य तथा उसके रूप को तोड़ने वाला भी। मैना का व्यक्तित्व अपने-आप में चाहे जितना मोहक हो, पर वह समस्त रचना को केन्द्र-विच्युत ही करता है, क्योंकि वह चन्द्रलेखा की प्रतिमा को तोड़ देता है। मैना की तुलना में अब चन्द्रलेखा इतनी निष्प्राण और अरूप लगती है कि उसकी कोई विशेष सार्थकता ही नहीं रह जाती। यहाँ तक कि उपन्यास में मैना और चन्द्रलेखा का जो सम्बन्ध है, मैना उसके प्रति जो भक्तिभाव प्रदर्शित करती है, वह भी असंगत-सा प्रतीत होने लगता है।

यहाँ आकर अब लेखक की द्विधा एकदम स्पष्ट हो जाती है। वह निश्चय नहीं कर सका है कि चाहता क्या है? उसकी दृष्टि का केन्द्र चन्द्रलेखा है या मैना? दोनों में से किसके धरातल पर वह अपने कथ्य को प्रस्तुत करना चाहता है? उसका कथ्य है क्या? मैना के एक बार सामने आ जाने पर चन्द्रलेखा वास्तव ही नहीं लगती, उसकी समस्त असाधारणता कृत्रिम लगने लगती है। यह भी विश्वसनीय नहीं जान पड़ता कि मैना की तुलना में चन्द्रलेखा की अयथार्थता दिखाना ही लेखक का उद्देश्य है। क्योंकि उपन्यास का जैसा प्रारम्भ और रूपबन्ध है, प्रतीकार्थ की जैसी प्रतिष्ठा उसमें की गयी है, उसमें प्रधानता चन्द्रलेखा की ही है। वास्तव में स्थिति के इस अन्तर्विरोध का लेखक के पास कोई समाधान नहीं। परिणति मैना के आत्मघात में होती है, जो अतिनाटकीय और आरोपित लगती है। या इसी बात को दूसरी दृष्टि से कहें, तो उस कृत्रिम, अवास्तव लोक में जीवन का अपघात अवश्यम्भावी ही है। इस प्रकार यह विरोध जीवन और अ-जीवन के बीच, यथार्थ और अ-यथार्थ के बीच हो जाता है। जीवन में ही इच्छा और कर्म के बीच, यथार्थ के ही दो स्तरों के बीच नहीं स्थापित हो पाता। क्योंकि चन्द्रलेखा और मैना एक ही चेतना के दो स्तरों की नहीं, बल्कि अन्त में चेतन और अचेतन की प्रतीक जैसी जान पड़ती हैं। दृष्टिकेन्द्र की यह विच्युति इस उपन्यास की बड़ी भारी दुर्बलता है।

प्रतीकात्मक स्तर पर उपन्यास में शायद लेखक यह कहना चाहता है कि ज्ञान, इच्छा और क्रिया का अन्त तक कोई स्थायी, निर्विघ्न सामंजस्य नहीं हो पाता। पहले ज्ञान अकेला है, इसलिए असमर्थ है, व्यर्थ है। अचानक इच्छाशक्ति से उसका संयोग होता है, और चेतना सिद्धि की ओर बढ़ती जान पड़ती है; पर यह संयोग क्षणिक सिद्ध होता है। जल्दी ही इच्छा भटककर पथभ्रष्ट हो जाती है, यद्यपि इस बीच वह चेतना को क्रियाशक्ति से सम्बद्ध करने में सफल हुई है। पर इच्छा के अभाव में चेतना आहत है, क्षत-विक्षत है। इसलिए क्रियाशक्ति बहुत सफल नहीं हो पाती। चेतना क्रियाशक्ति से

प्रभावित होकर भी इच्छाशक्ति की ही खोज में बेचैन है। स्वयं क्रियाशक्ति इच्छाशक्ति के महत्त्व से आक्रान्त है। अन्त में क्रिया की सार्थकता भी चुक जाती है; और चेतना को इच्छाशक्ति प्राप्त हो जाने पर भी, अंधकार में निर्वासन के अतिरिक्त कोई पथ नहीं बचता।

किन्तु दृष्टिकेन्द्र के बदल जाने के कारण इस प्रतीकार्थ की भी उपन्यास में कोई स्पष्ट उपलब्धि मानवीय अनुभूति के रूप में नहीं होती। कथा का प्रत्येक तत्त्व अपने स्थान से हटा हुआ, धुँधला और अस्पष्ट जान पड़ता है, और पूरा उपन्यास अपने समग्र रूप में कोई समन्वित प्रभाव मन पर नहीं छोड़ता। 'चारु चन्द्रलेख' न तो सफल रूपक या उपाख्यान है, न किसी युग के यथार्थ जीवन की मर्मदर्शी आधुनिक कथा। वह विभिन्न प्रकार की संवेदनशीलताओं का रूपहीन संग्रह या प्राणहीन मिश्रण मात्र रह गया है। इसीलिए वह आधुनिक जीवन की कोई सार्थक व्याख्या या गहरी चेतना भी उत्पन्न नहीं करता।

दूसरे शब्दों में इसी बात को यों कह सकते हैं कि 'चारु चन्द्रलेख' में मानवीय तत्त्व की बड़ी क्षीणता है। उसमें उत्कट जीवनानुभूति का अभाव है, अपार तथ्य-समूह के ज्ञान का प्रदर्शन अधिक। वर्णन की रोचकता और रोमांचक रहस्यमयता पर इतना बल है कि मानवीय चरित्र या तो जीवन्त नहीं, केवल नाम-भर हैं; या प्रतीक मात्र हैं, अथवा अपूर्ण और अविकसित रह गये हैं। वे अपने-आप में, अथवा कुल मिलाकर, कोई संयोजित समन्वित प्रभाव तो छोड़ते ही नहीं।

ऊपर मैना के जीवन्त होने की बात कही गयी है। इस प्राण-तत्त्व का कुछ-कुछ स्पर्श बोधा प्रधान और नाटी माता में भी मिलता है, और उस हद तक मन को छूता भी है। पर वह भी इतना क्षीण और बाह्य है कि किसी सार्थक स्तर तक नहीं उठता। नाटी माता की जीवन-कथा, उसका सहज भक्तिभाव और आत्मोत्सर्ग, एक प्रकार की करुणा से परिपूर्ण है। किन्तु उसका सारा प्रसंग इतना पृथक् और स्वत सम्पूर्ण है कि नाटी माता के जीवन को लेकर एक पूरा उपन्यास ही लिखा जा सकता था। 'चारु चन्द्रलेख' के अपने विस्तार में उसका स्थान बड़ा प्रासंगिक है, रोचक और सूचनात्मक वह चाहे जितना क्यों न हो। इसलिए न तो उसकी अपनी पूरी सम्भावनाएँ विकसित हो पाती हैं, न कोई सार्थक आयाम वह मूल कथा-सूत्र में ही जोड़ता है।

मानवीय तत्त्व के रूप में चन्द्रलेखा दो भिन्न स्तरों पर अंकित है। यदि उसके परवर्ती रूप को एक व्यक्तित्व के विघटन के रूप में देखा जाय, तो वह भी सुचिन्तित और कलात्मक दृष्टि से भली-भाँति परिकल्पित नहीं जान

पड़ता। प्रारम्भ में वह अभिभूत करती है, और उसकी एक विशेष प्रकार की गरिमा हमारे मन पर अंकित होती है। किन्तु बाद में लगभग अकारण ही वह इतनी निस्तेज पड़ जाती है कि उस पर दया भी नहीं आती; उससे कोई सहानुभूति तक नहीं बनती। यद्यपि राजा तथा अन्य सभी व्यक्ति (और इस प्रकार उनके माध्यम से स्वयं लेखक) अब भी उसके उसी पूर्व रूप का स्मरण करके अपना आदर प्रकट करते रहते हैं। यह अपने-आप में भी विचित्र और अस्वाभाविक लगता है। साथ ही एक और भी प्रश्न है। क्या इच्छाशक्ति अपने-आप में इतनी ही दयनीय और असहाय होती है? क्या इतनी सारी तेजस्विता इस प्रकार लगभग अकारण ही स्खलित और जर्जर हो सकती है? किन्तु उसके जर्जर होने का स्थापन भी यदि जीवन्त और सप्राण हो तो बड़ा तीखा और प्रखर मानवीय वक्तव्य हो सकता है और होना चाहिए। 'चारु चन्द्रलेख' में वह कहीं नहीं होता। प्रारम्भिक तीव्रता के बाद धीरे-धीरे चन्द्रलेखा धुआँ-सी धुँधलाती पृष्ठभूमि में चली जाती है और कथा अन्य अनगिनत निरर्थक तथा शून्य प्रदेशों में भटकती रहती है।

चन्द्रलेखा के विषय में लेखक की एक और अक्षमता सामने आती है। मानवीय स्थिति की दृष्टि से उसका और मैना का सम्बन्ध कितने ही स्तरों पर एक ऐसे गहरे अन्तर्विरोध और संघर्ष की सम्भावना से भरपूर है जिससे इस उपन्यास को असाधारण गहराई और तीव्रता तथा सार्थकता प्राप्त हो सकती थी। इच्छा और क्रिया के बीच तीव्र आकर्षण और असह्य विकर्षण, उनका अनिवार्य द्वन्द्व और तनाव, तो बड़ी गहरी काव्यात्मक अर्थवत्ता से युक्त है। यदि उसे सचमुच उस युग के जीवन में पहचाना और प्रस्तुत किया जा सकता, तो पूरी रचना न केवल उस युग की एक उत्कट मानवीय स्थिति को व्यक्त करती, बल्कि वह आज के समकालीन जीवन के लिए भी अत्यधिक सार्थक और मूल्यवान हो उठती। दिलचस्प बात यह है कि चन्द्रलेखा और मैना, दोनों के व्यक्तित्वों में इसकी पर्याप्त सम्भावनाएँ मौजूद हैं, सातवाहन के साथ जिस प्रकार से दोनों को सम्बद्ध किया गया है वह उनके गहरे अन्तर्विरोध के लिए बड़ा ही मानवीय और महत्त्वपूर्ण आधार प्रस्तुत करता है। पर लेखक ने उन दोनों को अपने-अपने स्थान पर आकर्षक और मोहक बनाकर छोड़ दिया है। उनके व्यक्तित्व की निहित सार्थक मानवीय सम्भावनाओं पर उसकी दृष्टि नहीं जाती। इसके बजाय वह अन्य रोमांचक और कौतूहलवर्द्धक प्रसंगों में खो जाता है।

मानवीय तत्त्व की इस उपेक्षा का एक अन्य रूप है स्वयं राजा सातवाहन। प्रतीक स्तर पर वह ज्ञान अथवा चेतना का प्रतिनिधि है जो इच्छा और क्रिया-शक्ति के अभाव में जड़ और विमूढ़ है। पर उपन्यास के प्रारम्भ से ही वह

जैसे निरा माध्यम है, उसका अपना कोई व्यक्तित्व ही नहीं है उसमें कोई प्रेरणा नहीं है, कोई गति नहीं है। इतनी प्रधान स्थिति में ऐसे अभावात्मक, वैशिष्ट्यहीन, निष्क्रिय (पैसिव) चरित्र को रखने का क्या कलात्मक अभिप्राय हो सकता है ? वह प्रारम्भ से अन्त तक केवल रोता-भीकता ही रहता है। चन्द्रलेखा की ओर उसका व्यवहार जैसा दीनतापूर्ण है, वह भी कुछ विचित्र और असंगत ही लगता है। सातवाहन को ऐसा चरित्र बनाने की प्रतीकात्मक आवश्यकता जो भी हो, मानवीय पात्र-परिचय के स्तर पर, जीवन्त व्यक्तियों के बीच सम्बन्ध के स्तर पर, उसकी कोई सार्थकता नहीं जान पड़ती। सर्जनात्मक लेखन में व्यक्तियों का प्रतीकमूलक प्रयोग बड़ी गहरी मानवीय अनुभूति और दृष्टि की मांग करता है। रवीन्द्रनाथ टैगोर के 'रक्त-करबी', 'मुक्तधारा' या 'राजा' आदि नाटकों में पात्र पूर्णतः प्रतीकमूलक होते हुए भी अपनी चरम मानवीय सत्ता बनाये रखते हैं। इसी कारण ये नाटक एक से अधिक स्तर पर सक्रिय और सजीव हो पाते हैं। किन्तु सर्जनात्मक लेखन में चरित्रों की मानवीय सत्ता किसी भी कारण उपेक्षित नहीं की जा सकती, एक बार चाहे उसका प्रतीकात्मक रूप भले ही अस्पष्ट हो जाय। 'चारु चन्द्रलेख' में पात्रों का मानवीय रूप प्राय. विघटित हो जाता रहा है। कुल मिलाकर उसमें मानवीय तत्त्व के चित्रण में समर्थता, प्रौढ़ता, जीवन्तता और गहराई का अभाव दिखायी पड़ता है।

मानवीय तत्त्व की यह दुर्बलता सम्भवतः बुद्धिविलास के प्रति उचित से अधिक मोह के कारण भी है। इसी से रचना किसी समग्र समन्वित मानवीय अनुभूति को संप्रेषित नहीं करती। जो अनुभूति उसमें है भी, उसमें कोई तीव्रता नहीं है। उसमें भावाभास है, भावाकुलता नहीं। एक प्रकार की कृत्रिमता, यान्त्रिकता के कारण भारापार अत्यन्त दुर्बल और अशक्त लगता है। यही कारण है कि उसमें इतनी प्रसंग-विविधता और घटना-बहुलता है, और विभिन्न घटनाएँ और प्रसंग अपने-आप में ही साध्य और लक्ष्य बन गये हैं। वे अत्यन्त ही रोचक और प्रभावशाली अवश्य हैं, पर स्वतःसम्पूर्ण हैं। उनकी कलात्मक सार्थकता, संयोजन, परस्पर-सम्बद्धता और आन्तरिक अनुपात का कोई ध्यान नहीं रखा गया है। उपन्यास के अनगिनती प्रसंगों में से किसी एक पर दृष्टि डालते ही यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है।

यह बात हमें उपन्यास के रूपबन्ध और शिल्प पर ले आती है। 'चारु चन्द्रलेख' में कथा के विभिन्न अंश अलग-अलग स्रोतों से संकलित-एकत्रित हैं और बिखरे हुए सूत्रों के द्वारा कथा का उद्घाटन और विकास किया गया है। कथा को एक साथ ही प्रतीकात्मक और सहज मानवीय स्तरों पर गतिशील बनाने का प्रयास है। इस उद्देश्य के अनुरूप ही कथामुख यह सूचित करता है

कि किन्हीं अघोरनाथ नामक साधु को कहीं कथा के अंश मिले थे जिन्हें उ
व्योमकेश शास्त्री के पास विचारार्थ भेजा है। समग्र रूप में कथा मानवा
की अपने वृतान्त के रूप में लिखी गयी है। वह मुख्य पात्र ही नहीं, कथा
वर्णनकर्ता भी है। पर कथा के भीतर भी कई वर्णनकर्ता हैं, जिनमें स
चन्द्रलेखा प्रमुख है। वह सीधा वर्णन भी करती है और उसके द्वारा अन्य पु
में अपने ही अनुभव का वर्णन भी दिया गया है। एक जगह उसकी लि
पोथी भी सातवाहन पढ़ता है। इनके अतिरिक्त विद्याधर भट्ट, सीदी मौल
बोधा प्रधान, भंमल और जल्हन आदि विभिन्न स्थलों पर कथा के विभि
अंशों का वर्णन करते हैं। एक-दो स्थलों पर विभिन्न व्यक्तियों के वार्ताल
सुने जाने की युक्ति का भी प्रयोग किया गया है। इस प्रकार वर्णन में विविध
और रोचकता लाने के लिए कई प्रकार की युक्तियाँ, रूढ़ियाँ, रीतियाँ प्रयो
में लायी गयी हैं। उपसंहार में प० व्योमकेश शास्त्री की टिप्पणी में रू
सम्बन्धी कुछ विशेषताओं की चर्चा भी की गयी है :

"···कुछ बातें उनके (अघोरनाथ के) समाधिस्थ चित्त में प्रतिफलि
हुई थीं···ऐतिहासिक दृष्टि से कथा में असंगति नहीं है। ऐसा लगता
कि किसी ने ऐतिहासिक तथ्यों को सोच-विचारकर इसमें पिरोया है···कथ
दैनन्दिनी शैली में है···कथा में ऐसे विचार मिलते हैं जो आधुनिक युग की
देन हैं···कथा में सांस्कृतिक और धार्मिक तत्त्व हैं, पर उन्हें आधुनिक शिक्षा
प्राप्त व्यक्ति के संस्कार से समावृत होना पड़ा है···परन्तु कथा का स्वर
विश्वसनीय है। अघोरनाथ के लिए भी यह असम्भव ही जान पड़ता है कि
इसमें से तथ्य और कल्पना को अलग-अलग करके दिखा दें। वस्तुतः इस दृष्टि
से कथा में एक जीवन्त ऐक्य है।"

व्योमकेश शास्त्री की यह टिप्पणी बड़े दिलचस्प ढंग से इस कथा की रूप
और शिल्पगत समस्याओं का निर्देश करती है। सचाई यह है कि इस उपन्यास
में हर स्तर पर अन्विति का अभाव है, चाहे उसके प्रतीकात्मक रूप को लें,
चाहे मानवीय रूप को। इस उपन्यास में कलात्मक अन्विति तथ्य और कल्पना
में ऐक्य द्वारा नहीं, दोनों विभिन्न स्तरों पर उनके अन्तःसमन्वित और परस्पर-
समन्वित होने से ही आ सकती थी। तथ्य और कल्पना के ऐक्य ने तो कुछ
ऐसी रोचक कौतूहलपूर्ण रहस्य-कथा गढ़ डाली है, जिसमें प्रतीकात्मक अथवा
प्रत्यक्ष मानवीय, दोनों में से किसी प्रकार की सम्पूर्ण सार्थकता नहीं उत्पन्न हो
सकी है।

कुल मिलाकर इस रचना के रूप में बिखराव अधिक है। हर प्रसंग अपने-
आप में सम्पूर्ण जान पड़ता है। शायद इसका एक कारण भी यह है कि यह
उपन्यास खण्ड-खण्ड करके लिखा गया है : इसका अधिकांश 'कल्पना' मासिक-

पत्रिका में क्रमशः प्रकाशित हुआ था। यह खण्ड-खण्ड करके रचे जाने की छाप इसके पूरे रूपबन्ध पर वर्तमान है। वह समग्रता का प्रभाव उत्पन्न ही नहीं करता। इसकी चरम परिणति है इसके अन्त में। ऐसा लगता है अचानक लेखक को किसी-न-किसी प्रकार इसे समाप्त कर देना आवश्यक जान पड़ा। इसलिए लेखक एक ओर तो बड़े ही नाटकीय, बल्कि अतिनाटकीय, ढंग से लगभग अकारण ही मैना से आत्मघात करा देता है; और दूसरी ओर उतने ही रहस्यपूर्ण और रोमांचकारी रूप में रानी और सातवाहन की बहुत दिनों बाद भेंट कराता है, रात्रि के अंधकार में छिपकर एक साथ भाग निकलने के लिए। यह नाटकीय अन्त आखिरी झटका पाठक को देता है और बहुत सुचिन्तित नहीं लगता, और न किसी मूलभूत उद्देश्य की सिद्धि में सहायक ही जान पड़ता है। यद्यपि यह भी ठीक है कि पूरी कथा जिस प्रकार से चलती रही है, उसे कहीं भी रोका जा सकता है, कहीं भी तोड़ा जा सकता है, क्योंकि सम्पूर्ण रूपबन्ध की अन्विति का कोई प्रश्न ही शायद लेखक के सामने नहीं है। प्रसंग-प्रधानता के आधार पर कथा-रचना में अन्विति का कोई महत्त्व सम्भवतः होता भी नहीं।

खण्ड-खण्ड में लिखी जाने का एक अन्य प्रभाव है स्थितियों, भावदशाओं तथा विचारों की पुनरावृत्ति। तुर्कों के साथ मुठभेड़ों में, विभिन्न अभिचारों के वर्णनों के उत्कर्ष-बिन्दु में, राजा सातवाहन की मानसिक निष्क्रियता और जड़ता के उद्घाटन में, बार-बार एक ही प्रकार की युक्तियों का प्रयोग दिखायी पड़ता है। इसी कारण सम्पूर्ण कथा के भीतर गति की बड़ी भारी विषमता है। उसमें सहज आन्तरिक लय नहीं दीख पड़ती; उसकी द्रुतता और मन्दता के बीच संयोजन तथा समंजन नहीं जान पड़ता। प्रतीकात्मक स्तर पर रची जाने वाली कथा की यह अनिवार्य आवश्यकता है। इस आन्तरिक गति और लय के अभाव में कोई प्रतीकात्मक रचना, जिसका मूलरूप अपनी व्यंजनात्मकता के कारण काव्य-जैसा होता है, जीवन्त नहीं हो सकती। 'चारु चन्द्रलेख' की आन्तरिक गति न पूर्णतः काव्यात्मक है, न पूर्णतः इतिवृत्तात्मक। कथ्य की आन्तरिक अन्विति के अभाव में रूपबन्ध और शिल्प भी शिथिल होकर बिखर गया है।

इस प्रकार यद्यपि 'चारु चन्द्रलेख' में ऐतिहासिक परिवेश की नवीनता तथा मूल कथा-सूत्र की चमत्कारिक मौलिकता है, उसमें निहित आधुनिक सम्भावनाओं में सार्थकता, और उसकी परिकल्पना और रूप में काव्यात्मकता का आश्वासन है, फिर भी वह कलात्मक उपलब्धि के स्तर पर बड़ा गहरा असन्तोष मन में छोड़ जाता है। कुछ ऐसा अनुभव होता है जैसे पाठक कहीं ठगा गया हो। इस दृष्टि से शैली की रहस्यमयी रोचकता यदि एक ओर पाठक को अन्त तक

११ | अन्य दिशाएँ

पिछले अध्यायो मे जिन उपन्यासो की विस्तार से चर्चा हुई है उनके बारे मे साधारणतः हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि अलग-अलग कृतियो मे कालखण्ड के विस्तार, विषयवस्तु के महत्त्व, दृष्टिकोण की नवीनता, अनुभूति के अपरिचित क्षेत्रों से अन्वेषण, शिल्पगत विशिष्टता आदि के बावजूद कुल मिलाकर उनमें जीवन से साक्षात्कार किसी-न-किसी आयाम मे अपर्याप्त और अधूरा रह गया है; वे सार्थकता के एक स्तर तक पहुँचकर रुक जाती हैं और कलात्मक उपलब्धि की दृष्टि से, आत्यन्तिक रूप मे, विश्व-साहित्य के श्रेष्ठतम कृतित्व की कोटि मे उनकी गणना कठिन है। फिर भी वे उपन्यास किसी-न-किसी अर्थ मे हिन्दी के सर्जनात्मक प्रयास को एक या एक से अधिक चरण आगे तो ले ही जाते है, और, चाहे सीमित अर्थ मे ही सही, महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। कई बार तो उनसे निराशा शायद इसीलिए अधिक होती है कि वे अपेक्षाएँ कहीं बडी उत्पन्न करते हैं।

इनके अतिरिक्त भी इस दौर के ऐसे कई उपन्यास है जिनमे इस साक्षात्कार की खोज किसी-न-किसी मात्रा मे मौजूद है, चाहे वे उसकी उपलब्धि मे कितने ही असफल क्यो न रहते हो। ऐसी सभी कृतियो का विश्लेषण सम्भव नही। इस अध्याय मे हम उनमे से केवल छह उपन्यासो पर विचार करेंगे। इनमें भी अपने-अपने ढग की कुछ-न-कुछ विशेषता तो है, पर वे सम्भवतः एक अन्य स्तर और भिन्न प्रकार से इस सर्वेक्षण की मुख्य स्थापनाओं की ही पुष्टि करते है।

इनमे सबसे महत्त्वपूर्ण है धर्मवीर भारती का लघु उपन्यास 'सूरज का सातवाँ घोड़ा',[1] जो अपनी शिल्पगत नवीनता और ताजेपन, उन्मुक्त हास्य और व्यंग्य तथा उनके पीछे निहित निम्न मध्यवर्गीय जीवन के खोखलेपन और करुणा की अभिव्यक्ति के लिए निस्सन्देह उल्लेखनीय है। इसमे प्रस्तुत तसवीर

---

[1] सूरज का सातवाँ घोड़ा (१९५२)—लेखक : धर्मवीर भारती; प्रकाशक. साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद; पृष्ठ १२७।

इलाहाबाद के एक मोहल्ले के उन साधारण लोगों की ज़िन्दगी की है जो कैसे छोटे-छोटे, प्राय. अदृश्य, सूत्रों से एक-दूसरे से जुड़े हैं, पीड़ाग्रस्त वर्तमान और अपनी चरम नियति दोनों में। वे ऊपर से भिन्न दीखते हुए भी अन्ततः एक-जैसी साहसहीनता, गतानुगतिकता और सुविधावादिता से आक्रान्त हैं, एक प्रकार के ढुलमुलपन और संकीर्ण स्वार्थपरता में उनके सपने निरे कल्पनाविलास होकर रह जाते हैं। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' की यह विषयवस्तु नयी नहीं है, पर उसकी अनुभूति में नयापन और आत्मीयता है, और उसे प्रस्तुत करने के ढंग में चमत्कार और मौलिकता। छोटी-छोटी परस्पर सम्बद्ध कथाओं के सहारे एक पूरे प्रसंग का प्रस्तुतीकरण हुआ है, जिसके नायक हैं माणिक मुल्ला जो कहने को दूसरों की प्रेम-कथाएँ सुनाते हैं, पर अन्त में वे सब मिलकर स्वयं उनके ही जीवन की विडम्बना और उसके खोखलेपन को उजागर कर देती हैं।

उपन्यास के अन्तिम अध्याय में एक सपने में विभिन्न कथाएँ अचानक ही परस्पर सम्बद्ध हो जाती हैं और अगले अध्याय में माणिक कहते हैं :

"यथार्थ जिन्दगी के बहुत-से पहलुओं को, बहुत-सी चीज़ों के आन्तरिक सम्बन्ध को और उनके महत्त्व को, तुम सपनों में एक ऐसे बिन्दु से खड़े होकर देखोगे जहाँ से दूसरे नहीं देख पाएँगे।"

'सूरज का सातवाँ घोड़ा' में इस आन्तरिक सम्बन्ध को पहचानने का प्रयास है। माणिक मुल्ला कहते हैं :

"देखो, ये कहानियाँ वास्तव में प्रेम नहीं वरन् उस जिन्दगी का चित्रण करती है जिसे आज का निम्न मध्यवर्ग जी रहा है। उसमें प्रेम से कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण हो गया है आज का आर्थिक संघर्ष, नैतिक विशृंखलता, और इसी-लिए इतना अनाचार, निराशा, कटुता और अँधेरा मध्यवर्ग पर छा गया है। पर कोई-न-कोई ऐसी चीज है जिसने हमें हमेशा अँधेरा चीरकर आगे बढ़ने, समाज-व्यवस्था को बदलने और मानवता के सहज मूल्यों को पुनःस्थापित करने की ताकत और प्रेरणा दी है। चाहे उसे आत्मा कह लो चाहे कुछ और। और विश्वास, साहस, सत्य के प्रति निष्ठा, उस प्रकाशवाही आत्मा को उसी तरह आगे ले चलते हैं जैसे सात घोड़े सूर्य को आगे बढ़ा ले चलते हैं।"

माणिक मुल्ला यह भी बताते है कि "यद्यपि बाकी छह घोड़े दुर्बल, रक्तहीन और विकलांग हैं पर सातवाँ घोड़ा (जो भविष्य का घोड़ा है) तेजस्वी और शौर्यवान है और हमें अपना ध्यान और अपनी आस्था उसी पर रखनी चाहिए।"

कठिनाई यह है कि उपन्यास में आशा और आस्था का यह आरोप 'निष्कर्षवादी' अधिक है, कथा में प्रस्तुत मानवीय स्थिति से सहज निःसृत नहीं। उपन्यास का नाम 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' होने पर भी, सारा जिक्र

वाली छह दुम-कटे, पैर उखड़े, घायल खुरवाले, सूखकर ठठरी हुए घोड़ों का है। वास्तव मे भारती के कलाकार व्यक्तित्व मे कही कोई अन्तर्विरोध है जो सारे चमत्कार और तीखेपन के बावजूद प्रभाव की एकाग्रता को तोड़ता है। यह अन्तर्विरोध शायद माणिक मुल्ला के व्यक्तित्व में ही है। जमुना और लीला की कथाओ मे माणिक के व्यक्तित्व मे एक प्रकार की तटस्थता रहती है, जैसे वह स्वय उन परिस्थितियों में अवश-लाचार घिरा हो, उसका अपना कोई निर्णय उनकी अनिवार्य परिणति को बदलने मे असमर्थ हो। पर सत्ती के प्रसग मे माणिक की अपनी कायरता, स्वार्थपरता और क्षुद्रता सामने आ जाती है। पहले दो प्रसगो मे व्यजित उसके व्यक्तित्व की निस्सग तेजोमयता सर्वथा नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है, और अन्तत उसमे तथा तन्ना, महेसर दलाल या चमन ठाकुर में कोई मूलभूत अन्तर नही बचता। इस कारण प्रभाव की एकाग्रता और तीव्रता दोनों ही खण्डित हो जाती हैं।

इसके अतिरिक्त विभिन्न कथाओं की मानवीय स्थितियों मे भी बहुत-कुछ एकरसता या पुनरावृत्ति है. माणिक-जमुना, माणिक-लीला, माणिक-सत्ती—तीनों कथाएँ प्रायः एक-सी है। थोड़ी-बहुत विविधता अन्य पुरुष पात्रों के व्यक्तित्वो के कारण—रामधन, तन्ना, महेसर दलाल या चमन ठाकुर के कारण—आती है, पर वह पर्याप्त नही जान पडती।

पूरे उपन्यास मे विशिष्ट व्यक्तित्व सत्ती का है। "उसमे जो कुछ था वह माणिक मुल्ला को आकाश के सपनो में विहार करने की प्रेरणा नही देता था, न उन्हें विकृतियो की अँधेरी खाइयो मे गिराता था। वह उन्हे धरती पर सहज मानवीय भावना से जीने को प्रेरणा देता था।" असल मे यह व्यक्तित्व ही इस कृति की सबसे बड़ी उपलब्धि है जो उसे मार्मिक भी बनाती है। किन्तु कुल मिलाकर यह सीमित जिन्दगी की कहानी है जो दूर तक नही ले जाती।

'सूरज का सातवाँ घोड़ा' का पहला प्रभाव उसके शिल्प की चमक के कारण बड़ा प्रबल होता है। पुराने उपाख्यानों या लोक-कथाओ की भाँति इसमे कथाचक्र की पद्धति का प्रयोग किया गया है, जिसमे हर रोज एक में से एक कथा निकलती चली आती है, और अन्त मे सभी कथाएँ मिलकर एक सम्पूर्णता को व्यजित करती है। निस्सन्देह इस शिल्पविधि का बड़ा दिलचस्प प्रयोग उपन्यास में हुआ है, और एक बार तो वह एकदम अभिभूत कर लेता है। पर कुल मिलाकर भारती शैली और शिल्प के प्रति आवश्यक से अधिक सचेष्ट दिखायी पड़ते हैं। फलस्वरूप 'शिल्प' ऊपर तैर आता है, और अत्यधिक मुखर तथा अनुपात से अधिक प्रतीत होता है। सारे उपन्यास में सन् १९५० के आस-पास के साहित्यिक विवादो के इतने सकेत हैं, और उनके सन्दर्भ मे इतनी

शिल्प-विन्यास गया बहुत-मुश्किल है, कि उपन्यास के आकार को देखते यह आवश्यकता से अधिक प्रतीत होता है। साथ ही पूरे दृष्टिकोण में प्रकार की विनोद-मुखरता है—जो व्यंग्य और हास्य के बावजूद भाव गंभीर मौलिक चुनाव में भी परिलक्षित होती है—जो उपन्यास को व्यापक स्तर तक नहीं उठने देती, आकर्षक रोचकता के इर्द-गिर्द ही भटकती रहती है। फिर भी १९५७ में 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' का प्रकाशन हिन्दी उपन्यास साहित्य में एक नयी दिशा का ताजा झोंका हवा के झोंके का, सूचक था और इसका यह महत्त्व निस्संदेह बना रहेगा।

१९६३ में प्रकाशित (और १९५७ से प्रारम्भ होकर १९६१ में समाप्त) उपेन्द्रनाथ अश्क का 'शहर में घूमता आईना'¹ भी निम्न मध्यवर्ग के जीवन से ही सम्बन्धित है और स्वाधीनता से पहले जालन्धर के बारह घंटों के दैनन्दिन जीवन की कहानी प्रस्तुत करता है।

चेतन लाहौर में एक दैनिक में सहायक सम्पादक है। वह अपनी सुन्दरी साली नीला के प्रति बहुत आकृष्ट है और एक बार मसूरी में बीमार होने पर अपनी तीमारदारी के लिए उपस्थित नीला को चूम लेता है। इससे उसके मन में पश्चात्ताप होता है। वह अपने-आप को क्षमा नहीं कर पाता और उसके पिता से सारी घटना कहकर जल्दी से उसका विवाह रंगून-निवासी किसी अधेड़ व्यक्ति से करवा देता है। नीला के विवाह के अगले दिन वह अपने जन्मस्थान जालन्धर आता है, पर अब वह इस कारण ग्लानि और पश्चात्ताप से पीड़ित है कि उसके कारण ही शायद नीला का जीवन बर्बाद हो गया। इसलिए वह अपनी पत्नी चन्दा के साथ भी सहज और स्वाभाविक नहीं हो पाता, और इस बेचैनी में सबेरे ही घर से निकल पड़ता है (और बहुत संक्षेप में पिछली पृष्ठभूमि देकर यहीं से उपन्यास प्रारम्भ होता है) और दिन-भर शहर के विभिन्न मोहल्लों, सड़कों, गलियों में भटकता है, अपने पुराने परिचितों, मित्रों और नाते-रिश्तेदारों से मिलता है, तरह-तरह के नीरस और उत्तेजक कामों में भाग लेता है, अपने पुराने जीवन को याद करता है, आदि। पर उसकी बेचैनी नहीं जाती। सबेरे जब वह घर से निकला था तब उसकी पत्नी सोयी थी; अब बहुत रात गये जब वह लौटता है, तब भी वह सोयी है। वह उसके पास लेट जाता है, और दिनभर के अपने बेचैन भटकने पर विचार करता है। तरह-तरह के चरम शाश्वत सत्य और दार्शनिक विचार उसके मन में आते हैं। कई बार उसके मन की 'घुटन जैसे हवा' होती है, हलकेपन

---

¹ शहर में घूमता आईना (१९६३)—लेखक : उपेन्द्रनाथ अश्क; प्रकाशक : नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद; पृष्ठ ४७४।

के अहसास में उसके प्राण भर उठते हैं। अन्त में अपनी पत्नी के मुख को देखते-देखते उसे लगता है : "वह केवल अपनी ही भावना, अपने ही स्वार्थ, अपने ही पक्ष की बात सोचता है। उसके पास जो है, उसे ठुकराकर जो नहीं है, जो नहीं मिल सकता, उसके पीछे परेशान है।" और अब उसके हृदय में ग्लानि-मिश्रित करुणा का एक ज्वार उमड आता है। अपनी सुहागरात के दिन चेतन को लगा था : "चन्दा के यहाँ नाज़ था न नखरा, न चालाकी न चतुराई, न हठ न जिद। गहरी विशाल झील-सी वह आवेगहीन थी जिसके किनारे चाहे लेटो, पानी पियो, या उतरकर गोता लगा लो। झील तेज नदी की तरह उठाकर नहीं पटकेगी, सहज भाव से सब-कुछ ले लेगी···और सुखानुभूति से चेतन का अणु-अणु पुलकित हो गया था।" आज भी जब चन्दा आँखें खोल देती है, तो उससे बात करने के बाद चेतन को लगता है : "गर्मी और तपिश से जला-झुलसा, थका-हारा वह उसी विशाल झील के किनारे आ गया है—उसके ठहरे निथरे निर्मल जल के किनारे ही उसकी नियति है, वह क्यों उससे दूर भागता है, उसे कहीं त्राण नहीं मिलेगा, कहीं शान्ति नहीं मिलेगी।"

ज़ाहिर है इस अनुपम अद्वितीय चरम भावोपलब्धि के लिए ज़रूरी है कि चेतन बहुत बेचैन भटके, थके-हारे, इसलिए दिनभर वह बेतहाशा यही करता है। 'शहर में घूमता आईना' इस चरम उपलब्धि के क्षण तक पहुँचने के लिए उसके दिनभर दर-दर मारे फिरने की कहानी है। ४७४ पृष्ठों के उपन्यास में केवल प्रारम्भिक तेरह और अन्तिम ग्यारह पृष्ठों को छोड़कर बाकी में चेतन के इसी बेचैनी में भटकने की दास्तान है।

पुस्तक के आवरण पृष्ठ के भीतरी हिस्से पर छपा है : "और सहसा हम पाते हैं कि अरे, यह कहानी तो चेतन की नहीं, उसकी पत्नी चन्दा की है—उस भोली-भाली, निरीह, उदार, बेकिनार झील-सी शान्त चन्दा की—लेखक का कमाल यह है कि इस महत्त्वपूर्ण चित्र के लिए उसने अपने ब्रुश के कुछ स्ट्रोक्स ही सर्फ किये है, लेकिन यह चित्र सभी चित्रों को पीछे हटाकर हमारे दिलो-दिमाग पर छा जाता है।" लगता है यह वाक्य शायद इसी सफाई के लिए लिखा गया है कि इस उपन्यास में दो अलग-अलग प्रायः असम्बद्ध टुकड़े हैं—एक चेतन और उसकी पत्नी चन्दा से सम्बन्धित और दूसरा चेतन के भटकने के बहाने जालन्धर के निम्न-मध्यवर्गीय जीवन के बेशुमार लम्बे ब्यौरेवार विवरणों का। और दोनों के बीच अनुपात इतना असन्तुलित है कि किसी-न-किसी प्रकार से 'ब्रुश के स्ट्रोक्स' और 'कमाल' का दावा किये बिना उनके जोड़ को छिपाया नहीं जा सकता और न इस असन्तुलन को गले ही उतारा जा सकता है। दोनों में कोई मूलभूत आन्तरिक

टीका-टिप्पणी तथा बहस-मुबाहिसा है, कि उपन्यास के आकार को देखते हुए वह आवश्यकता से अधिक प्रतीत होता है। साथ ही पूरे दृष्टिकोण में एक प्रकार की किशोर-सुलभता है—जो व्यंग्य और हास्य के बावजूद भाषा के रंगीन रोमैंटिक बुनाव में भी परिलक्षित होती है—जो उपन्यास को स्थायी वयस्क स्तर तक नहीं उठने देती, आकर्षक रोचकता के इर्द-गिर्द ही भटकाये रखती है। फिर भी १९५२ में 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' का प्रकाशन हिन्दी उपन्यास साहित्य में एक नयी दिशा का, ताजा खुली हवा के झोंके का, सूचक था और इसका यह महत्त्व निस्सन्देह बना रहेगा।

१९६३ मे प्रकाशित (और १९५७ से प्रारम्भ होकर १९६१ में समाप्त) उपेन्द्रनाथ अश्क का 'शहर में घूमता आईना'[1] भी निम्न मध्यवर्ग के जीवन से ही सम्बन्धित है और स्वाधीनता से पहले जालन्धर के बारह घंटों के दैनन्दिन जीवन की कहानी प्रस्तुत करता है।

चेतन लाहौर मे एक दैनिक में सहायक संपादक है। वह अपनी सुन्दरी साली नीला के प्रति बहुत आकृष्ट है और एक बार ससुराल मे बीमार होने पर अपनी तीमारदारी के लिए उपस्थित नीला को चूम लेता है। इससे उसके मन मे पश्चात्ताप होता है। वह अपने-आप को क्षमा नहीं कर पाता और उसके पिता से सारी घटना कहकर जल्दी से उसका विवाह रंगून-निवासी किसी अधेड़ व्यक्ति से करवा देता है। नीला के विवाह के अगले दिन वह अपने जन्मस्थान जालन्धर आता है, पर अब वह इस कारण ग्लानि और पश्चात्ताप से पीड़ित है कि उसके कारण ही शायद नीला का जीवन बर्बाद हो गया। इसलिए वह अपनी पत्नी चन्दा के साथ भी सहज और स्वाभाविक नहीं हो पाता, और इस बेचैनी में सवेरे ही घर से निकल पड़ता है (और बहुत संक्षेप में पिछली पृष्ठभूमि देकर यहीं से उपन्यास प्रारम्भ होता है) और दिन-भर शहर के विभिन्न मोहल्लों, सडकों, गलियों मे भटकता है, अपने पुराने परिचितों, मित्रों और नाते-रिश्तेदारों से मिलता है, तरह-तरह के नीरस और उत्तेजक कामों में भाग लेता है, अपने पुराने जीवन को याद करता है, आदि। पर उसकी बेचैनी नहीं जाती। सवेरे जब वह घर से निकला था तब उसकी पत्नी सोयी थी; अब बहुत रात गये जब वह लौटता है, तब भी वह सोयी है। वह उसके पास लेट जाता है, और दिनभर के अपने बेचैन भटकने पर विचार करता है। तरह-तरह के चरम शाश्वत सत्य और दार्शनिक विचार उसके मन में आते हैं। कई बार उसके मन की 'घुटन जैसे हवा' होती है, हलकेपन

---

[1] शहर में घूमता आईना (१९६३)—लेखक: उपेन्द्रनाथ अश्क; प्रकाशक: नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद; पृष्ठ ४७४।

के अहसास में उसके प्राण भर उठते है। अन्त में अपनी पत्नी के मुख को देखते-देखते उसे लगता है : "वह केवल अपनी ही भावना, अपने ही स्वार्थ, अपने ही पक्ष की बात सोचता है। उसके पास जो है, उसे ठुकराकर जो नही है, जो नही मिल सकता, उसके पीछे परेशान है।" और अब उसके हृदय मे ग्लानि-मिश्रित करुणा का एक ज्वार उमड आता है। अपनी सुहागरात के दिन चेतन को लगा था "चन्दा के यहाँ नाज़ था न नखरा, न चालाकी न चतुराई, न हठ न ज़िद। गहरी विशाल झील-सी वह आवेगहीन थी जिसके किनारे चाहे लेटो, पानी पियो, या उतरकर गोता लगा लो। झील तेज नदी की तरह उठाकर नही पटकेगी, सहज भाव से सब-कुछ ले लेगी" और सुखानुभूति से चेतन का अणु-अणु पुलकित हो गया था।" आज भी जब चन्दा आँखें खोल देती है, तो उससे बात करने के बाद चेतन को लगता है "गर्मी और तपिश से जला-झुलसा, थका-हारा वह उसी विशाल झील के किनारे आ गया है—उसके ठहरे निथरे निर्मल जल के किनारे ही उसकी नियति है, वह क्यों उससे दूर भागता है, उसे कही त्राण नही मिलेगा, कही शान्ति नही मिलेगी।"

जाहिर है इस अनुपम अद्वितीय चरम भावोपलब्धि के लिए ज़रूरी है कि चेतन बहुत बेचैन भटके, थके-हारे, इसलिए दिनभर वह बेतहाशा यही करता है। 'शहर मे घूमता आईना' इस चरम उपलब्धि के क्षण तक पहुँचने के लिए उसके दिनभर दर-दर मारे फिरने की कहानी है। ४७४ पृष्ठों के उपन्यास में केवल प्रारम्भिक तेरह और अन्तिम ग्यारह पृष्ठों को छोडकर बाकी मे चेतन के इसी बेचैनी मे भटकने की दास्तान है।

पुस्तक के आवरण पृष्ठ के भीतरी हिस्से पर छपा है: "और सहसा हम पाते हैं कि अरे, यह कहानी तो चेतन की नही, उसकी पत्नी चन्दा की है—उस भोली-भाली, निरीह, उदार, बेकिनार झील-सी शान्त चन्दा की—लेखक का कमाल यह है कि इस महत्त्वपूर्ण चित्र के लिए उसने अपने ब्रुश के कुछ स्ट्रोक्स ही सर्फ किये है, लेकिन यह चित्र सभी चित्रो को पीछे हटाकर हमारे दिलो-दिमाग पर छा जाता है।" लगता है यह वाक्य शायद इसी सफाई के लिए लिखा गया है कि इस उपन्यास में दो अलग-अलग प्रायः असम्बद्ध टुकडे हैं—एक चेतन और उसकी पत्नी चन्दा से सम्बन्धित और दूसरा चेतन के भटकने के बहाने जालन्धर के निम्न-मध्यवर्गीय जीवन के बेशुमार लम्बे ब्यौरेवार विवरणो का। और दोनों के बीच अनुपात इतना असन्तुलित है कि किसी-न-किसी प्रकार से 'ब्रुश के स्ट्रोक्स' और 'कमाल' का दावा किये बिना उनके जोड को छिपाया नही जा सकता और न इस असन्तुलन को गले ही उतारा जा सकता है। दोनों मे कोई मूलभूत आन्तरिक

या कलात्मक सम्बन्ध है ही नहीं। चन्दा वाला अंश केवल इसलिए लाया गया जान पड़ता है कि एकरस ज़िन्दगी के सड़े विवरणों की शृंखला का अन्त एक भावुकतापूर्ण प्रसंग से किया जा सके। यह एक प्रकार का जान-बूझकर रचा गया चरमबिन्दु या 'क्लाइमैक्स' है जिसका पूर्ववर्ती कार्य-व्यापार से बड़ा दूर का ही सम्बन्ध दिखायी पड़ता है। इस प्रकार पूरी रचना में कोई कलात्मक अन्विति के बजाय एक प्रकार की शिल्पगत युक्ति की प्रधानता है, जो अपनी चतुराई में लगभग व्यावसायिक जान पड़ती है।

इसलिए यदि उपन्यास की उपलब्धि के साथ तनिक भी न्याय करना हो तो इन दो सूत्रों के सम्बन्ध की कमज़ोरी को छोड़कर उनकी अपनी अलग-अलग सार्थकता और कलात्मक संगति पर विचार करना ही अधिक उपयुक्त होगा।

पहले चन्दा और लीला के प्रसंग को लीजिए। आश्चर्य होता है कि अपने समग्र रूप में ऐसा निहायत ही भावुकतापूर्ण और किशोरसुलभ भावसूत्र अश्क ने इस उपन्यास में क्यों जोड़ा। यह स्वयं अश्क की तथा अन्य सैकड़ों कहानियों की स्थिति की पुनरावृत्ति मात्र है. नायक का पत्नी की बहन से प्यार, उसकी दूसरी जगह शादी, नायक की विरह-पीड़ा और अन्त में पत्नी से ही समझौता। इसमें न तो कुछ नया या अभूतपूर्व ही है और न कोई गहरी या सार्थक भावानुभूति ही। जिस चरम उपलब्धि के लिए लेखक ने एक पूरे अध्याय भर धरती-आसमान का दर्शन छाँटा है, वह भी अपने-आप में न केवल नितान्त साधारण है, बल्कि अत्यन्त ही क्षुद्र और सतही है, और हिन्दी फ़िल्में देखने और फ़िल्मी संगीत सुननेवाले किशोर-किशोरियों के सिवाय किसी के लिए उसकी कोई कलात्मक सार्थकता नहीं।

वास्तव में पूरे उपन्यास का कुछ भी महत्त्व यदि है तो वह उसके दूसरे अंश के कारण, जिसमें लेखक ने बड़ी सूक्ष्मता और विशदता के साथ एक क़स्बे की निम्न-मध्यवर्गीय ज़िन्दगी के बहुत सारे रेखाचित्र प्रस्तुत किये हैं। इनमें मध्यवर्गीय समाज के बहुत-से स्तर, बहुत-से रूप और उनके प्रतिनिधि, बहुत-से व्यक्ति प्रस्तुत हो सके हैं, और लगता है जैसे पूरे क़स्बे की ज़िन्दगी मूर्त हो उठी हो। विशेषकर इस ज़िन्दगी का जैसे युगों से चला आता ठहराव, पिछड़ापन, उसकी संकीर्णता, क्षुद्रता, स्वार्थपरता—सब-कुछ बड़े विस्तार से ब्यौरे के साथ रखा गया है। लेखक ने इस ठहरे हुए जीवन की घुटन, कुण्ठा और असंतुलित मानसिकता को पूरी तरह व्यंजित किया है और उसके सामाजिक-आर्थिक कारणों का भी निर्देश किया है : "इस अभावग्रस्त मुहल्ले में जहाँ अशिक्षा, असंस्कृति, भूख और प्यास का राज्य था; जहाँ कई घरों में उमर-भर के भूखे-प्यासे कुँवारे पड़े थे, अनाचारी, जुआरी, व्यभिचारी और पागल न हों तो

और क्या हो?" निस्सन्देह अश्क ने बड़े परिश्रम से इस समाज के हर प्रकार के पात्र की मूर्ति उकेरी है और उसे प्रामाणिक बनाने का प्रयास किया है। अधिकतर ये पात्र प्रतिरूप (टाइप) हैं किन्तु लेखक ने इतने विस्तार से उनके कुछेक कार्यों का विवरण दिया है कि उनमें एक निजी जीवन भी आ गया है। रामदित्ता, हकीम दीनानाथ अगला, हुनर शादीराम मणिराम आदि कई व्यक्तियों में अपनी निजी चिनगारी भी है यद्यपि वे सब प्रतिरूपता के बोझ से दबे हैं। कुछेक पात्र 'कैरीकेचर' के ढंग के हैं जैसे महात्मा शादीराम या सेठ कालन्दरी मल योगी आदि। बद्री देवू प्याज़ आदि गुण्डे तथा चुन्नीलाल और घनश्याम में कुछ रोचक-उत्तेजक असाधारणता की झलक है। कुल मिलाकर व्यक्ति रूप में इन पात्रों में पर्याप्त भिन्नता है।

किन्तु समुदाय रूप में वे सब एक-जैसे ही हैं। ज़िन्दगी के साथ और चेतन के साथ उनका मूल भावात्मक सम्बन्ध प्रायः एक-सा है। उनकी अपनी सार्थकता भी एक-सी ही है। वे सारे-के-सारे समतलीय हैं किसी में कहीं कोई ऊर्ध्वता या गहनता का आयाम नहीं। इसीलिए उनसे सम्बन्धित प्रसंग भी एक ही धरातल पर, मूल भाववस्तु में किसी उभार या उठाव के बिना, सामने आते और निकलते चले जाते हैं। वे किसी चरम परिणति या चरमबिन्दु की ओर नहीं ले जाते। यही नहीं, उनमें किसी में भी कोई अनिवार्यता नहीं है। उनमें से कोई भी एक, या एक से अधिक चाहे जितने, पात्र, या उनसे सम्बन्धित घटनाक्रम, या उनके अंश, काटे या छोड़े जा सकते हैं। इससे कथावस्तु के—यदि कोई कथावस्तु है तो—प्रभाव में, उसकी गति में, उसकी आन्तरिक संगति-विसंगति में कोई अन्तर नहीं आयेगा। और चेतन की अन्तिम उपलब्धि में तो एक भी प्रसंग अनिवार्यतः जुड़ा नहीं, बल्कि मूलतः उसके लिये अप्रासंगिक है। सम्भवतः किसी कलाकृति के लिए इससे अधिक घातक कोई बात नहीं कही जा सकती कि उसका कोई भी अंश बिना उसे क्षति पहुँचाये निकाला जा सकता है।

इसका एक अन्य कारण यह भी है कि चेतन के साथ उनका सम्बन्ध बड़ा सतही और क्षीण है। वे अधिक-से-अधिक उसके अतीत को स्पष्ट करते हैं, उसके आज के व्यक्तित्व में कोई आयाम नहीं जोड़ते। इसीलिए उनके प्रति लेखक ने चेतन की जो प्रतिक्रिया दिखायी है, वह भी भावात्मक और गहरी न होकर सतही और भावुकतापूर्ण हो गयी है।

वास्तव में ये सारे विवरण मिलकर कलाकृति बनते ही नहीं, अधिक-से-अधिक वे एक या अधिक कलाकृति का कच्चा माल हो सकते हैं। बहुत-सी कहानियों या उपन्यासों की सामग्री उनमें बिखरी पड़ी है (और कोई आश्चर्य न होगा यदि कभी अश्क स्वयं उस सामग्री का अन्य रचनाओं में अधिक सफल उपयोग करें)। वे अलग-अलग अपने-आप में रोचक भी हैं। पर कुल

मिलाकर उनकी कोई अविभाज्य स्वतन्त्र सम्पूर्ण सत्ता नहीं बनती। उनमें कोई सर्जनात्मक अन्विति नहीं है। समग्र रूप से अपनी घोर भावात्मक पुनरावृत्ति के कारण वे बेहद नीरस, शुष्क और उबा देने वाले हैं—समाजशास्त्री के यथार्थ के प्रतिवेदन-जैसे, किसी नगर के गजेटियर के अंश-जैसे। उनका यथार्थ कलात्मक यथार्थ नहीं, सामाजिक अवलोकनकर्ता का यथार्थ है।

यह आकस्मिक नहीं कि अश्क ने अपने इस उपन्यास का नाम 'शहर में घूमता आईना' रखा है। पर आईने का प्रतिबिम्ब कला नहीं होता, अधिक-से-अधिक वह अखबार का पृष्ठ हो सकता है। कला यथार्थ की दर्पण में पड़ने वाली यथावत अनुकृति या प्रतिच्छाया नहीं। वह यथार्थ के किन्हीं सार्थक अंशों के एक सर्वथा नवीन, मौलिक सर्जनात्मक रूपान्तर का नाम है। दर्पणों की भाषा में ही कहें तो, कला यथार्थ का विशेष प्रकार के 'लेंस' द्वारा आकलित चित्र हो सकती है—और वह लेंस है रचनाकार का जीवन्त व्यक्तित्व। अश्क ने इस उपन्यास में बड़ी वफादारी से यथावत प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करने का प्रयास किया है और नितान्त कौशल या निपुणता के स्तर पर वह प्रशंसनीय भी है। पर सर्जनात्मक दृष्टि, प्रक्रिया, संयोजन तथा अन्विति के अभाव में वह प्रतिबिम्ब कलात्मक नहीं बन पाता। अपनी भूमिका में अश्क ने लिखा है : "लेकिन क्या इस हेय, अकिंचन, मिडियाकर, निम्न-मध्यवर्गीय जीवन के चित्रण के लिए इतना जोखिम उठाना ठीक था? हो सकता है मेरे आलोचक इसे पढ़कर व्यंग्य और विद्रूप से मुसकराते हुए यह प्रश्न करें।" कोई भी समझदार आलोचक इस बात से निराश न होगा कि इसमें चित्रण "हेय, अकिंचन, मिडियाकर निम्न-मध्यवर्गीय जीवन" का है; निम्न-मध्यवर्ग समाज के किसी भी अन्य वर्ग के समान ही श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ कलाकृति की विषयवस्तु बन सकता है। निराशा इस कारण होती है कि चित्रण इतना 'अकिंचन और मिडियाकर' है।

वास्तव में इस उपन्यास में कोई रूप ही नहीं है। पता नहीं क्यों इसे उपन्यास कहा जाय! यों तो कोई चाहे तो इसे कविता भी क्यों नहीं कह सकता है? मुख्य बात यह है कि इसमें शुरू से अन्त तक किसी कलात्मक-सर्जनात्मक दृष्टि और विकास का, सम्पूर्णता और जीवन्तता का अभाव है। इसलिए नाम कोई भी दीजिए, इसे सर्जनात्मक कृति कहना कठिन है। इसका शिल्प भी इसीलिए ऊपर से आरोपित है, जान-बूझकर बहुत-से रेखाचित्रनुमा 'नोट्स' को उपन्यास कहकर प्रकाशित करने की चतुराई मात्र है। यह शिल्प इसी अर्थ में नवीन है कि ऐसे कोई समर्थ लेखक जान-बूझकर न लिखना चाहेगा। यह उल्लेखनीय है कि 'शहर में घूमता आईना' से आकार में एक चौथाई होने पर भी धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' अपनी समस्त सीमाओं के साथ एक नगर के निम्न-मध्यवर्गीय जीवन की विडम्बना, करुणा और क्षुद्रता

को कहीं अधिक मार्मिकता और तीव्रता के साथ प्रस्तुत करता है, क्योंकि मूलत वह एक कलात्मक मानवीय वक्तव्य है, 'शहर मे घूमता आईना' की भाँति समाजशास्त्रीय ढंग का विवरण नहीं।

मोहन राकेश के पहले उपन्यास 'अँधेरे बन्द कमरे'[1] में जीवन के अन्धकार और कुण्ठा को एक अन्य ही स्तर पर, भिन्न रूप मे, प्रस्तुत करने का प्रयास है। इसमे दिल्ली के जीवन की पृष्ठभूमि मे, पत्रकार मधुसूदन के माध्यम से, नीलिमा नामक स्त्री की कहानी है। नीलिमा विवाहित है, उसका पति हरबस पहले अध्यापक था, फिर किसी सरकारी विभाग मे अफसर हो जाता है। आजकल के बहुत-से पतियो की भाँति, प्रारम्भ मे वही नीलिमा को नृत्य सीखने और कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए प्रेरित करता है। नीलिमा को पहले अधिक रुचि नही होती, पर जब वह अन्त मे सचमुच उस कार्य मे रस लेने लगती है, और अपने लिये एक अलग 'कॅरियर' की, निजी जीवन की, चाह करने लगती है, और इस प्रकार उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विकास होता है, तो हरबंस खीझने लगता है, उसके और नीलिमा के दृष्टिकोण भिन्न हो जाते है, दोनो के मूल्यों मे सघर्ष होने लगता है। इस कथा का वर्णनकर्ता पत्रकार मधुसूदन है, और इस कारण प्रसगवश उसके जीवन तथा व्यक्तित्व की उलझनें भी उपन्यास मे अभिव्यक्ति पाती हैं।

वास्तव मे इस उपन्यास मे दो अलग-अलग विषयवस्तुओं को जोड़ने और एक साथ रखने का प्रयास है : पत्रकार मधुसूदन की निजी आत्मोपलब्धि का संघर्ष और कलाकार बनने का स्वप्न देखने वाली एक स्त्री और उसके पति के बीच कशमकश। और इन दोनों सूत्रों का जोड ठीक नही बैठा है, वह न केवल अलग दिखायी पडता है और उससे पूरे उपन्यास की अन्विति नष्ट हुई है, बल्कि उसने उपन्यास के सबसे प्रमुख और महत्वपूर्ण सूत्र—नीलिमा और हरबंस के बीच द्वन्द्व—की तीव्रता को भी हलका कर दिया है।

चार खण्डों मे विभाजित इस उपन्यास की दो गतियाँ हैं। मधुसूदन नौ साल बाद फिर से दिल्ली आता है तो अचानक कनॉट प्लेस मे उसकी हरबस से भेंट हो जाती है, और वह उससे कॉफी-हाउस चलने का आग्रह करता है। कुछ टालमटोल के बाद मधुसूदन उसके साथ चला जाता है, पर "जनपथ के कॉरिडोर में उसके साथ चलते हुए" मधुसूदन को नौ वर्ष पहले का अपना दिल्ली का जीवन, हरबंस से परिचय और उससे सम्बन्धित घटनाओं की याद आ जाती है। इसके बाद उपन्यास के पहले खण्ड का बाकी हिस्सा उन्हीं प्रसगों

[1] अँधेरे बन्द कमरे (१९६१)—लेखक : मोहन राकेश; प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली; पृ० ५३६।

को लेकर है। यह एक प्रकार से उपन्यास की पहली गति है। दूसरी गति में बाकी तीन खण्ड नौ साल बाद मधुसूदन की हरबंस से भेंट से लेकर उपन्यास के अन्त तक फैले हैं। इस भाँति एक प्रकार के घुमाव से दोनों गतियों को जोड़ा गया है।

पहली गति में मधुसूदन की अपनी पृष्ठभूमि संक्षेप में दी हुई है। वह जहाँ रहता है, उसके कुछेक यथार्थपरक रोचक चित्र हैं, जिस पत्रिका में वह काम करता है उसकी हलकी-सी झाँकी है। साथ ही उसमें यह भी संकेत है कि मधुसूदन हरबंस की साली शुक्ला की ओर आकर्षित है। इस पूरे खण्ड में कहीं भी मधुसूदन अपने इस आकर्षण के बारे में कुछ नहीं करता; उसकी शुक्ला से कभी कोई बातचीत नहीं होती और उसमें कभी किसी प्रकार की तीव्रता नहीं दिखायी पड़ती। एक प्रकार के किशोरसुलभ रोमैंटिक आकर्षण के स्तर पर ही मधुसूदन का भाव १७५ पृष्ठ के इस खण्ड के अन्त के पहले तक टिका रहता है, और यह खण्ड अधिकांशतः नीलिमा और हरबंस के सम्बन्धों को ही प्रमुख रूप में प्रस्तुत करता है। इस खण्ड के केवल अन्तिम अंश में हरबंस के इंग्लैंड चले जाने के बाद, नीलिमा से प्राप्त सूचना से शुक्ला की बढ़ती हुई घनिष्ठता की सूचना से, मधुसूदन उत्तेजित होता दिखाया जाता है। अब भी वह कुछ करता नहीं, बस परेशान होकर दिल्ली छोड़कर चला जाता है। स्पष्ट ही मधुसूदन का यह सारा भावावेश निष्क्रिय प्रकार का है, और यह निष्क्रियता भी किसी प्रकार से स्थितियों, घटनाओं और भावों के तीव्र संघात द्वारा स्थापित नहीं, विशुद्ध अकर्मण्यता द्वारा स्थापित है। फलस्वरूप इस खण्ड में मधुसूदन के भावजगत का कोई सक्रिय कलात्मक प्रभाव नहीं पड़ता।

दूसरी गति के तीन खण्डों में भी यह निष्क्रियता प्रायः ऐसी ही बनी रहती है। उनमें भी प्रधानता नीलिमा-हरबंस-सम्बन्धों की ही है। मधुसूदन केवल दो लम्बे-लम्बे प्रसंगों में दिल्ली के जीवन की बड़ी रंगत सम्पूर्ण झाँकियाँ प्रस्तुत करने का साधन बनता है—एक क़स्साबपुरे में इबादत अली की हवेली और आस-पास के अत्यधिक निम्नवर्गीय जीवन का चित्र और दूसरा पत्रकारों, लेखकों और कलाकारों के अड्डे कॉफी-हाउस का। ये दोनों प्रसंग बहुत ही लम्बे और विस्तारपूर्ण हैं, और उनका कोई भी गहरा कलात्मक सम्बन्ध न तो मधुसूदन के आन्तरिक संघर्ष से है और न हरबंस-नीलिमा-कथासूत्र से। अपने-आप में वे निस्सन्देह रोचक हैं, और जानकारी देने वाले भी, पर उपन्यास की कलात्मक समग्रता की दृष्टि से वे अतिरिक्त और बाधक ही हैं।

मधुसूदन की अपनी ज़िन्दगी में कुछ गति का प्रारम्भ और उसका अन्त संघर्ष सुषमा-प्रसंग से शुरू होता है, और वह सघन भी होता है। बीच में

ठकुराइन का अपनी लड़की के साथ उसके घर पर आ जाना इस संघर्ष की एक और पर्त उत्पन्न करता है। इस प्रकार लगभग उपन्यास के अन्त में मधुसूदन के निजी जीवन की निष्क्रियता कुछ टूटती है, और उसमें कुछ सर्जनात्मक गति उत्पन्न होती है। पर सुषमा-प्रसंग का अन्त बड़ा ही यान्त्रिक और आरोपित है। पता चलता है कि सुषमा किसी विदेशी दूतावास से सम्बद्ध है, और सम्भवतः किसी-न-किसी प्रकार के गुप्तचरीय कार्य में संलग्न है। इसलिए मधुसूदन अपने नैतिक जोश और कर्तव्य-बोध से प्रेरित होकर सुषमा से मिलने का विचार त्याग देता है, और कस्सावपुरा की ओर ठकुराइन की अनाथ लड़की निम्मा को प्रेमोपहार देने के लिए टैक्सी में चल पड़ता है "मैंने एक लम्बी साँस ली और मन में कुछ हलका महसूस करता हुआ सीट पर थोड़ा और नीचे को खिसक गया।" इस प्रसंग की यह परिणति स्पष्ट ही बड़ी फिल्मी और अनावश्यक रूप में नाटकीय है, विशेषकर इसलिए भी कि इसमें भाव-संधान की ऐसी सम्भावनाएँ थीं जो उपन्यास को शक्ति प्रदान करतीं। पर लेखक ने उन्हें बिखर जाने दिया है। इस प्रकार कुल मिलाकर मधुसूदन का अपना व्यक्तित्व अथवा उससे सम्बन्धित घटनाएँ, स्थितियाँ उपन्यास को कोई स्तर या सार्थकता नहीं प्रदान करतीं, बल्कि पूरी कृति को साधारणता और नीरसता की ओर घसीटती हैं।

वास्तव में, जैसा पहले ही कहा गया, उपन्यास में कोई सार्थकता है तो वह नीलिमा-हरबंस-प्रसंग में, विशेषकर नीलिमा के बाह्य और आन्तरिक द्वन्द्व में ही है। कलात्मक क्षमता और रुझान वाली एक स्त्री किस प्रकार अपनी प्रतिभा और लगन के कारण ही, कुछ कर सकने और अपने जीवन को सार्थक बनाने की आकुलता के कारण ही, अकेली पड़ जाती है, और बाह्य अवरोधों तथा आन्तरिक यातना के दौर से गुजरती है। किसी भी आधुनिक उपन्यास और उपन्यासकार के लिए इसमें पर्याप्त चुनौती है, और यह आधुनिक जीवन का एक भावगहन तथा तनावपूर्ण क्षेत्र है। हरबंस और नीलिमा के व्यक्तित्वों में पर्याप्त निजस्व रोचकता और एक-दूसरे से भिन्नता भी है, जो इस द्वन्द्व को कई स्तर और आयाम दे सकती है। इसके अतिरिक्त पूरी स्थिति में कई एक अन्य पेंच भी हैं, जैसे हरबंस का शुक्ला के प्रति अस्पष्ट अदम्य आकर्षण, सुरजीत और मधुसूदन जैसे व्यक्तियों का समुदाय, और सबसे अधिक नीलिमा का अन्य सब कलात्मक विधाएँ छोड़कर नृत्य की ओर रुझान। नृत्य को अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने का सवाल किसी भी संवेदनशील आत्मसजग तथा सौन्दर्य-बोध और नैतिक दायित्वयुक्त स्त्री के लिए अनिवार्य संघर्ष का स्रोत है—अन्य कलात्मक विधाओं में इतनी अधिक विस्फोटक सम्भावनाएँ नहीं होतीं। इस भाँति यहाँ

जा सकता है कि मोहन राकेश ने एक ऐसी स्थिति को उठाया है जिसमें ती
से-तीव्र और गहन-से-गहन वैयक्तिक तथा सामूहिक, कलात्मक और सामाजि
अन्तर्द्वन्द्व की, विस्फोटक भावसंघात की सम्भावनाएँ हैं। सम्भवतः
सम्भावनाओं की ओर उन्मुखता ही इस उपन्यास का सबसे बड़ा आकर्षण है
एक हद तक सम्भवतः राकेश का इस स्थिति से वास्तविक प्रत्यक्ष परिचय
रहा है। पर जहाँ तक उपन्यास में उस स्थिति के रूपायन और उसक
सम्भावनाओं के अन्वेषण का प्रश्न है, कुल मिलाकर वह बहुत सन्तोषप्र
परिणति तक नहीं पहुँचता।

'अँधेरे बन्द कमरे' में नीलिमा-हरबंस सम्बन्धी कथासूत्र, अपने-आप
दिलचस्प होकर भी, स्थितियों की पुनरावृत्ति से आक्रान्त है। नीलिमा औ
हरबंस के बीच संघर्ष कभी किसी भी अवस्था में बहुत गहराई में नहीं
उतरता। वे एक-दूसरे से बार-बार एक ही से कारणों से, एक ही प्रकार मे
एक-सी ही भाषा में झगड़ते रहते हैं। हर बार वे एक-दूसरे के ऊपर कुछ न
समझने का, सहानुभूतिहीनता का आरोप लगाते हैं, चीखकर एक-दूसरे को
चुप रहने, बकवास न करने, चले जाने के लिए कहते हैं और छोटी-छोटी
बातों को लेकर झींकते रहते हैं। उनके इस संघर्ष में भावस्थितियों की, उनके
विवरण की, स्तरों की, विविधता का ऐसा अभाव है कि मन उकता जाता
है। एक के बाद एक घटना में खिझा देने वाली एकरसता है, जो अन्ततः लेखक
के कल्पनात्मक स्रोतों में किसी अवरोध की सूचक प्रतीत होने लगती है।
केवल विदेश में होने वाली घटनाओं में कुछ विविधता है, वह भी परिवेश
और परिस्थितियों के कारण। पर वहाँ भी संघर्ष की अभिव्यक्ति उसी प्रकार
की स्थिति और शब्दावली में होती है, और पुनरावृत्ति के प्रभाव को ही पुष्ट
करती है।

इसी कारण इस संघर्ष का कोई गहरा केन्द्र नहीं उभरता, यद्यपि संगिमा
निरन्तर यही बनी रहती है। विशेषकर हरबंस तो हर बार कुछ ऐसा भाव
दिखाता है, जैसे वह कितने बड़े नैतिक, मानसिक और आध्यात्मिक अन्तःसंघर्ष
से पीड़ित है। पर ऐसा कुछ भी स्थापित नहीं होता और उसकी अन्तहीन
झल्लाहट, खीझ, निराशा, कुण्ठा और वितृष्णा या तो आरोपित, असन्तुलित
और रुग्ण लगती है, या बचकानी और सतही। लेखक इस रुग्णता की,
मानसिक ग्रन्थि की, सम्भावना को भी किसी गहन मानवीय परिणति के रूप
में नहीं प्रस्तुत कर पाया है। ऐसा लगने लगता है कि एक साधारण-सी
समस्या को खींच-खींचकर महत्त्वपूर्ण बनाने का प्रयास किया जा रहा है।
शुरू से अन्त तक इन दोनों के संघर्ष का ग्राफ एक ही धरातल पर नितान्त
समतल-सा रहता है, उसमें अधिक उत्तेजक उतार-चढ़ाव प्रायः आता ही नहीं।

यहाँ तक कि दोनों एक-दूसरे से उकताकर जो बड़ा भारी कदम उठा डालते है वह और उसका अन्त प्रायः एक-सा ही होता है। पहले हरबंस नीलिमा से उकताकर इग्लैंड चला जाता है। पर एक सप्ताह के भीतर ही वह उसके बिना इतना, ऐसा बेचैन हो उठता है कि उससे तुरन्त वहीं चले आने का आग्रह करता है। पर कुछ महीने बाद जब वे वहाँ इकट्ठे होते हैं तो फिर जल्दी ही एक-दूसरे से बेज़ार हो जाते है। इस स्थिति मे तीखे भाव-संघात की सम्भावना निहित है पर वह अन्त तक उभरकर नही आता। अन्त मे फिर नीलिमा उकताकर घर छोड़कर चली जाती है, पर वह भी रह नही पाती और दो दिन बाद चुपचाप घर लौट आती है। वह कहती है : "मैं आना नहीं चाहती थी, मगर फिर मैंने सोचा कि''' सोचा नही, मुझे लगा कि'''शायद अब यही ठीक है।" सम्भव है नीलिमा की यह वापिसी शुक्ला के साथ ईर्ष्या के कारण हो, और हरबंस की अनन्त चिड़चिड़ाहट भी शुक्ला के प्रति आकर्षण के कारण हो। इस सम्भावना का कल्पनाशील उपयोग उपन्यास को गहराई दे सकता था, पर उसके केवल संकेत-भर बीच-बीच में लेखक देता है, उनका कोई कलात्मक उपयोग नही करता।

सम्भवतः इस उपन्यास का एक आकर्षक पक्ष यह है कि राकेश तीन दिलचस्प स्त्री-पात्रों की—नीलिमा, शुक्ला और सुषमा की—विसदृशता को प्रस्तुत करने मे सफल हुए हैं। वे उपन्यास मे प्रौढ़ता के विभिन्न स्तर, व्यक्तित्वों और मूल्यों के विभिन्न आयाम, प्रस्तुत करती है। सुषमा सर्वथा आत्मसजग, आत्मनिष्ठ आधुनिक स्त्री है, वह स्पष्ट जानती है कि वह क्या चाहती है और उसे पाने के लिए सचेष्ट प्रयत्न करती है, चाहे फिर उसमे सफल नही होती। नीलिमा आत्मोपलब्धि के लिए संघर्ष मे लगी है, बेचैन है, रास्ता नही पाती और छटपटाती रहती है; वह परम्परा और आधुनिकता, दोनो के खिंचाव मे जीती है। शुक्ला सीधी-सादी, साधारण और परम्परागत लकीरों पर चलने वाली नारी है। वह नीलिमा के बारे मे कहती है : "उन्हे ज़िन्दगी मे जो कुछ मिला है उसकी वे परवाह नही करती, और जो कुछ नही मिला, उसी के पीछे भटकती है ''वे ज़िन्दगी-भर एक मृगतृष्णा के पीछे भटकती रहेंगी और इसी तरह छटपटाती रहेंगी।" शुक्ला का यह कथन उसके और नीलिमा के व्यक्तित्व के मूल केन्द्रों की विभिन्नता को एकदम दो टूक स्पष्ट कर देता है।

'अँधेरे बन्द कमरे' मे इन विभिन्न स्त्रियों का प्रस्तुतीकरण निस्सन्देह दिलचस्प है; पर स्पष्ट ही वह इस उपन्यास की एक आनुषंगिक उपलब्धि ही हो सकता है, केन्द्रीय नही। उस स्तर पर उपन्यास निराश ही अधिक करता है। उसमें जीवन के कुछेक दिलचस्प चित्र, स्वतन्त्र कहानियों-जैसे, अवश्य है, पर वे किसी चरम सार्थकता की ओर नही ले जाते।

यह साधारणता या निरर्थकता शिल्प के स्तर पर भी है। राकेश ने इसमें शिल्प की प्रयोगात्मकता लानी चाही है। इसमें पत्रों का पूर्वावलोकन का, किसी पात्र द्वारा निजी घटना के वर्णन के बजाय उसके प्रस्तुतीकरण का, स्थितियों के नाटकीकरण का—इस प्रकार कई युक्तियों का व्यवहार किया है, जो अपने-आप में दिलचस्प हैं। पर कुल मिलाकर उनसे कोई विशिष्टता या चमक नहीं पैदा होती। 'अँधेरे बन्द कमरे' बेशुमार सम्भावनाओं के बावजूद अनजाने ही एकरसता के अँधेरे कमरे में बन्द हो गया है, और जीवन से किसी गहरे साक्षात्कार का आभास नहीं दे पाता।

१९५६ में प्रकाशित राजेन्द्र यादव का उपन्यास 'उखड़े हुए लोग'[1] एक और ही स्तर पर इस साक्षात्कार के अभाव को सूचित करता है। उसमें शरद और जया नामक दो कॉलेज से हाल ही में निकले हुए युवक-युवती के साहस-पूर्ण विचारों और आचरण की पृष्ठभूमि में पूँजीपति कांग्रेसी देशबन्धु के ढोंग, शोषण और अनैतिकता की कहानी प्रस्तुत की गयी है। शरद और जया बड़े ही रोमैंटिक ढंग से एक ही नगर के दो रेलवे स्टेशनों के बीच एक गाड़ी की डाइनिंग कार में मिलते हैं, क्योंकि जया अपने विवाह के सम्बन्ध में शरद से कुछ जरूरी परामर्श लेना चाहती है। उसकी शादी उसकी इच्छा के विरुद्ध किसी पुराने रूढ़िवादी संस्कार के मुंशी लोगों के परिवार में की जाने वाली है। ऐसी स्थिति में वह क्या करे? चलती गाड़ी के अत्यन्त ही निर्मम वातावरण में शरद जया के सामने बड़ी ऊँची दर्जे की दार्शनिकता पेश करता है, जया को स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों का इतिहास, उनका सामाजिक पक्ष, वैयक्तिक पक्ष, इत्यादि सभी-कुछ बताता है। पर ट्रेन में ऐसी ही एक-दो मुलाकातों के बाद अन्त में वह, हल के रूप में, जया से स्वयं अपने साथ 'सम्मिलित जीवन' बिताने का प्रस्ताव करता है। ऐसा आकर्षक रोमैंटिक प्रस्ताव जया भी कैसे अस्वीकार करे? वह भी मान जाती है, और दोनों विवाह की दकियानूसी प्रथा को छोड़कर क्रान्तिकारी ढंग से सम्मिलित जीवन बिताने का निश्चय कर लेते हैं। पर यह निश्चय पूरा कैसे हो? शरद ब्राह्मण है और जया कायस्थ; दोनों में से किसी में इतना साहस नहीं कि उसी नगर में खुले आम 'सम्मिलित जीवन' शुरू कर सकें। सौभाग्यवश तभी शरद को वहीं पास ही के बड़े औद्योगिक नगर में बड़े भारी कांग्रेसी पूँजीपति नेता सेठ देशबन्धु के यहाँ नौकरी मिल जाती है और दोनों खुशी-खुशी सम्मिलित जीवन बिताने के लिए चुपचाप उस नगर में चले जाते हैं। जाते समय दोनों के मन में बड़ा

[1] उखड़े हुए लोग (१९५६)—लेखक : राजेन्द्र यादव; प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली; पृष्ठ ३०८।

संघर्ष होता है, बड़ा भय होता है, कि कहीं किसी को पता न चल जाय, या बाद में पुलिस में रिपोर्ट न हो जाय। जया तो चलने के नियत समय से दो घंटे पहले ऐसा रोमांचक दुःस्वप्न देखती है कि जी घबराने लगता है। पर सौभाग्य से सभी कुछ योजनानुसार ही होता है, और वे सुविधापूर्वक नये नगर में पहुँचकर नये मालिक के एक क्वार्टर में बस जाते हैं। वहाँ भी वे लोग किसी से स्पष्ट नहीं कहते कि वे पति-पत्नी हैं, एक-दूसरे को अपना साथी या साथिन बताते हैं, इत्यादि-इत्यादि। बाकी कहानी—जो उपन्यास का प्रायः तीन-चौथाई से भी अधिक अंश है—इन लोगों के इस नगर में रहकर नेता भैया के ढोंग और अनाचार का रहस्य समझने, उच्च-वर्ग के लोगों की कृत्रिमता और चरित्रहीनता से परिचय प्राप्त करने, और फिर उससे भयभीत और त्रस्त होकर भाग निकलने का वृत्तान्त है। किन्तु इस सिलसिले में वहाँ और भी कई प्रकार के व्यक्तियों से उनका परिचय होता है, जिनमें सनकी पत्रकार सूरजजी, भूतपूर्व सामाजिक कार्यकर्त्री और देशबन्धु की रखैल मायादेवी और उनकी लड़की पद्मा आदि प्रधान पात्र हैं। इनके अतिरिक्त एक ओर कवि चपकजी, कॉमरेड बीरबल, प्रोफ़ेसर कपिल और उनकी पत्नी आदि हैं, और दूसरी ओर देशबन्धु के यहाँ प्रदेश के मन्त्री के सम्मान में पार्टी में अनगिनती अफसरों, उनकी बीवियों तथा नगर के अन्य विशिष्ट व्यक्तियों के चित्र भी प्रस्तुत किये गये हैं।

उपन्यास के शीर्षक में कहा गया है कि 'उखड़े हुए लोग' "युद्धोत्तरकालीन स्त्री-पुरुष के बिगड़ते-बदलते-बनते सम्बन्ध" का चित्र है। पर स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को जैसे इस उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है वह बड़ा ही काल्पनिक है। शरद और जया के नियमित विवाह न करके केवल 'सम्मिलित जीवन' बिताने के निश्चय का क्या अर्थ है? यह वैयक्तिक कायरता को छिपाने का सैद्धान्तिक खोल मात्र नहीं है? विवाह व्यक्तिगत प्रश्न के अतिरिक्त एक सामाजिक और कानूनी अनुबन्ध भी है, उसके व्यक्तिगत के अतिरिक्त दीर्घकालीन सामाजिक परिणाम भी अनिवार्यतः होते हैं, जैसे बच्चे। आज के समाज में किसी-न-किसी प्रकार के विवाह के द्वारा सामाजिक मान्यता प्राप्त न करके किसी स्त्री-पुरुष का 'सम्मिलित जीवन' बिताने लगना निरा बचपन है, अपने प्रति, स्त्री के प्रति, भावी सन्तान के प्रति बड़ी गैर-ज़िम्मेदारी और अन्याय है। सुदूर भविष्य में कभी ऐसी स्थिति को सामाजिक स्वीकृति मिलने की सम्भावना हो या न हो, आज ऐसा सुझाव निरा किशोर और अवयस्क कल्पना-विलास है। वह न तो व्यावहारिक है और न आदर्शात्मक। यह इस स्थिति का सैद्धान्तिक-बौद्धिक पक्ष हुआ। किन्तु विशुद्ध कलात्मक स्तर पर भी राजेन्द्र यादव अपने इस काल्पनिक निर्णय का सामना साहसपूर्वक नहीं करते। यदि

वह सचमुच शरद-जया के निर्णय को एक सामाजिक सम्भावना के रूप में देखता है तो उसे इसकी चुनौती स्वीकार करके, इन दोनों व्यक्तियों को इस निर्णय से उत्पन्न होने वाली सामाजिक परिस्थिति में रखकर, उसकी पीड़ा, यातना और नियति को प्रत्यक्ष देखना और उसका अन्वेषण करना चाहिए था। किन्तु वह तो इस परिस्थिति का उपन्यास में कोई उपयोग ही नहीं करते। इस घटना से दोनों के परिवारों और सामाजिक परिवेश में क्या हलचल हुई, इसका तो कहीं कोई जिक्र है ही नहीं, पर जहाँ वह जाकर रहते हैं वहाँ भी यह स्थिति और उसकी परिणति खुल्लमखुल्ला सामने नहीं लायी जाती। लोग इस तरह का अनुमान अवश्य लगाते हैं, पर प्रो० कपिल की पत्नी के व्यवहार के अतिरिक्त कहीं उसकी कोई अन्य छाया नहीं प्रकट होती।

यदि लेखक इस स्थिति का साहसपूर्वक सामना करता तो उपन्यास बड़ी तीव्रता प्राप्त करता। यह इस बात से ही सिद्ध है कि 'उखड़े हुए लोग' में सबसे तीव्र भावसघात का क्षण कपिल के यहाँ जया के अनुभव में ही है। वास्तव में उपन्यास में शरद और जया के भागकर चले आने की स्थिति की कोई अनिवार्य आवश्यकता नहीं सिद्ध होती। उसका कोई कलात्मक उपयोग लेखक नहीं करता। यदि वे सामान्य रीति से नव-विवाहित पति-पत्नी होते तो भी कथा का विकास-सूत्र अथवा स्वयं उनका भाव-जगत सहज ही ऐसा ही बना रह सकता था।

उपन्यास के अन्य स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध—मायादेवी-देशबन्धु, चन्दा-सूरजजी, कपिल दम्पति—सब परम्परागत प्रकार के हैं। उनमें युद्धोत्तरकालीन बिगड़ना-बदलना-बनना क्या है, यह कुछ समझ में नहीं आता। पद्मा की स्थिति में सम्भावनाएँ थीं पर उसका किसी पुरुष के साथ कोई सम्बन्ध दिखाया ही नहीं गया। शरद का उसके प्रति कॉलेज के छात्रों जैसा आकर्षण-भाव और देशबन्धु द्वारा अन्त में उसके साथ बलात्कार का प्रयत्न, न तो कोई मौलिक सम्बन्ध सूचित करता है, और न किसी में नवीनता, तीव्रता या गहराई ही है।

इसी प्रकार 'उखड़े हुए लोग' शीर्षक का क्या उद्देश्य है? कौन हैं वे उखड़े हुए लोग? जया-शरद? सूरजजी? देशबन्धु? मायादेवी-पद्मा? या सभी उखड़े हुए हैं? कहाँ से? किस कारण? इनमें से एक भी प्रश्न का तर्कसंगत उत्तर उपन्यास में नहीं। उपन्यास के अलग-अलग अध्यायों के जो शीर्षक लेखक ने दिये हैं वे भी अनावश्यक रूप से अतिनाटकीय हैं।

वास्तव में राजेन्द्र यादव को मानवीय स्थिति की पीड़ा और यातना का कुछ अहसास होने पर भी, उनकी दृष्टि अनावश्यक बातों में सहज ही उलझ जाती है। घटनाओं और वर्णनों का अनावश्यक विस्तार, छोटी-छोटी बातों के लम्बे ब्यौरे, बहुत-से शब्दों, शैली-सम्बन्धी युक्तियों, आदि से भावस्तापूर्ण

लगाव, इत्यादि बातें उनके उपन्यास को बहुत अपरिपक्व और सतही बना देती हैं। सारे उपन्यास में एक प्रकार की तिलिस्माती रहस्यमयता का वातावरण है—स्थितियों में भी, चरित्रों में भी, और घटनाओं में भी, जो अन्ततः रचना को हलका और मनोरंजक तो बनाता है, गम्भीर कलात्मकता की उपलब्धि में सहायक नहीं हो सकता।

उपन्यास की समग्रता और कलात्मक दृष्टि से राजेन्द्र यादव में अनुपात का बड़ा भारी अभाव है। इसीलिए यह उपन्यास कई एक दिलचस्प चित्रों का संग्रह-भर है। यदि रोचक 'चरित्रों' की सृष्टि ही उपन्यास का उद्देश्य न माना जाय, तो स्वयं सूरजजी की, बड़े रोचक और आकर्षक पात्र होकर भी, उपन्यास की समग्रता में क्या स्थिति है ? यही बात देशबन्धु के बारे में भी है। दोनों ही इतने असामान्य प्रकार के व्यक्ति हैं, दो अलग-अलग स्तरों पर इतने असाधारण हैं, कि लेखक उन्हें 'टाइप' होने से बचा नहीं सका है। मानवीय व्यक्तित्व की पहचान की सम्भावना पद्मा में थी, पर उसका लेखक ने कोई उपयोग नहीं किया है। उसकी आत्महत्या अनावश्यक रूप से अतिनाटकीय अन्त है जिससे कुछ सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार देशबन्धु के यहाँ पार्टी का लम्बा विवरण स्वतन्त्र रूप से रेखाचित्र-जैसा है, उपन्यास की समग्रता में न तो उसकी सार्थकता है और न उसका अनुपात से अधिक आकार किसी कलात्मक प्रभाव में सहायक। वास्तव में एक प्रकार की छात्र-सुलभ विचारात्मकता, छिछली तथा अनावश्यक दार्शनिकता और भावुकतापूर्ण अतिनाटकीयता सारे उपन्यास पर छायी रहती है। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं के विवेचन इतने लम्बे-लम्बे हैं कि उनसे जी ऊबने लगता है। जीवन की गहराई और तीव्रता के अभाव में सहज जीवन की ट्रेजेडी बड़े यान्त्रिक ढंग से और ऐसी अतिरंजित नाटकीयता के साथ प्रस्तुत होती है, जो जितनी असत्य है उतनी ही उद्देश्यहीन भी।

पर राजेन्द्र यादव का कहना है कि उनका उपन्यास 'सत्य' की खोज है ही नहीं। 'बयान-इकबाली' में—जो इस उपन्यास की भूमिका का शीर्षक है—वह कहते हैं : "अपराधी हूँ कि 'सत्य की खोज' के इस युग में ऐसी कहानी सुनाने बैठा हूँ, जिसका 'सत्य' से कोई लेना-देना नहीं है; 'सत्य' पाने और 'सत्य दर्शन' का जिसे कोई दावा या मुगालता भी नहीं, हर पात्र काल्पनिक और हर घटना गढ़ी हुई—वार्तालाप और कथानक सब हवाई।" पता नहीं राजेन्द्र यादव ने यह बात किस उद्देश्य से लिखी है। इसके केवल दो-तीन अभिप्राय हो सकते हैं : यह घोषणा करने के लिए कि उपन्यास में आये हुए व्यक्ति और घटनाएँ सब कल्पित हैं, किसी जीवित व्यक्ति से उनकी समानता आकस्मिक ही मानी जाय; या यह बताने के लिए कि उसका उद्देश्य जीवन और उसकी अनुभूति

की किसी गहराई मे जाना नही, बल्कि अपना और पाठकों का शुद्ध मनोरंजन करना है; या फिर यह सूचित करने के लिए कि उसमे बाह्य गोचर 'सत्य' या 'यथार्थ' से परे जाकर किसी गहरी मानवीय सार्थकता का उद्घाटन करने का प्रयास है। यदि अभिप्राय पहला या दूसरा है तो कुछ भी कहना अनावश्यक है, यद्यपि विशुद्ध मनोरंजन भी 'उखड़े हुए लोग' के द्वारा बहुत अधिक नही होता। किन्तु यदि तीसरा अर्थ अभिप्रेत है, तो इस निष्कर्ष से छुटकारा नही कि लेखक इसमें सफल नहीं हुआ है, और 'उखड़े हुए लोग' अधिक-से-अधिक बाह्य 'सत्य' के कुछ रोचक काल्पनिक चित्र प्रस्तुत कर सका है। वह इस एक अत्यन्त ही भिन्न अर्थ मे काल्पनिक है कि अपनी प्रक्षेपित स्थितियों, भावदशाओं और मान्यताओं को वस्तुनिष्ठता से प्रतिफलित नही होने देता, उनकी चुनौती को स्वीकार नहीं करता, और केवल 'हवाई' और सतही बातें करके रह जाता है।

एक बात और। 'उखड़े हुए लोग' मे शिल्पगत सजगता पर्याप्त है, बल्कि शायद कुछ अधिक ही है। उसमें पूर्वावलोकन, डायरी, पत्र, संस्मरणात्मक वर्णन तथा देशकाल में समानान्तर वर्णन जैसी कई एक युक्तियों का दिलचस्प प्रयोग हुआ है जो उपन्यास में विविधता बनाये रखता है। कुल मिलाकर 'उखड़े हुए लोग' यह तो सूचित करता है कि राजेन्द्र यादव के पास शायद कहने को ऐसा कुछ अवश्य है जिसमे संवेदनशील पाठक को भी दिलचस्पी हो सकती है। साथ ही दृष्टि, अनुभूति और अभिव्यक्ति—एक संवेदनशील उपन्यासकार के लिए आवश्यक तीनों ही क्षमताएँ भी उनमें कमोबेश मात्रा मे मौजूद हैं। पर उनका प्रभावी उपयोग तभी सम्भव हो सकेगा जब वह अपनी सरलीकरण, नाटकीयकरण और अनावश्यक बातों के प्रति मोह से प्रयत्नपूर्वक छुटकारा पा लेंगे।

नागार्जुन का 'बलचनमा'[1] जब प्रकाशित हुआ, तो उसने जीवन के एक नये क्षेत्र को वाणी दी थी। प्रेमचन्द के बाद से देहातों का जीवन हिन्दी-उपन्यासों मे से लगभग गायब हो गया था। पर 'बलचनमा' मे देहाती जीवन के उस वर्ग को छुआ गया है, जिसे प्रेमचन्द भी क़रीब-करीब छोड़ गये थे। बलचनमा मिथिला के एक गाँव का अर्ध-दास मेनिहर मजदूर है। शहराती मध्यवर्गीय जीवन की घुटनभरी ज़िन्दगी के बाद यह देहात जैसे धूप से भरा, खिला हुआ जान पड़ता है, यद्यपि देहात के सामन्ती ढाँचे की क्रूरता, अत्याचार और अज्ञान का भी तीखा चित्रण लेखक ने बार-बार किया है।

---

[1] बलचनमा (१९५२)—लेखक . नागार्जुन; प्रकाशक : किताब महल प्रा० लि०, इलाहाबाद; पृष्ठ २२१।

देहात के जीवन से नागार्जुन का परिचय गहरा भी है और घनिष्ठ भी। और परिचय ही नही, लगता है जैसे वह अपने गाँव के चप्पे-चप्पे के साथ प्रेम मे डूबे हुए हैं, और उनका यह उन्मुक्त स्नेह पाठक को अभिभूत करता है। दूसरी ओर उस जीवन से लेखक का यह लगाव ही उसकी कमज़ोरी बन जाता है। समूचे उपन्यास मे जगह-जगह ब्यौरे की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बातो की इतनी भरमार है कि मन उकताने लगता है। ऐसा महसूस होता है कि देहात से अपना वास्तविक परिचय प्रदर्शित करने के लोभ मे लेखक का सन्तुलन खो गया है। नागार्जुन जिस जीवन का चित्रण करते है, उसमे उतार-चढाव अधिक नही है, जीवन की वह गहराई नही है जो 'गोदान' मे मौजूद है। इसलिए उपन्यास का ग्राफ लगभग एक-सी सतह पर ही चलता रहता है, भावना की या अनुभूति की गहरी चोट का अवसर नही आ पाता। तो भी कुछेक चित्रो की सुकुमारता बडी लुभावनी लगती है, जैसे ब्याह के बाद अपनी गँवई पत्नी से बलचनमा के पहले साक्षात्कार का चित्र। देहाती जिन्दगी की स्वस्थ तरुणाई की सरलता और कुठाहीन निश्छलता उसमे है, जो किसी लोकगीत की कड़ी जैसी ही मधुर लगती है। 'सुराजी आसरम' के और ज़मीदारो के विलासी और स्वार्थी जीवन के चित्र भी बडी सूक्ष्मता के साथ ही आँके गये हैं।

'बलचनमा' मे कुल मिलाकर पात्र अधिक नही हैं पर उनमे विविधता है। किन्तु बाद मे चलकर स्वयं बलचनमा के साथ लेखक की एकाकारिता इतनी अधिक हो जाती है कि चरित्रों का स्वाभाविक विकास रुक-सा जाता है। और अन्त मे उपन्यास बनावटी और यान्त्रिक-सा लगने लगता है। नागार्जुन की विशेषता यह है कि जिस जीवन के बारे मे उन्होने लिखा है उसकी सच्ची मार्मिक व्यक्तिगत अनुभूति उन्हें है। यह विशेषता उन्हे हिन्दी के बहुत-से लेखको से अलग करती है। किन्तु उस जीवन को गहराई से समझने और उसको साहित्य मे उतनी ही गहराई से रख सकने लायक कलाकार की निर्मम दृष्टि की उनमे कमी है। इसलिए उनके उपन्यास मे जहाँ जीवन की स्वाभाविक स्वस्थ सरलता, नयी उभरती जिन्दगी की स्वच्छता, एक नया अनुभव देती है, वहाँ चित्रण की एकरसता और समतलता उसे बहुत रोचक या सार्थक नही बनने देती। इसी प्रकार उनकी शैली की सादगी बड़ी अच्छी लगती है, पर स्थानीयता उत्पन्न करने के उद्देश्य मे जो अजब-अजब शब्द और वर्णन उपस्थित किये गये है वे उसे भारी और कृत्रिम बना देते हैं। कुल मिलाकर 'बलचनमा' एक नयी दिशा का सूचक होने पर भी किसी महत्त्वपूर्ण कलात्मक उपलब्धि के स्तर पर नहीं पहुँचता।

उदयशंकर भट्ट का 'सागर, लहरें और मनुष्य'[1] भी अधिक और विशिष्ट जीवन-क्षेत्र उपन्यासों में समेट लेने की दृष्टि से उल्लेखनीय रचना है। इस दौर में भट्टजी के कई उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। आमतौर पर उनके उपन्यासों में पुरानी पीढ़ी के कथाकारों की-सी घटनाप्रधान विषयवस्तु ही होती है। जीवन के बाह्य यथार्थ को किसी कथासूत्र के सहारे प्रस्तुत करने के अतिरिक्त कोई मौलिक प्रभावगत चमत्कार अथवा विशिष्टता अथवा किसी प्रकार की तीव्रता तथा गहनता नहीं होती। पर 'सागर, लहरें और मनुष्य' कई दृष्टियों से विशिष्ट है।

यह बम्बई के पास समुद्र के किनारे बरसोवा गाँव के मछलीमार कोलियों के जीवन को लेकर लिखा गया है। उसमें एक प्रकार से पहली बार इस भाँति किसी जाति विशेष के जीवन के रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार के आधार पर कथा रचने का यत्न किया गया है। शहरी जीवन के बाहर भारतवर्ष अभी भी मूलतः जाति अथवा धन्धे से सम्बद्ध समुदायों के रूप में इस प्रकार बँटा हुआ हुआ है कि प्रत्येक ऐसे समूह की अपनी अलग जीवन-पद्धति है, जो उनके जीवन-क्रम से जितनी सम्बद्ध है उतनी ही सामूहिक संस्कारों से भी। यह स्थिति समुदाय को एक गहरी सामाजिक चेतना तथा स्थिरता, उसके आचार-व्यवहार को अपेक्षाकृत अधिक व्यापक सार्थकता, और उसकी जीवन-पद्धति को एक निश्चित परिप्रेक्ष्य प्रदान करती है। ऐसे समुदाय के सदस्य शहरी लोगों की भाँति उखड़े हुए नहीं होते; और जीवनोपयोगी मौलिक श्रम और कर्म से सम्बन्धित होने के कारण उनकी भावनाओं में ऐसी निश्छलता, स्वाभाविकता और मुक्तता होती जो शहर के कृत्रिम जीवन में असम्भव है। निस्सन्देह इन समुदायों के जीवन में ऐसा सहज नाटकीय और मानवीय तत्त्व मौजूद है जिसे प्रस्तुत करके लेखक कलात्मक सर्जन की नयी ऊँचाइयाँ प्राप्त कर सकता है।

'सागर, लहरें और मनुष्य' में कोलियों के बाह्य तथा आन्तरिक दोनों प्रकार के संघर्ष के चित्र प्रस्तुत हैं। उनके जीवन के विशिष्ट वातावरण के निर्माण के लिए भट्टजी ने कई प्रकार से कोशिश की है। कोलियों के साधारण जीवन के, उनके उत्सवों और समारोहों के चित्र जुटाये गये हैं; साथ ही उनके धन्धे की विविध समस्याओं, आर्थिक कठिनाइयों आदि का चित्र भी प्रस्तुत किया गया है। किन्तु इस वातावरण के निर्माण में सबसे अधिक योग दो तत्त्वों का है। एक तो गाँव के किनारे उद्दाम गरजता-उमड़ता हुआ समुद्र, जिसका गर्जन पार्श्व-संगीत की भाँति सारे उपन्यास में सुनायी पड़ता

१ सागर, लहरें और मनुष्य (१९५६)—लेखक : उदयशंकर भट्ट; प्रकाशक : मसिजीवी प्रकाशन; पृष्ठ ३११।

रहता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस उपन्यास में समुद्र को लेकर कुछ प्रकृतिगत चित्र बहुत ही सुन्दर है, विशेषकर माणिक द्वारा वर्णित तूफान का प्रस्तुतीकरण तो बहुत ही संवेदनशील और प्रभावोत्पादक है। सम्भवतः इतने सजीव रूप में समुद्र हिन्दी उपन्यास में पहली बार प्रस्तुत हुआ है। समुद्र और उसकी निकटता से उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों के अतिरिक्त, वातावरण के निर्माण में जिस एक अन्य तत्त्व का सहारा भट्टजी ने लिया है वह है उस प्रदेश और समुदाय की बोली। पिछले वर्षों में हिन्दी की कुछ कहानियों, एकांकियों और उपन्यासों में 'बम्बइया' हिन्दी के नमूनों से हिन्दी के पाठक कुछ-कुछ परिचित हो गये हैं। 'सागर, लहरें और मनुष्य' में पात्रों की मुख्य बोली ही वह 'बम्बइया' हिन्दी है। उसमें मराठी और हिन्दी का एक बड़ा विचित्र विशिष्ट मिश्रण है, जिसका उपयोग भट्टजी ने बड़ी निष्ठा और परिश्रम के साथ किया है।

किन्तु वातावरण के निर्माण के इस प्रयत्न के बावजूद, उपन्यास में कोलियों के जातिगत जीवन की पृष्ठभूमि बहुत अधिक सुदृढ़ और आत्यन्तिक नहीं है। ऐसा अनुभव नहीं होता कि विभिन्न पात्रों के कार्य-व्यवहार, उनकी भावगत तथा विचार-सम्बन्धी प्रतिक्रियाएँ, सर्वथा अनिवार्य रूप से उनके संस्कारों से, उनके सामूहिक जीवन से, ही निकलती हैं। बहुत बार ऐसा लगता है कि जो कुछ इस उपन्यास में घटता है, अथवा भावना और अनुभव के जो स्तर विभिन्न पात्रों के व्यक्तित्वों में खुलते हैं, वे किसी अन्य बस्ती में भी, किसी अन्य परिवेश में भी, हो सकते थे। दूसरी ओर उनमें इतना साधारणत्व भी नहीं है कि उन्हें किसी बड़ी व्यापक मानव-प्रवृत्ति का सूचक कहा जा सके। इस प्रकार सामूहिक जीवन अपनी गहरी अनिवार्यता में, और सम्पूर्ण तीव्रता और विलक्षणता के साथ, सामने नहीं आया है। बल्कि बहुत बार तो ऐसा लगता है कि कोलियों के जीवन-सम्बन्धी वर्णन रोचक, आकर्षक और ज्ञानवर्द्धक होते हुए भी जैसे प्रासंगिक हैं, उपन्यास की मूल भाववस्तु के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए नहीं हैं।

इसका एक कारण है। 'सागर, लहरें और मनुष्य' की प्रधान विषयवस्तु स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों की ही समस्या है। बाकी जीवन केवल पृष्ठभूमि के रूप में आता है। इसलिए उसकी अपनी शक्ति उसी तरह प्रकट नहीं हो पाती, मूलतः वह गौण रूप में ही उपन्यास में उपस्थित रहता है। इसीलिए उस जीवन की गहराई और तीव्रता का अनुभव भी नहीं होता। ऐसा लगता रहता है कि एक प्रकार की सतही वास्तविकता प्रस्तुत की जा रही है। साथ ही ऐसा भी अनुभव होता है कि बम्बई के नागरिक जीवन की दृष्टि और समस्याओं को लेखक अनावश्यक और अस्वाभाविक रूप में इस जीवन के

भीतर घसीट लाया है। एक प्रकार से तो उपन्यास का उत्तरार्द्ध वरसोवा से हटकर बम्बई में ही घटित होता है। यों बम्बई के आस-पास के जीवन की यह परिणति बहुत अस्वाभाविक नहीं है। बम्बई के जीवन की सशक्त अन्तर्धाराएँ दूर-दूर तक अपनी छाप डालती हैं, और उनकी गूँज दूर-दूर तक के व्यक्तियों के मन को अनुप्राणित करती रहती है। किन्तु प्रश्न यथार्थ का नहीं, उपन्यास की विषयवस्तु के स्वाभाविक और सहज विकास तथा परिणति का है। इस दृष्टि से लेखक ने कोलियों के जीवन का बम्बई के साथ जो सम्बन्ध स्थापित होता दिखाया है, वह मूल उद्देश्य को नष्ट करता जान पड़ता है।

लेखक की शहरी दृष्टि के इसके अतिरिक्त भी और कई प्रमाण उपन्यास में है। बीच-बीच में बार-बार यह अनुभव होता है कि कथा रची जा रही है, जो कुछ घट रहा है वह जीवन की स्वाभाविक परिणति नहीं, विभिन्न पात्रों के व्यक्तित्व का स्वाभाविक सहज प्रतिफलन नहीं, बल्कि आरोपित कृत्रिम रूप है। दूसरे शब्दों में, भाववस्तु का विकास स्वाभाविक नहीं है। घटनाएँ रोचक तो हैं किन्तु एक तो उनकी संख्या बहुत अधिक है, और दूसरे लगभग अस्वाभाविक रूप में गुँथी होने के अतिरिक्त उनमें एक प्रकार के सनसनीदार तत्त्व अधिक मात्रा में है। उनसे जीवन अपनी सहज गति में नहीं बल्कि ऊपर से आरोपित-अस्वाभाविक गति से चलता हुआ, बहता हुआ और रुकता हुआ जान पड़ता है। इसका चरम प्रतिफलन उपन्यास के अन्त में दिखायी पड़ता है, जो न केवल बेहद आदर्शवादी काल्पनिक है, बल्कि लगभग फिल्मी हो गया है। रत्ना गर्भवती है, और यह गर्भ उसे धीरूवाला से प्राप्त हुआ है। किन्तु तो भी डॉ० पांडुरंग उसके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उसे पत्नी-रूप में अंगीकार कर लेता है; उसके भावी शिशु को भी अपना लेता है। उपन्यास का अन्त होता है कि रत्ना और डॉ० पांडुरंग गाड़ी में बैठे हुए पंचगनी की ओर जा रहे हैं, रत्ना को कुछ विश्राम और अवकाश दे सकने के उद्देश्य से। किसी भी कथा के लिए यह अन्त आदर्श की दृष्टि से चाहे जितना मनोहर क्यों न हो, उसकी अतिनाटकीयता, काल्पनिकता और अस्वाभाविकता इतनी अधिक है, कि उसे विश्वसनीय बनाने के लिए बड़े भारी भाव-विस्फोट की आवश्यकता होगी। उसके लिए यह नितान्त आवश्यक था कि रत्ना और पांडुरंग के सम्बन्धों में ऐसी असाधारण भावगत तीव्रता होती जो ऐसी अस्वाभाविक स्थिति को भी सहज बना सके। इतने बड़े असामाजिक और अव्यक्तिगत निष्कर्ष और परिणति को प्रतिष्ठित करने के लिए जिस गहनता और उत्कटता की आवश्यकता है, पात्रों के व्यक्तित्व में जिस सर्वथा असाधारण सघात की अनिवार्यता है, वह इस समूची पुस्तक में कहीं नहीं दिखायी पड़ता। इस उपन्यास का स्तर ही ऐसा नहीं है कि ऐसी अस्वाभाविक

घटना को आसानी से झेल सके। फलस्वरूप उपन्यास का अन्त बहुत ही बचकाना, थोथा आदर्शवादी और खोखला लगता है, किसी प्रकार की आत्यन्तिक सगति अथवा जीवन की दुरूह उलझनो से निकलने के लिए किसी समाधान की बात ही दूर है।

सनसनीदार घटनाओ के द्वारा कथा को रोचक बनाने की यह फिल्मी प्रवृत्ति बहुत बड़े अंश तक विषयवस्तु की मौलिकता और उसके सर्वथा अछूते सहज सौन्दर्य को भी म्लान कर देती है। सहज सौन्दर्य-बोध का यह अभाव, कलाकार के लिए आवश्यक आध्यात्मिक सन्तुलन की यह कमी, भट्टजी के साहित्य की बहुत बडी दुर्बलता है जो बहुत-कुछ उनकी सभी प्रकार की रचनाओ मे परिलक्षित होती है।

वास्तव मे भट्टजी की सृजन-दृष्टि बाह्यता-प्रधान है। यह बात हमे इस उपन्यास के चरित्रों की परिकल्पना मे भी स्पष्ट दिखायी पडती है। 'सागर, लहरे और मनुष्य' मे बहिर्मुखी चरित्र ही अधिक सशक्त और सुनिर्मित बन सके है। इस दृष्टि से इस उपन्यास का सबसे अधिक सुपरि-कल्पित पात्र है रत्ना की माँ, वंशी। उसके चरित्र मे अपेक्षाकृत गहराई भी है और गति भी। साथ ही उसके समूचे व्यक्तित्व मे एक अन्तरग सगति है। भट्टजी ने उसके व्यक्तित्व को दो परस्पर-विरोधी दूरस्थ छोरो के रूप मे प्रस्तुत नही किया है। इसके बजाय उसमे एक सहज अन्तःसघर्ष, दुविधा तथा एक प्रकार की स्वाभाविक मानवीय अक्षमता है, और साथ ही अपरिचित स्नेह भी। अतिरेक का यह अभाव उसे बहुत मानवीय बना देता है।

यह बात उपन्यास के मुख्य पात्र रत्ना के चरित्र के विषय मे नही कही जा सकती। उसका आरम्भ अच्छा है, और उसका सहज आकर्षक व्यक्तित्व मन में उत्सुकता पैदा करता है पर धीरे-धीरे जैसे कथा बढती है, एक प्रकार की अस्वाभाविकता, फिल्मी नाटकीयता उसके चरित्र के अकन में दृष्टिगोचर होने लगती है। यही कारण है कि उसका व्यक्तित्व सहज रूप मे नही उभरता। वह जैसे झटकों के साथ आगे बढता हुआ जान पडता है। इसमे कोई सन्देह नही कि जिन तत्त्वो को लेकर उसके चरित्र की परिकल्पना लेखक ने की है उनमे सम्भावनाएँ बहुत अधिक थी, किन्तु उनका सम्पूर्ण उपयोग करने मे, उन्हे भली-भाँति रूपायित करने मे लेखक सफल हुआ है, ऐसा नही जान पडता। उदाहरण के लिए, माणिक और यशवन्त को लेकर उसके मन मे सघर्ष और पीडा के द्वारा उसके व्यक्तित्व को बहुत अधिक उभारा जा सकता था। उसका सहज आत्माभिमान इसकी सम्भावनाएँ भी बहुत प्रस्तुत करता है। किन्तु इस ओर लेखक का ध्यान अधिक नही गया, बल्कि धीरे-धीरे उसके चरित्र की गति यान्त्रिक होने लगती है। माणिक के प्रति जैसी

निष्ठा, और उच्चवर्गीय हिन्दू स्त्री की-सी जो एकान्तता, वह दिखाती है, वह उसके स्वभाव के, उसके आत्माभिमान के, बहुत अनुकूल नहीं जान पड़ती। विशेषकर माणिक के विषय में उसका भ्रम दूर होने के बाद भी, उसके हाथों दुर्व्यवहार पाने के बाद भी, उसकी भक्ति न केवल अस्वाभाविक लगती है, बल्कि कोलियों के समाज के सहज विधानगत संस्कार के भी विपरीत जान पड़ती है। इतना निश्चित है कि उसकी यह परिणति उसके व्यक्तित्व की उग्रता के साथ ठीक मेल नहीं खाती और उसे उभरने नहीं देती। इसी भाँति जब अन्त की ओर वह आत्माभिमान के कारण अपने माता-पिता के पास नहीं लौटती तो यह कुछ अतिरंजित लगता है। उसमें एक प्रकार की आन्तरिक असंगति दृष्टिगोचर होती है। सबसे अधिक अस्वाभाविक लगता है उसका घीरूवाला के साथ सम्बन्ध, क्योंकि लेखक अपने संस्कारवश वहाँ भी उसे अपने व्यक्तित्व के स्वाभाविक रुझान के साथ बह जाने नहीं देता। बाद में वह अपनी सखी से कहती है कि घीरूवाला के साथ मेरा शारीरिक सम्बन्ध केवल एक बार ही हुआ। रत्ना को इस विचित्र स्थिति में दिखाने के बाद भी लेखक जैसे उसके चरित्र की तथाकथित दृढ़ता और निर्मलता बनाये रखने का लोभ नहीं छोड़ सका, क्योंकि आगे चलकर उसे एक और भी अधिक अतिनाटकीय प्रसंग की सृष्टि करनी थी। चरित्रों के साथ इस प्रकार का खिलवाड़ उपन्यासकार के लिए बड़ा घातक होता है। यद्यपि जैसा पहले कहा गया है इस उपन्यास में वह मूलतः लेखक के शहरी दृष्टिकोण की उपज है। ऐसे भी कई स्थल आते हैं जहाँ रत्ना का व्यवहार बिलकुल शहरी लड़कियों का-सा है। इसी से पर्याप्त सम्भावनाओं के बावजूद रत्ना का चरित्र कोई सार्थक कलात्मकता नहीं प्राप्त करता।

अन्य प्रमुख पात्रों में माणिक भी अतिरंजित और आवश्यकता से अधिक नाटकीय बनाकर रखा गया है। अन्त की ओर वह यांत्रिक और एक साँचे में ढला दिखायी पड़ने लगता है। भट्टजी ने उसके चरित्र में दो विरोधी छोर दर्शाने का यत्न किया है जो सभी जगह सफल नहीं होता, और बाद में तो उसमें पुनरावृत्ति और शिल्पगत एकरसता-सी महसूस होने लगती है। फिर भी उसके चरित्र में रोचकता अवश्य है। यशवन्त पूरी तरह प्रेमचन्दी पात्र है: आदर्शवादी, दुख सहन करने वाला भक्त, प्रेमी। ऐसे पात्र के व्यक्तित्व को अधिक संवेदनशील बनाकर बहुत उठाया जा सकता था, उसे बहुत अधिक गहरा भी बनाया जा सकता था। किन्तु इस उपन्यास में वह एक ही आयाम में चलता हुआ जान पड़ता है। उसका व्यक्तित्व उभरता नहीं, कोई गहरी छाप भी मन पर नहीं छोड़ता। अन्य गौण पात्रों में दट्टो और जागला बहुत थोड़ी-सी रेखाओं से ही जीवन्त हो पाये हैं। उनके व्यक्तित्व में सहजता

और स्वाभाविकता के कारण बड़ी मिठास है। इसी भाँति दुर्गा का व्यक्तित्व भी मन को आकर्षित करता है। बाकी पात्र प्रासंगिक है। उनका कोई विशेष महत्त्व नहीं। कुल मिलाकर मानवीय तत्त्व इस उपन्यास में बहुत सशक्त नहीं। उसमें न तो लेखक के सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अवलोकन का आभास मिलता है और न गहन सहानुभूति का ही। मानव-चरित्रों को तीव्र गतिपूर्ण घटनाओं से बाँधकर गति देने का प्रयत्न बहुत विश्वसनीय नहीं लगता। कम-से-कम उस उपाय से उच्चकोटि का उपन्यास लिखना बहुत कठिन जान पड़ता है।

शिल्प की दृष्टि से इसमें घटना-प्रधानता के अतिरिक्त सहजता अवश्य है। पर उसके विन्यास में अथवा शैली में कोई नवीनता नहीं है, यद्यपि एकरसता और उबड़ापन भी नहीं। शैली में बहुत जगह अतिरिक्त अलंकरण है। वर्णनों में काव्यात्मकता, उपमाओं-उत्प्रेक्षाओं का प्रयोग भी कुछ अतिरिक्त लगता है। इन सब बातों के बावजूद 'सागर, लहरें और मनुष्य' उस प्रकार के उपन्यासों में अपने ढंग का अनोखा है। किसी भी प्रकार अपूर्व न होने पर भी वह सर्वथा उल्लेखनीय तथा प्रशंसनीय कृति है। और इस बात में तो कोई सन्देह ही नहीं कि जब वह प्रकाशित हुआ था तो हिन्दी के उपन्यास के लिए एक नया मोड़ और नयी दृष्टि प्रस्तुत करता था।

●

अभी तक इस सर्वेक्षण के पिछले अध्यायों में अलग-अलग उपन्यासों का स्वतन्त्र विश्लेषण किया गया जिसमें उनकी अपनी विशेष भाववस्तु के मूल केन्द्र तथा उसकी अभिव्यक्ति के रूप को पहचानना ही मुख्य उद्देश्य था। अब अगले कुछेक अध्यायों में कुछ प्रमुख भावसूत्रों (थीम) के तथा उनके रूप और शिल्प के विश्लेषण द्वारा, किसी हद तक समग्र रूप में हिन्दी-उपन्यास-उपलब्धि की दिशाओं को समझने का प्रयास किया जायेगा।

१२ | स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध

अधिकांश कथा-साहित्य की भाँति इस दौर के उपन्यास की एक प्रधान विषयवस्तु स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों का चित्रण या अन्वेषण है। दूसरे महायुद्ध, स्वाधीनता, और उसके साथ ही देश के विभाजन ने एक ओर, तथा देश के क्रमशः औद्योगीकरण, शिक्षा-प्रसार आदि ने दूसरी ओर, हमारे समाज की बहुत-सी मर्यादाओं और मान्यताओं पर प्रश्न-चिह्न लगा दिये हैं। विशेषकर व्यक्तिगत स्वाधीनता और व्यक्तित्व की अद्वितीयता जैसी अवधारणाओं का विस्तार अब हमारे देश में भी केवल पुरुषों तक ही सीमित नहीं रह गया। उचित ही स्त्री भी अपने व्यक्तित्व और उसकी रक्षा तथा प्रतिष्ठा के प्रति सजग होती जा रही है। देश में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्तर पर नारी के पुरुष के समकक्षी होने की प्रक्रिया के अनुरूप ही, पिछले वर्षों में साहित्य में भी नारी के व्यक्तित्व को अपेक्षाकृत भिन्न प्रकार की अभिव्यक्ति मिली है, और पुरुष के साथ उसके सम्बन्ध के कई एक ऐसे आयाम उपन्यासों में चित्रित हुए हैं, जो या तो पहले के उपन्यासों में थे ही नहीं, या अपवाद मात्र थे, या सर्वथा प्रासंगिक और गौण थे। स्वाधीनता के बाद के हिन्दी उपन्यास में भी, यद्यपि यह तो नहीं कहा जा सकता कि नारी के स्वाधीन स्वायत्त व्यक्तित्व की पूरी प्रतिष्ठा, अथवा पूरी गहराई के साथ प्रतिष्ठा, हो सकी है, अभी तक उसकी स्वाधीनता अधिकतर एक प्रकार की विशिष्टता के रूप में ही दिखाई पड़ती है, जीवन की सहज स्थिति के रूप में नहीं। फिर भी इस दौर के उपन्यासों में स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों की परिकल्पना और अंकन में ऐसे बहुत-से पक्ष उभर आये हैं जो, चाहे सीमित रूप में ही सही, पहले से भिन्न हैं, और मानवीय सम्बन्धों के कुछ नये आयामों का अन्वेषण करते जान पड़ते हैं।

सबसे पहले समाज द्वारा स्वीकृत, परिवार के चौखटे में पति-पत्नी-सम्बन्ध को ही लें। इस दौर के उपन्यासों में इस सम्बन्ध के दोनों प्रकार के रूप अभिव्यक्त हुए हैं—ऐसे भी जो थोड़े-बहुत हेरफेर के साथ परम्परागत हैं, ऐसे भी जो पहले नहीं होते थे, जो शायद हमारे सामाजिक जीवन में

ही इतने मुखर और स्पष्ट न थे। परम्परागत प्रकार के सम्बन्धों में एक परिचित स्थिति है कि पति पढ़ा-लिखा आधुनिक विचारों का है और पत्नी अपढ़, अशिक्षित और एकदम पुराने ढंग की। अमृतलाल नागर के 'बूंद और समुद्र' में महिपाल और उसकी पत्नी के बीच सम्बन्ध इसी परिस्थिति से निर्धारित है। महिपाल का अव्यवस्थित असन्तुलित जीवन बहुत-कुछ इस गार्हस्थिक असन्तुलन का भी परिणाम है। वह लेखक है, जीवन जगत की बड़ी-छोटी समस्याओं से उलझता है, महानता के सपने देखता है, पर उसका निजी जीवन बड़ी सामंजस्यहीन स्थितियों का समूह है। पत्नी के साथ उसका सम्बन्ध निरा शारीरिक है, वह उसके लिये बच्चे पैदा करने की मशीन भर है। किसी भी मानसिक स्तर पर वह न तो अपनी पत्नी के साथ सम्बन्ध खोजता है, न उसके लिए प्रयत्नशील होता है, और न पाता है। फलस्वरूप केवल झीकता है और अपना भावनात्मक जीवन और उसकी तृप्ति कहीं और तलाश करता है। स्पष्ट ही पत्नी पति के इन नौर-नरीकों से प्रसन्न नहीं है, पर वह बहुत अधिक कुछ चाहती भी नहीं, केवल महिपाल के बच्चों की माता बने रहकर प्रसन्न है। महिपाल के उच्छृंखल आचरण को पुरुषों के सनातन आचरण के रूप में अनिवार्य मानकर चलती है। एक प्रकार से वह सामाजिक जीवन की रूढ़िग्रस्तता, गतानुगतिकता को, या दूसरे ढंग से कहे तो स्थिरता को, बनाये रखने का माध्यम है। हिन्दी कथा-साहित्य की यह अत्यन्त ही घिसी-पिटी स्थिति है और समाज के भी उस अत्यन्त ही गतिहीन और जड़-ग्रस्त की सूचक है जहाँ बदलते हुए परिवेश और सम्बन्धों का सबसे कम असर हुआ है। इसी परम्परागत रूप का कस्बानी जिन्दगी के सन्दर्भ में एक प्रकार वह है जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों ही पिछड़े हुए और अशिक्षित या अर्ध-शिक्षित हैं, और दोनों में निरन्तर झगड़ा चलता रहता है। इसका एक उदाहरण कृष्ण बलदेव वैद के 'उसका बचपन' में है जहाँ बाबा और माँ में शुरू से अन्त तक लड़ाई ही ठनी रहती है—लगभग बिना किसी विशेष तात्कालिक कारण के, निम्न-मध्यवर्गीय जीवन की अनिवार्य परिस्थिति के रूप में। इस स्थिति में भी अपने-आप में कोई नवीनता नहीं है। किन्तु स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों के ये रूप धीरे-धीरे हिन्दी उपन्यास-साहित्य में विलीन होते जा रहे हैं। इस दौर के सार्थक और उल्लेखनीय उपन्यासों में इसका ऐसा चित्रण अन्यत्र बहुत ही कम है, और जो है भी वह बहुत ही ऊपरी और सतही है। 'उसका बचपन' को छोड़कर अन्यत्र कहीं इस स्थिति के अनिवार्य गहरे दबावों और उसकी विस्फोटक परिणतियों का कोई साहसपूर्ण या संवेदनशील सूक्ष्म चित्रण नहीं मिलता, परिस्थिति का सीधा प्रस्तुतीकरण मात्र दिखायी पड़ता है।

अन्य परम्परागत सम्बन्धों में 'बूंद और समुद्र' में ही तारा और वर्मा हैं, जिन्होंने 'प्रेम-विवाह' किया है। वे अपनी इस स्थिति से प्रसन्न और सुखी हैं, और अपनी साहसिकता के कारण वे आस-पास के समाज में चर्चा के, विस्मय के, प्रशंसा के पात्र हैं, इत्यादि। 'बूंद और समुद्र' में इस सम्बन्ध का कोई विशेष उपयोग नहीं है, वह केवल रोचकता के लिए और कुछ विसदृशता उत्पन्न करने के लिए ही लाया गया जान पड़ता है। किन्तु वैसे प्रेम-विवाह आज भी हमारे समाज में उत्सुकता और कौतूहल, ईर्ष्या आदि के भाव जगाता है, और इसी कारण अन्ततः एक प्रकार के आक्रोश और सन्देह का भी। हमारी समाज-व्यवस्था और उसमें स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों के बदलते हुए रूपों की यह एक संक्रान्तिकालीन स्थिति है, और कलात्मक अन्वेषण के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण सम्भावनाएँ प्रस्तुत करती है, पर उसका उपयोग हमारे उपन्यासों में नहीं के बराबर हुआ है।

अश्क के 'शहर में घूमता आईना' में चन्दा और चेतन का सम्बन्ध भी परम्परागत प्रकार का है। पत्नी चन्दा सुन्दरी पर सीधी-सादी है, पति चेतन उसके बजाय उसके रिश्ते की अधिक सुन्दर आकर्षक बहन के प्रति अधिक आकृष्ट होता है, उसके साथ थोड़ा-सा 'फ्लर्ट' भी करता है। किन्तु उसका विवाह अन्यत्र हो जाता है, और चेतन बहुत समय तक उदास, दुखी और उखड़ा-उखड़ा रहने के बाद अन्त में पत्नी की सरलता, विश्वास और स्नेह के आगे झुक जाता है, इत्यादि। स्त्री-पुरुष, विशेषकर पति-पत्नी, सम्बन्धों की इस प्रकार की भावुक, रोमैंटिक, किशोर परिकल्पना हिन्दी कथा-साहित्य में बहुत ही आम है, जो अन्ततः जीवन को बड़े सतही ढंग से देखने, या गहराई में न जा सकने की ही सूचित करती है।

इसी रोमैंटिक दृष्टि का एक अन्य रूप है 'बूंद और समुद्र' में ही वनकन्या और सज्जन का सम्बन्ध। उपन्यास के प्रारम्भ में वे पति-पत्नी नहीं हैं, पर अन्त तक पहुँचते-पहुँचते हो जाते हैं। इस प्रकार से 'बूंद और समुद्र' का केन्द्रीय भावसूत्र वनकन्या और सज्जन के परिचय, प्रेमोत्पत्ति, 'कोर्टशिप', विवाह और परवर्ती आदर्श व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन ही है। दोनों 'आधुनिक' हैं—वनकन्या राजनीति से जुड़ी हुई, सज्जन चित्रकार। प्रतिभा के अनुकूल ही वनकन्या निष्ठावान, तेजस्विनी, कर्मपरायण, गम्भीर स्वभाव की स्त्री है, और सज्जन 'कलाकार', गैर-जिम्मेदार, अस्थिर-प्रवृत्ति तथा यौन-जीवन में प्रायः असन्तुलित प्रकार का पुरुष। पर उपन्यासकार इन दोनों के विभिन्न व्यक्तित्वों के मनस्तत्व को किसी सूक्ष्म, [illegible] और गहन स्तर तक नहीं ले जा पाता। कुल मिलाकर उनकी परस्पर टकराहट और अन्तिम सन्तुष्टि का दृष्टिकोण आदर्शोन्मुख, भावुक और रोमैंटिक ही रह जाता

है, उनके व्यक्तित्वों की विशेषताएँ नायक-नायिका के लक्षणों की भाँति घोषित और आरोपित ही रहती हैं, वास्तविक कार्य-व्यापार मे उनका सघात बडा सतही, अपर्याप्त और कृत्रिम जान पडता है। इस प्रकार अन्तत वह स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों के किसी मूलभूत गहन उपलब्धि का सूचक नही है।

परम्परागत प्रकार के सम्बन्धो मे एक अपवाद नरेश मेहता के 'यह पथ बन्धु था' मे सरस्वती और श्रीधर के बीच सम्बन्ध है। सरस्वती पति श्रीधर के प्रति सम्पूर्ण रूप से समर्पित, निष्ठावान नारी है। दूसरी ओर श्रीधर भी उसकी ओर से उदासीन या विमुख नही, पर वह स्वभाव से निष्क्रिय और अत्यन्त ही साधारण प्रकार का व्यक्ति है। वह अपनी ही धुन मे घर से भाग-कर चला जाता है और परिस्थितिवश पचीस वर्ष तक वापस नही लौटता। इस बीच सरस्वती जीवन की सारी लाछना, कष्ट, पीडा अभाव—बाह्य तथा भावनात्मक दोनो प्रकार के—शान्त भाव से वहन करती रहती है। अन्त मे जब श्रीधर लौटता है तब वह टूट जाती है और उसकी मृत्यु होती है। पति-पत्नी के इस सम्बन्ध मे भी सारे परम्परागत मूल्य ही हैं; पर उनका, विशेषकर सरस्वती के व्यक्तित्व का, अन्वेषण लेखक ने ऐसे सयम, सहानुभूति और करुणा की उपलब्धि के साथ किया है, कि एक ओर तो सरस्वती के व्यक्तित्व को असीम गौरव प्राप्त हुआ है, और दूसरी ओर पति-पत्नी-सम्बन्ध के परम्परागत रूप की सारी अमानुषिकता, जडता और पीडा तथा करुणा भी मूर्त हो उठी है। आज के युग मे इतनी सहनशील नारी लगभग असम्भव ही लगती है। किन्तु फिर भी वह अपनी अनन्य निष्ठा और सहज शालीनता के कारण पूर्णत. विश्वसनीय है। इस भाँति मानवीय सम्बन्धो का एक बीतता युग अपनी समस्त गरिमा और यातना मे मूर्त हो उठता है। निस्सन्देह यह एक अत्यन्त परम्परागत स्थिति का बडा ही असामान्य प्रक्षेपण है।

असाधारणता का एक अन्य रूप 'चारु चन्द्रलेख' मे चन्द्रलेखा और सातवाहन के सम्बन्धो मे है। इसमे स्त्री त्रिपुरसुन्दरी, आद्य शक्ति-स्वरूपा है, जिसके आगे पुरुष अभिभूत और नत-सिर ही हो सकता है उसके लीला-विलास का साधन-उपादान मात्र ही बन सकता है। पत्नी होकर भी चन्द्रलेखा सातवाहन से कुछ इतनी ऊपर और विशिष्ट बनी रहती है कि उससे एक बड़े असाधारण तथा अपरिचित-से भाव की सृष्टि होती है। पर वास्तव मे स्त्री-पुरुष-सम्बन्धो का यह रूप इतना अधिक अवास्तव और लाक्षणिक है कि उसकी समकालीन सम्बन्धो से तुलना बहुत उपयोगी नही।

पति-पत्नी-सम्बन्धो मे अपेक्षाकृत नवीन स्वर मोहन राकेश के उपन्यास 'अँधेरे बन्द कमरे' मे हरबंस और नीलिमा मे है। दोनो आधुनिक हैं। पति पहले पत्नी को नृत्य सीखने को उकसाता है, उत्साहित करता है। पर जब

वह नृत्य को अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के रूप में देखने लगती है, तो वह चिढ़ जाता है—कुछ इस कारण भी कि उसका अपना महत्त्व घटता हुआ लगता है, सामाजिक जीवन में दृष्टिकेन्द्र नीलिमा बनने लगती है, हरवंश नहीं। उसे इस कार्य में सम्भावित पत्नी के अन्य पुरुषों के साथ घनिष्ठतर सम्बन्धों की आशंका भी शायद सताती है। नीलिमा को नृत्य की ओर प्रेरित करके, उसे इस कार्य की स्वाधीनता देकर, एक ओर शायद वह अपनी उदारता पर गर्व करना चाहता था, और दूसरी ओर अपने परिचितों में इस बात का गौरव पाना चाहता था कि उसने ही नीलिमा को इतना महत्त्वपूर्ण बना दिया है। अन्ततः नीलिमा कितनी बढ़े, कितनी स्वायत्त हो, इस सब का निर्णायक शायद वह स्वयं ही रहना चाहता था। इसी से नीलिमा के स्वतन्त्र व्यक्तित्व और उसके विकास की कल्पना वह नहीं कर पाता। फलस्वरूप दोनों के बीच ऐसे तीव्र तनाव और मानसिक संघर्ष की सृष्टि होती है जिसका कोई हल नहीं। स्वयं लेखक ने उसका बड़ा लँगड़ा-सा समाधान दिया है कि नीलिमा घर छोड़कर जाती तो है, पर लौट आती है। पर नीलिमा न तो इब्सन की नोरा-जैसी स्वायत्त है, न उसकी आत्मोपलब्धि ही उतनी सम्पूर्ण और गहन। इसलिए एक नये आधुनिक सम्बन्ध की परिकल्पना होते हुए भी उसकी परिणति में कोई सार्थकता नहीं आ सकी है।

स्त्री के जीवन में घर और बाहर की समस्या के विशेषज्ञ तो हिन्दी में जैनेन्द्रकुमार हैं ही। 'सुनीता' (१९३६) में इस समस्या का एक रूप उन्होंने प्रस्तुत किया था। अब 'सुखदा' (१९५२) में इसी का वह एक नया प्रक्षेपण करते हैं। 'सुखदा' पारिवारिक जीवन से बाहर आने वाली नारी की कथा है। गृहस्थी की एकरसता से ऊबकर वह बाहर राजनीतिक जीवन में अपनी सार्थकता की खोज करती है। इस प्रक्रिया में अत्यन्त स्नेही पति कान्त से उसकी दूरी बढ़ती जाती है; आन्तरिकता और सहजता से वह गतिशीलता और तीव्रता की ओर, कान्त के निश्छल स्नेह से लाल के आकांक्षाग्रस्त प्रबल आकर्षण की ओर छूट निकलती है। फलस्वरूप वह अपने-आप से भी 'निर्वासित' अजनबी होती जाती है। उसका प्राणवान व्यक्तित्व और बाह्य के प्रति उसका आकर्षण और मोह ही उसकी ट्रैजेडी का कारण बनता है। घिसे-पिटे विरोधों के और अपनी अवास्तव अशरीरी दृष्टि के बावजूद, जैनेन्द्र इस उपन्यास में आज की नारी के घर के बाहर एक भिन्न प्रकार के कर्मक्षेत्र की ओर उन्मुख होने से उत्पन्न आध्यात्मिक संकट को बड़ी तीव्रता से अभिव्यक्त कर सके हैं।

लक्ष्मीनारायण लाल के 'काले फूल का पौधा' (१९५५) में एक मध्यवर्गीय धार्मिक वातावरण वाले परिवार में पली लड़की शीला तथा उसके सर्वथा 'आधुनिक' फैशनेबुल प्रवृत्तियों वाले पति देवन के बीच मानसिक टकराहट

की कहानी है। पति चाहता है गीता आधुनिका बने, उसके मित्रो (विशेषकर पुरुष मित्रों) के साथ दावतों में, सैर-सपाटे में जाय, शराब और नाच के दौर में हिस्सा ले, दूसरे पुरुषों को रिझाये, कुछ-कुछ स्वय भी उन पर रीझे, बल्कि अनिवार्य और आवश्यक हो तो कुछ इससे भी आगे बढ जाये। सक्षेप में, पूरी तरह 'शिक्षित' और 'संस्कृत' समाज की सदस्या बने। गीता के धार्मिक संस्कार इसमे बाधक होते है। फलस्वरूप दोनो की ज़िन्दगी विशृंखल हो उठती है, और गीता अपने पिता के यहाँ लौट जाती है। यह भी समकालीन सामाजिक जीवन के एक बड़े तीखे यथार्थ का सूचक है और आज के स्त्री-पुरुष-सम्बन्धो के एक बड़े विचारणीय रूप को प्रक्षेपित करता है। पर दुर्भाग्यवश लक्ष्मीनारायण लाल इस विषयवस्तु को किसी गहरी आधुनिक दृष्टि से नही देख पाये, और उनके प्रस्तुतीकरण मे कलात्मक सार्थकता भी कम रही है जिससे थोथी भावुकता और जान-बूझकर बनाये गये यातना के वातावरण का प्रभाव ही मन पर पड़ता है। फिर भी नये स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धो के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष की ओर वह अवश्य इशारा कर सके है।

पति-पत्नी-सम्बन्धों के बीच एक नये तत्त्व का समावेश पति द्वारा विवाह से पहले पत्नी के किसी अन्य पुरुष के साथ शरीर-सम्बन्ध की स्वीकृति मे है। उदयशकर भट्ट के 'सागर, लहरें और मनुष्य' मे डॉ० पाडुरग यह जानते हुए भी कि रत्ना गर्भवती है, उससे विवाह करता है। किन्तु इस स्थिति के प्रक्षेपण मे नाटकीयता और आदर्शवादिता अधिक है, इसलिए वह अस्वाभाविक और काल्पनिक लगती है। उनके सम्बन्धो मे इतनी भावगहनता नही है कि ऐसी स्वीकृति कलात्मक सार्थकता पा सके। यशपाल के 'झूठा सच' मे डॉक्टर प्राणनाथ तारा से विवाह करता है, यद्यपि वह जानता है कि लाहौर से भागते समय एक मुसलमान द्वारा बलात्कार के कारण तारा यौन-व्याधि से ग्रस्त है, सोमनाथ के साथ विवाहित तो है ही। दिल्ली लौटने के बाद से तारा के व्यवहार से सबको यही लगता रहा है कि वह अविवाहित है। उसे यौन-व्याधि होना बड़ी लज्जाजनक परिस्थिति का सूचक है, इसलिए वह इसका इलाज भी नही करा सकती। पर उदारहृदय डॉ० नाथ उससे विवाह करके अपनी पत्नी के रूप में उसकी चिकित्सा कराने के लिए उसे विदेश ले जाता है। इस स्थिति मे भी अन्ततः विभाजन की विशेष विघटनकारी अमानवीय स्थिति ही तारा की रक्षा करती है, और यशपाल का अकन भी डॉ० नाथ की उदारता और हृदय की विशालता पर ही अधिक बल देता जान पड़ता है। किसी अन्य स्थिति में तारा ऐसा सहज उन्मुक्त उदार भाव पाने की आशा शायद नही कर पाती। इस प्रकार यहाँ परिस्थिति की स्वीकृति अधिक है, वैयक्तिक सम्बन्धो की तीव्रता नही, न परिकल्पना मे, न रूपायन

में। बल्कि इसकी तुलना में 'झूठा सच' में ही रतन और शीलो के सम्बन्धों में, परस्पर आकर्षण और प्रेम के कारण ही, शीलो के पहले विवाहित होते हुए भी एक-दूसरे को पति-पत्नी रूप में स्वीकार करने में अपेक्षाकृत अधिक सामाजिक विद्रोह और साहस है, यद्यपि यहाँ भी इसकी स्वीकृति की पृष्ठभूमि विभाजन की विभीषिका ही है।

पति-पत्नी-सम्बन्धों में एक पेच 'तीसरे' व्यक्ति के आने से पड़ता, एक त्रिकोण की सृष्टि, कथा-साहित्य की अत्यन्त ही सुपरिचित, बल्कि घिसी-पिटी, युक्ति है। फिर भी तीसरे या चौथे व्यक्ति का अस्तित्व है तो प्रायः अनिवार्य ही। वैयक्तिक सम्बन्धों का कोई अन्वेषण इस स्थिति से बच नहीं सकता। बहुत-से लेखक इस 'त्रिकोण' में कई तरह के बाह्य, परिस्थितिमूलक अथवा गहन आन्तरिक रूप-परिवर्तन पैदा करते हैं, अथवा दूसरे शब्दों में, वे तीसरे व्यक्ति की उपस्थिति से उत्पन्न होने वाले तनाव के बहुत-से अपरिचित रूप देख पाते हैं। इसका एक आदर्शवादी रूप जैनेन्द्र के उपन्यासों में मिलता है। 'सुखदा' का उल्लेख पहले हुआ है। 'विवर्त' (१९५३) में 'सुनीता' और 'सुखदा' का एक नया रूप है। मोहिनी बड़े बाप की बेटी है। वह जितेन से प्यार करती है; पर जितेन उसे प्यार करके भी उसके धन के कारण हीनता अनुभव करता रहता है। अन्त में दोनों के व्यक्तित्वों में टक्कर होती है और जितेन आहत होकर आतंकवादी बन जाता है। इसमें जैनेन्द्र का सुपरिचित त्रिकोण है : अत्यन्त प्रीत और स्नेहशील पति जो पत्नी के अन्य पुरुष के प्रति प्रेम को भी क्षमा करने को तैयार है; बाहर से आनेवाला निर्मम क्रान्तिकारी प्रेमी, और लौहपुरुष प्रेमी के आगे रिरियाती किन्तु असाधारण रूपवती स्त्री। किन्तु यह त्रिकोण ही नहीं, जैनेन्द्र द्वारा इसका चित्रण भी अविश्वसनीय, खोखला और कृत्रिम है। वह एक प्रकार की दुष्ट आदर्शवादिता पर आधारित जान पड़ता है और वास्तव में किसी यथार्थ स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध की अभिव्यक्ति को व्यंजित नहीं करता।

भगवतीचरण वर्मा के 'भूले-बिसरे चित्र' में विवाहित जीवन से बाहर प्रेम या शारीरिक सम्बन्ध के कई-एक रूप हैं। ज्वालाप्रसाद और जैदेई का सम्बन्ध, जो रसिकता और हँसी-मज़ाक़ से शुरू होता है, जैदेई के पति की मृत्यु के बाद बड़ा मुखर रूप लेता है। किन्तु दोनों ही व्यक्ति पुरानी दुनिया के हैं, इसलिए उनके सम्बन्ध की परिणति भी बड़ी परम्परागत है। जैदेई जैसे ज्वालाप्रसाद को अपने दूसरे पति के रूप में ही स्वीकार कर लेती है, और आजीवन उसे वैसी ही अनन्यता और निष्ठा से निभाये जाती है। इसलिए प्रारम्भिक चमक के बाद इस सम्बन्ध में कोई विशेषता नहीं रहती, क्योंकि इस स्थिति से उत्पन्न किसी बाह्य अथवा आन्तरिक संघर्ष का कोई रूप

नहीं उभरता। ज्वालाप्रसाद की पत्नी इस बात को जानती है पर सहनशीला हिन्दू स्त्री की भाँति इसे धीरज और विश्वास के साथ स्वीकार कर लेती है। इसकी तुलना में गंगाप्रसाद के सन्तो और मलका से सम्बन्ध कुछ अधिक तीव्रता लिये हुए हैं। पर दोनों ही रोमैंटिक काल्पनिकता या भावुकता से आक्रान्त हैं। सन्तो गंगाप्रसाद के कारण भ्रष्ट होकर सीधी पतन के मुँह में चली जाती है, और वेश्या मलका आदर्शवादी होने के कारण किसी युवक से विवाह करके देश के कल्याण के कार्य में लग जाती है। जीवन के मूलभूत सम्बन्धों की ये सरल परिणतियाँ बड़ी सतही और छूँछी तो हैं ही, वे घिसी-पिटी भी बेहद हैं, और कलात्मक अक्षमता और स्थूलता की सूचक हैं। इसी स्थूलता के दो अन्य रूप इसी उपन्यास में हैं राधाकिसन और उसकी पत्नी कैलासो तथा राजा सत्यप्रसन्न सिंह और रानी हेमवती के सम्बन्ध। राधाकिसन व्यवसायी है और वह अपनी व्यावसायिक उन्नति के लिए अपनी पत्नी के शरीर के उपयोग में नहीं हिचकता। और राजा-रानी तो खुले-आम आदतन अपने पलंग के साथी बदलते रहते हैं।

ऐसी ही स्थूलता का एक अन्य उदाहरण 'बूँद और समुद्र' में मनिया सुनार की पत्नी 'बड़ी' तथा कवि विरहेश के बीच प्रेमकाण्ड में है। किन्तु उसमें एक हद तक निम्न मध्यवर्गीय क़स्बाती परिवेश की एक स्त्री की दमित अतृप्त आकांक्षाओं की भीषण परिणति की करुणा है। लेखक का रोष भी बड़ी से अधिक विरहेश के प्रति है, जो उस प्रसंग को पूरी तरह स्थूल नहीं होने देता। इसी उपन्यास में अशिक्षिता दक़ियानूसी पत्नी से असन्तुष्ट महिपाल और डॉक्टर शीला स्विंग के बीच सम्बन्ध फिर वही आदर्शवादी राह पकड़ लेता है; उच्छृंखल पुरुष और समर्पिता नारी। शीला स्विंग में विवाहिता स्त्री की-सी एकनिष्ठता और भक्ति दिखाकर लेखक ने उस सम्बन्ध की मौलिकता और आधुनिक अभिव्यंजना खत्म कर दी है और उसे पूरी तरह परम्परागत बना दिया है।

इन सब चित्रों की तुलना में 'झूठा सच' में जयदेव पुरी और कनक के सम्बन्धों की परिणति में अधिक विस्फोटक तत्त्व है। इसमें त्रिकोण दो बनते हैं : पहले कनक-पुरी-उर्मिला का और फिर पुरी-कनक-गिल का। किन्तु लेखक ने बड़े विचित्र ढंग से कनक और उर्मिला दोनों को ही प्रायः सम्पूर्ण सहानुभूति दी है, जिससे पुरी की नीचता और अमानुषिकता उभर आयी है। किन्तु पहले त्रिकोण में एक और तत्त्व भी वह ले आया है—कुछ समय बाद कनक के साथ पुरी की एक प्रकार की नपुंसकता, जिसके कारण पुरी और कनक का सम्बन्ध अन्त में टूट ही जाता है। पुरी की इस अवस्था के विषय में उपन्यास में मनोविश्लेषणात्मक दलीलें दी गयी हैं : कनक के साथ शारीरिक

सङ्कल्प के समय उसे उर्मिला की याद आ जाती है, अपने छोटे डील-डौल के कारण पुरी अपने को कनक से हीन अनुभव करता है, वर्गगत तथा सांस्कृतिक हीनता का भाव तो है ही, इत्यादि। किन्तु इस नाटकीयता और बाह्य शारीरिक कारण से पुरी का चरित्र थोड़ा वक्र भले ही होता हो, कनक और पुरी के सम्बन्धों की मानवीय स्थिति दुर्बल पड़ जाती है। दोनों के बीच परिवेश का अन्तर तो है ही (जिसे चाहें तो वर्गगत अन्तर भी कह सकते हैं), मानसिक अन्तर भी है। उनके बीच विघटनकारी संघर्ष के सूत्र उनके मूल *व्यक्तित्वों और उनके पास आने की परिस्थितियों में ही निहित हैं।* उस स्थिति में स्वाभाविक विकास के अन्वेषण की बजाय उसे अतिरिक्त मडरीना बनाना, यशपाल की दृष्टि की बाह्यपरकता को ही रेखांकित करता है। फिर कनक में परम्परागत और आधुनिक नारी का बड़ा दिलचस्प मिश्रण है और उसके व्यक्तित्व का रूपायन ही इस सम्बन्ध के चित्रण को सार्थक मानवीय आयाम देता है। अन्त में यह त्रिकोण एक ओर तो उर्मिला के किसी डॉक्टर से ब्याह कर लेने के कारण टूटता है, पर गिल और कनक के बीच कोमल सूत्र बनने से नये सिरे से फिर प्रकट होता है। गिल-कनक-सम्बन्ध में भी गहराई और सार्थकता प्राप्त करने की सम्भावनाएँ हैं, पर उपन्यास में यह *सूत्र रोचकता के स्तर पर ही रह जाता है, किसी भावात्मक ऊर्ध्वता को प्राप्त* नहीं कर पाता। कुल मिलाकर इन सम्बन्धों में किसी हद तक आधुनिक स्त्री-पुरुषों के जीवन और उनके तनावों की झलक मिलती है, जो परिचित *चौखटे में होने पर भी पूर्णतः व्यक्तित्व और सप्राणता से शून्य नहीं।*

त्रिकोण के चौखटे में ही अधिक तीव्र और विस्फोटक सम्बन्धों का एक उदाहरण मन्नू भण्डारी और राजेन्द्र यादव के सम्मिलित उपन्यास 'एक इंच *मुस्कान' (१९६३) में मिलता है। इसमें लेखक अमर एक साथ* दो स्त्रियों की ओर आकर्षित है : रंजना जिसे वह कॉलिज के दिनों से जानता और प्रेम करता है और जो उसके अनुरोध पर अपने घरवालों को छोड़कर उसी नगर में *आ जाती है जहाँ अमर रहता है। दूसरी ओर है अमला,* धनी पिता की पुत्री, अपने पति द्वारा परित्यक्ता, अमर की रचनाओं की प्रशंसक। रंजना उसे विवाह के लिए प्रेरित करती है, अमला उसे महान लेखक देखना चाहती है और उसे ब्याह करने को मना करती है। अमर को अमला की ही बात अच्छी लगती है, किन्तु वह रंजना से शादी भी कर ही लेता है। पर विवाहित जीवन सुखी नहीं होता। वे अलग भी रहने लगते हैं, पर रंजना *गर्भवती है,* इसलिए वे फिर साथ रहने का प्रयास करते हैं। किन्तु अमर रंजना को गर्भ-पात करने के लिए मजबूर करता है, इससे दोनों के बीच दरार और बढ़ जाती है। अन्त में रंजना किसी दूसरे शहर में नौकरी पर चली जाती है।

उधर अमला के जीवन में भी परिवर्तन होते हैं। वह अपने वर्ग और परिवेश से कटती जाती है। अन्त में पुरी में एक होटल में अमर और अमला की फिर भेंट होती है। पर दोनों इतने बदल गये हैं कि एक-दूसरे को ग्रहण नहीं कर पाते। अमला पागल हो जाती है, अमर अकेला रह जाता है। इस सम्पूर्ण स्थिति में कई एक नये तत्त्व हैं जो आधुनिक जीवन, उसके बदलते हुए दबावों और तनावों तथा उनकी परिणतियों के सूचक हैं। त्रिकोण का बाहरी खोल पुराना-सा लगने पर भी उसके भीतर का भावतत्त्व भिन्न है। पर उपन्यास में अन्विति का अभाव है इसलिए इन सम्बन्धों की सच्चाई को अधिक निर्मम वस्तुनिष्ठता तथा सूक्ष्मता से देखना सम्भव नहीं होता, मानवीय सम्बन्धों के अन्वेषण की बजाय उनका एक ऊपरी प्रतिरूप मात्र प्रस्तुत हो पाता है। फिर भी इसमें बदलते हुए सम्बन्धों की करुणा अवश्य है जो नयी सम्भावनाओं को सूचित करती है।

यह दिलचस्प बात है कि विवाहित व्यक्तियों के अपने सगी या संगिनी के अतिरिक्त अन्य किसी से प्रेम के इन सम्बन्धों में, प्रायः कवि, लेखक या बुद्धिजीवी कोटि के व्यक्ति होते हैं, अर्थात् ऐसे अधिकांश उपन्यास कमोवेश मात्रा में आत्मगाथात्मक हैं। डॉ० देवराज के उपन्यास 'पथ की खोज' (१९५१) में कवि चन्द्रनाथ का कल्पनाविलासी मन अपनी सरल साधारण पत्नी सुशीला से पूरा सन्तोष न पाकर पत्नी की एक बौद्धिक सहेली साधना की ओर खिंचता है। पर साधना का विवाह हो जाता है और वह चली जाती है। बाद के जीवन में दोनों एक बार फिर मिलते हैं—साधना अपने पति से झगड़कर चली आयी है। पर दोनों के बीच अब एक व्यवधान है जो दूर नहीं होता। एक प्रकार से इस उपन्यास में इस बात का अन्वेषण है कि क्या बौद्धिकता दो स्त्री-पुरुषों के बीच सन्तुलित अथवा सार्थक सम्बन्ध का पर्याप्त आधार है? पर 'पथ की खोज' में उसका रूपायन बहुत-सी अनावश्यक बातों में उलझकर बिखर जाता है। इसी लेखक के अन्य उपन्यास 'अजय की डायरी' (१९६०) में भी एक संस्कृति, दर्शन और साहित्य के पंडित व्यक्ति के, जो विवाहित भी है, एक अन्य अविवाहित युवती हेम से प्रेम, उसकी विफल परिणति और उससे उत्पन्न विकलता तथा कुण्ठा का ही चित्रण है। ठाकुरप्रसादसिंह के उपन्यास 'कुब्जासुन्दरी' (१९६३) में सज्ञा नामक युवती अपने नपुंसक पति को त्यागकर चली आती है और उसके विद्यार्थी-जीवन के एक ऐसे बन्धु के साथ उसका फिर से सम्बन्ध जुड़ता है जिसके प्रति उसके मन में प्रेम का भाव था तो, पर तब वे दोनों ही उसे समझ न सके थे। जीवन की विभिन्न स्थितियों से गुजरकर वे दोनों अन्त में अपने-आप से साक्षात्कार करते हैं।

सम्बन्ध के समय उसे उर्मिला की याद आ जाती है; अपने छोटे डील-डौल के कारण पुरी अपने को कनक से हीन अनुभव करता है, वर्गगत तथा सांस्कृतिक हीनता का भाव तो है ही, इत्यादि। किन्तु इस नाटकीयता और वाह्य शारीरिक कारण से पुरी का चरित्र थोड़ा वक्र भले ही होता हो, कनक और पुरी के सम्बन्धों की मानवीय स्थिति दुर्बल पड़ जाती है। दोनों के बीच परिवेश का अन्तर तो है ही (जिसे चाहें तो वर्गगत अन्तर भी कह सकते हैं), मानसिक अन्तर भी है। उनके बीच विघटनकारी संघर्ष के सूत्र उनके मूल व्यक्तित्वों और उनके पास आने की परिस्थितियों में ही निहित है। उस स्थिति के स्वाभाविक विकास के अन्वेषण की वजाय उसे अतिरिक्त भड़कीला बनाना, यशपाल की दृष्टि की वाह्यपरकता को ही रेखांकित करता है। फिर कनक मे परम्परागत और आधुनिक नारी का बड़ा दिलचस्प मिश्रण है और उसके व्यक्तित्व का रूपायन ही इस सम्बन्ध के चित्रण को सार्थक मानवीय आयाम देता है। अन्त मे यह त्रिकोण एक ओर तो उर्मिला के किसी डॉक्टर से ब्याह कर लेने के कारण टूटता है, पर गिल और कनक के बीच कोमल सूत्र बनने से नये सिरे से फिर प्रकट होता है। गिल-कनक-सम्बन्ध में भी गहराई और सार्थकता प्राप्त करने की सम्भावनाएँ हैं, पर उपन्यास में वह सूत्र रोचकता के स्तर पर ही रह जाता है, किसी भावात्मक ऊर्ध्वता को प्राप्त नहीं कर पाता। कुल मिलाकर इन सम्बन्धों में किसी हद तक आधुनिक स्त्री-पुरुषों के जीवन और उनके तनावों की झलक मिलती है, जो परिचित चौखटे मे होने पर भी पूर्णतः व्यक्तित्व और सप्राणता से शून्य नहीं।

त्रिकोण के चौखटे में ही अधिक तीव्र और विस्फोटक सम्बन्धों का एक उदाहरण मन्नू भण्डारी और राजेन्द्र यादव के सम्मिलित उपन्यास 'एक इंच मुस्कान' (१९६३) मे मिलता है। इसमें लेखक अमर एक साथ दो स्त्रियों की ओर आकर्षित है. रजना जिसे वह कॉलिज के दिनों से जानता और प्रेम करता है और जो उसके अनुरोध पर अपने घरवालों को छोड़कर उसी नगर में आ जाती है जहाँ अमर रहता है। दूसरी ओर है अमला, धनी पिता की पुत्री, अपने पति द्वारा परित्यक्ता, अमर की रचनाओं की प्रशंसक। रजना उसे विवाह के लिए प्रेरित करती है, अमला उसे महान लेखक देखना चाहती है और उसे ब्याह करने को मना करती है। अमर को अमला की ही बात अच्छी लगती है, किन्तु वह रजना से शादी भी कर ही लेता है। पर विवाहित जीवन सुखी नहीं होता। वे अलग भी रहने लगते हैं, पर रंजना गर्भवती है, इसलिए वे फिर साथ रहने का प्रयास करते है। किन्तु अमर रंजना को गर्भपात करने के लिए मजबूर करता है, इससे दोनों के बीच दरार और बढ़ जाती है। अन्त में रजना किसी दूसरे शहर मे नौकरी पर चली जाती है।

उधर अमला के जीवन मे भी परिवर्तन होते है । वह अपने वर्ग और परिवेश मे कटती जाती है । अन्त मे पुरी मे एक होटल मे अमर और अमला की फिर भेंट होती है । पर दोनों इतने बदल गये है कि एक-दूसरे को ग्रहण नही कर पाते । अमला पागल हो जाती है, अमर अकेला रह जाता है । इस सम्पूर्ण स्थिति में कई एक नये तत्त्व हैं जो आधुनिक जीवन, उसके बदलते हुए दबावों और तनावों तथा उनकी परिणतियों के सूचक हैं । त्रिकोण का बाहरी खोल पुराना-सा लगने पर भी उसके भीतर का भावतत्त्व भिन्न है । पर उपन्यास में अन्विति का अभाव है इसलिए इन सम्बन्धों की सच्चाई को अधिक निर्मम वस्तुनिष्ठता तथा सूक्ष्मता से देखना सम्भव नही होता, मानवीय सम्बन्धों के अन्वेषण की बजाय उनका एक ऊपरी प्रतिरूप मात्र प्रस्तुत हो पाता है । फिर भी इसमें बदलते हुए सम्बन्धों की करुणा अवश्य है जो नयी सम्भावनाओं को सूचित करती है ।

यह दिलचस्प बात है कि विवाहित व्यक्तियों के अपने सगी या सगिनी के अतिरिक्त अन्य किसी से प्रेम के इन सम्बन्धों मे, प्राय कवि, लेखक या बुद्धिजीवी कोटि के व्यक्ति होते हैं, अर्थात ऐसे अधिकाश उपन्यास कमोबेश मात्रा में आत्मगाथात्मक हैं । डॉ० देवराज के उपन्यास 'पथ की खोज' (१९५१) में कवि चन्द्रनाथ का कल्पनाविलासी मन अपनी सरल साधारण पत्नी सुशीला से पूरा सन्तोष न पाकर पत्नी की एक बौद्धिक सहेली साधना की ओर खिचता है । पर साधना का विवाह हो जाता है और वह चली जाती है। बाद के जीवन मे दोनों एक बार फिर मिलते हैं—साधना अपने पति से झगड-कर चली आयी है । पर दोनों के बीच अब एक व्यवधान है जो दूर नहीं होता, एक प्रकार से इस उपन्यास मे इस बात का अन्वेषण है कि क्या बौद्धिकता दो स्त्री-पुरुषों के बीच सन्तुलित अथवा सार्थक सम्बन्ध का पर्याप्त आधार है ? पर 'पथ की खोज' मे उसका रूपायन बहुत-सी अनावश्यक बातों में उलझकर बिखर जाता है । इसी लेखक के अन्य उपन्यास 'अजय की डायरी' (१९६०) मे भी एक संस्कृति, दर्शन और साहित्य के पंडित व्यक्ति के, जो विवाहित भी है, एक अन्य अविवाहित युवती हेम से प्रेम, उसकी विफल परिणति और उससे उत्पन्न विकलता तथा कुण्ठा का ही चित्रण है । ठाकुर-प्रसादसिंह के उपन्यास 'कुब्जासुन्दरी' (१९६३) मे सज्ञा नामक युवती अपने नपुंसक पति को त्यागकर चली आती है और उसके विद्यार्थी-जीवन के एक ऐसे बन्धु के साथ उसका फिर से सम्बन्ध जुडता है जिसके प्रति उसके मन मे प्रेम का भाव था तो, पर तब वे दोनों ही उसे समझ न सके थे । जीवन की विभिन्न स्थितियों से गुजरकर वे दोनों अन्त में अपने-आप से साक्षात्कार करते हैं ।

पुरुष-सम्बन्धों की कोमलता और उनका मानसिक-आध्यात्मिक धरातल जैसे नष्ट होता जा रहा है—कम-से-कम इस प्रक्रिया के प्रारम्भ होने के चिह्न नज़र आने लगे हैं। एक ओर स्त्री-पुरुष परस्पर परिचित होकर, पारस्परिक प्रेम के आधार पर ही विवाह करना चाहते है, कम-से-कम अपने पारम्परिक आकर्षण की सामाजिक स्वीकृति चाहते हैं; दूसरी ओर उनके खुलकर मिल सकने, एक-दूसरे को पहचान सकने और एकाधिक व्यक्तियो में से अपना सहभागी चुन सकने की सम्भावनाएँ-सुविधाएँ अत्यन्त ही कम है। विभिन्न आजीविकाओं मे स्त्री-पुरुषों के बीच प्रतियोगिता समानता के भाव के बजाय कटुता को ही जन्म देती है। ये सभी तथा ऐसे ही अन्य अन्तर्विरोध अपनी पूरी जटिलता, विविधता और सूक्ष्मता मे हमारे उपन्यासो मे उसी प्रकार नही के बराबर अभिव्यक्त हुए हैं, जिस प्रकार स्त्री-पुरुष के मूलभूत आकर्षण और सघान के गहन और सूक्ष्म रूप। छायावादी तथा छायावादोत्तर काल के साहित्यकार का नारी के प्रति भाव बड़ा अशरीरी, भावुक और वायवी था। आज के लेखक का दृष्टिकोण अधिक 'यथार्थ' और स्थूल भले ही हो गया हो, पर अभी तक वह पर्याप्त सूक्ष्म, संवेदनशील और गहन नही हो पाया है। फलस्वरूप हिन्दी उपन्यास में स्त्री-पुरुष-सम्बन्धो से साक्षात्कार सतही, अपर्याप्त और अधूरा ही रह जाता है, किसी वयस्क सम्पूर्ण उपलब्धि के स्तर तक नही पहुँचता।

१३ | राजनीतिक परिस्थितियाँ

वैयक्तिक सम्बन्धों के अतिरिक्त जीवन के जिस एक अन्य पक्ष की अभिव्यक्ति पर्याप्त तीव्रता से हिन्दी उपन्यास में होती रही है, वह है राजनीतिक परिस्थितियाँ। आन्दोलनों, हलचलों, परिवर्तनों, मान्यताओं—प्रायः प्रत्येक रूप में और प्रत्येक स्तर पर, राजनीतिक परिस्थितियों और उनके प्रभाव को हिन्दी का कथा-साहित्य प्रकट करता रहा है। यह एक हद तक स्वाभाविक भी है। स्वाधीनता से पहले और दूसरे महायुद्ध के दौरान, स्वतन्त्रता आन्दोलन हमारे देश की सम्पूर्ण चेतना का केन्द्रबिन्दु था। एक प्रकार से स्वाधीनता आन्दोलन सम्पूर्ण व्यक्तित्व को, जीवन के सभी सामूहिक और वैयक्तिक पक्षों को, घेर लेता था। बहुत हद तक अधिकांश आत्मसजगता, वैयक्तिक स्वाधीनता की भावना तथा सामाजिक संस्कार और परिवर्तनशीलता की माँग कहीं-न-कहीं जाकर स्वतन्त्रता आन्दोलन से ही जुड़ जाती थी। पराधीन देश की भावगत और बौद्धिक चेतना और साहित्य में उसकी अभिव्यक्ति की यह स्थिति बहुत ही सहज और स्वाभाविक है।

स्वतन्त्रता के बाद भी देश की चेतना में राजनीति को प्रायः प्रमुख स्थान प्राप्त रहा है, यद्यपि पिछले वर्षों में यह चेतना क्रमशः पर्याप्त विभिन्नीकृत होकर विविध वैयक्तिक रूपों और स्तरों में भी प्रकट होने लगी है। एक ओर स्वतन्त्रता आन्दोलन के सामने देश की गरीबी, अशिक्षा तथा सामाजिक विषमता तथा जड़ता को दूर करने का जो मुख्य उद्देश्य था, वह अभी तक अधूरा है, और एक प्रकार से राजनीतिक स्वतन्त्रता के बाद इन कार्यों ने और भी महत्त्व तथा तात्कालिकता प्राप्त कर ली है। साथ ही औपनिवेशिक स्थिति से एक गणतन्त्र में रूपान्तर अपने-आप में एक सर्वव्यापी तथा विराट सामूहिक और वैयक्तिक प्रक्रिया है, जिसने इस देश के जीवन के हर स्तर को प्रभावित किया है, और इस जीवन का कोई कलात्मक-सर्जनात्मक प्रस्तुतीकरण इस प्रक्रिया के संघात से सर्वथा बचकर नहीं निकल सकता था।

किन्तु दूसरी ओर, एक विपरीत भावधारा भी उतनी ही स्वाभाविकता और महत्ता के सक्रिय रही है। वह है इस बात का बढ़ता हुआ अहसास

कि केन्द्रीय अथवा मूलभूत अथवा प्रमुख होने पर भी, राजनीति सम्पूर्ण जीवन नहीं है, जीवन का साध्य या उद्देश्य नहीं है, मानवीय कार्य-कलाप का सबसे सार्थक या सबसे महत्त्वपूर्ण अथवा चरम अंश भी नहीं है। किसी स्तर पर प्रत्येक सामूहिक और वैयक्तिक समस्या या प्रश्न के राजनीति से सम्बद्ध हो जाने पर भी, प्रत्येक सामूहिक या वैयक्तिक समस्या, प्रश्न या स्थिति की स्वतन्त्र सत्ता है, और उसे उसके विशिष्ट स्वतन्त्र रूप में देखना और पहचानना सम्भवत उसके राजनीतिक सम्बन्धों और पक्षों को देखने-पहचानने से कहीं अधिक सार्थक और महत्त्वपूर्ण है। क्रमशः यह चेतना भी अधिक स्पष्ट और दृढ़ होती गयी है कि राजनीतिक आर्थिक सयोजन, सगठन, कार्य-कलाप अन्तत हैं सभी व्यक्ति के लिए ही, उसके व्यक्तित्व के अधिकतम विकास और परिपूर्णता के साधन मात्र। उनकी उपयोगिता और सार्थकता तथा औचित्य की कसौटी अन्तत. व्यक्ति और समूह का सुख और कल्याण ही है। यदि वे इस कसौटी पर खरे नहीं उतरें तो उनकी अवज्ञा, उनमे परिवर्तन, उनका उन्मूलन तक, अनिवार्य भी हो जाता है और आवश्यक भी। और यद्यपि यह चेतना और उसके परिणामस्वरूप गतिमान होने वाली क्रिया, स्वय राजनीतिक गतिविधि और हलचल बन जाती है; किन्तु साथ ही यह चेतना अनिवार्य रूप से व्यक्ति और उसकी नियति की खोज को, अधिकाधिक, समाज के सवेदनशील और सजग अंश के दृष्टिकेन्द्र मे ले आती है, जिससे व्यक्ति और उसके कल्याण का अर्थ समझने का प्रयास होने लगता है, व्यक्तित्व के स्वरूप और सार्थकता का अन्वेषण आवश्यक हो जाता है। अनुभूति के ये पक्ष क्रमशः राजनीति से स्वतन्त्र अस्तित्व प्राप्त कर लेते हैं और उनका स्वतन्त्र अन्वेषण सर्जनात्मक कार्य का मुख्य क्षेत्र बन जाता है।

स्वतन्त्रता के बाद के हिन्दी उपन्यास मे राजनीतिक परिस्थितियो और व्यक्ति के साथ उसके सम्बन्धों की यह प्रक्रिया किसी-न-किसी रूप मे और स्तर पर अवश्य प्रकट हुई है, चाहे उसकी समस्त एकरूपता, बहुविधता और जटिलता के साथ साक्षात्कार कितना ही सतही या अपर्याप्त क्यों न रहा हो। इस प्रकार कुछ उपन्यासों में राजनीतिक परिस्थितियों, परिवर्तनों या हलचलों का सीधा प्रस्तुतीकरण उद्दिष्ट है और व्यक्ति केवल उस उद्देश्य को पूरा करने के उपादान भर हैं। उनमे राजनीतिक आन्दोलन और परिस्थितियाँ व्यक्ति की नियति की नियामक शक्तियो के रूप में प्रस्तुत हैं, जिनके थपेड़ों मे पड़ा व्यक्ति असहाय इधर से उधर टक्कर खाता रहता है। कुछ उपन्यासों मे राजनीतिक कार्य-कलाप व्यक्ति और समुदाय का परिवेश मात्र दिखायी पड़ता है या वह अधिक सार्थक रूप में मूल भाववस्तु से जुड़ा होता है। कुछ अन्य उपन्यासों में व्यक्ति और राजनीतिक परिस्थितियों के बीच एक प्रकार की समानान्तरता

है और लेखक दोनों को उनके पारस्परिक सम्बन्ध और घात-प्रतिघात में प्रस्तुत करना चाहता है। इसी प्रकार कुछ में राजनीतिक कार्य-कलाप एक समग्र मानवीय स्थिति के रूप में प्रस्तुत हुआ है, और अन्य विविध तत्वों के साथ राजनीति भी किसी सम्पूर्ण ताने-बाने के एक सूत्र के रूप में बुनी हुई दिखायी पड़ती है, किसी पृथक् सत्ता के रूप में नहीं। कुछ अन्य में राजनीतिक परिस्थितियों या हलचलों का चित्र केवल रोचक वर्णनों के स्तर पर, तथ्यात्मक जानकारी देने के लिए है, या फिर राजनीतिक जीवन की क्षुद्रता, भ्रष्टता और अनैतिकता को दिखाने के लिए हुआ है। साथ ही ऐसे उपन्यासों का भी अभाव नहीं है जिनमें किसी राजनीतिक विचार या पार्टी या गति-विधि का उद्देश्य या परिणाम उसे पक्षधरता के साथ उठाना या गिराना मात्र है, किसी सार्थक परिस्थिति या परिणति का प्रस्तुतीकरण नहीं। इस प्रकार राजनीति मानवीय सम्बन्धों के बहुत-से उल्लेखनीय आयामों में प्रस्तुत हुई है। इस प्रस्तुतीकरण को अब तनिक और समीप से देखें।

राजनीतिक-आर्थिक परिस्थितियों और संघर्ष को मानवीय नियति का नियामक मानने वाले उपन्यासकारों में भैरवप्रसाद गुप्त, नागार्जुन, यशपाल, आदि प्रमुख हैं। भैरवप्रसाद गुप्त के उपन्यास 'गंगा मैया' (१६५२), 'जंजीरें और नया आदमी' (१६५६), 'सती मैया का चौरा' (१६५६), 'धरती' (१६६५) आदि, सभी देहातों में वर्ग-संघर्ष को प्रस्तुत करने के उद्देश्य से लिखे गये हैं। वे किसी हद तक देहाती जीवन का शोषण, पीड़न और दैन्य तथा उनसे उत्पन्न पीड़ा और करुणा प्रस्तुत करते हुए भी मुख्यतः ज़िन्दगी को सरलीकृत खानों में बाँटकर देखते हैं, और इन्सान को या तो आर्थिक परिस्थितियों द्वारा यान्त्रिक रूप में नियामित-परिचालित दिखाते हैं, या क्रान्ति करके बगावत में उठता हुआ। इनमें राजनीति का किताबी वर्ग-संघर्ष के आधार पर सीधा चित्रण है, और जीवन के अन्य सभी पक्ष उसके आधीन और गौण रूप में प्रस्तुत हुए हैं। यह चित्रण पक्षधर भी है और एकांगी भी, और जीवन के वास्तविक नियामक सूत्रों को उनकी मूलभूत जटिलता या सूक्ष्मता में नहीं प्रस्तुत करता और न मानवीय ऊष्मा का आभास दे पाता है।

नागार्जुन के 'बलचनमा' तथा अन्य उपन्यासों में भी देहातों की राजनीति का ऐसा ही सीधा चित्रण है, पर उसमें मानवीय तत्त्व सम्भवतः अपेक्षाकृत अधिक सशक्त है। 'बलचनमा' एक अर्द्ध-दास खेतिहर मजदूर के क्रमशः ज़िन्दगी की टक्करें खाते-खाते सजग राजनीतिक कर्मी बनने की कथा तो है ही, एक साधारण इन्सान के धीरे-धीरे आत्मसजग होने और अपना भविष्य स्वयं बनाने में प्रवृत्त होने की कथा भी है। 'सुराजी' बाबुओं की नीचता, स्वार्थपरता और ढोंग के एकांगी चित्रण के बावजूद, 'बलचनमा' में सहज घनिष्ठ अनुभूति

की आत्मीयता अवश्य है, जो उसकी राजनीति को सर्वथा अविश्वसनीय नहीं बनने देती, यद्यपि जीवन का सरलीकरण यहाँ भी प्राय भैरवप्रसाद गुप्त जैसा ही है।

यशपाल भी *आर्थिक-राजनीतिक परिस्थितियों को जीवन का एकमात्र* नियामक तत्त्व नहीं तो सर्वप्रमुख तत्त्व तो मानते ही हैं। इसलिए वह जीवन को एक निश्चित पूर्व-निर्धारित धारणा के अनुसार प्रस्तुत करने को सहज ही प्रवृत्त हो जाते हैं। उनका अशोक द्वारा कलिंग-विजय के प्रसग पर आधारित उपन्यास 'अमिता' (१६५६) रूस द्वारा प्रवर्तित शान्ति-आन्दोलन के समर्थन में लिखा गया है। वह जितनी यान्त्रिकता के साथ शान्ति और अहिंसा की श्रेष्ठता और अनिवार्य आवश्यकता सिद्ध करना चाहता है, उतनी ही यान्त्रिकता के साथ उस युग की परिस्थितियों पर वर्ग-संघर्ष का भी आरोप करता है। पर उनके 'झूठा सच' में राजनीति का चित्रण सीधा होकर भी अधिक वस्तुनिष्ठ है। उसमें उन्होंने बड़े विस्तार से उन राजनीतिक-आर्थिक परिस्थितियों का विवरण दिया है जिन्होंने देश के विभाजन को सम्भव तथा *अनिवार्य बना दिया। इस सन्दर्भ में विभिन्न राजनीतिक शक्तियों, पार्टियों* और आन्दोलनों के रूप और परिणाम भी उन्होंने दिखाये हैं—विभाजन के पहले भी और विभाजन के बाद भी। 'झूठा सच' में राजनीतिक परिस्थितियाँ—बौद्धिक, *भावनात्मक, सगठनात्मक* सभी आयामों में—भाववस्तु के एक स्वतन्त्र, बल्कि प्रधान, तत्त्व के रूप में प्रस्तुत हुई है। उपन्यास के अधिकतर व्यक्ति या तो जाने-अनजाने इन राजनीतिक परिस्थितियों के आधीन और उनसे परिचालित हैं, उनकी इच्छाएँ-आकाक्षाएँ, उनके आचरण-व्यवहार, राजनीतिक-आर्थिक कारणों द्वारा निर्धारित होते है, या फिर उनका राजनीतिक-आर्थिक परिस्थितियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। कोई गहरा या दोहरा घात-प्रतिघात व्यक्तियों और राजनीतिक परिस्थितियों में नहीं दीख पड़ता। विभाजन के बाद दूसरे खण्ड में तो राजनीतिक परिस्थितियों का यह चित्रण और भी स्वायत्त-जैसा हो जाता है, और जीवन की एक स्वतन्त्र शक्ति के रूप में, अपने बाह्य विस्तार और फैलाव में, प्रस्तुत होता है। अन्तत *उसका समाचारात्मक, तथ्यात्मक* मूल्य ही अधिक है, यद्यपि उसमें भी लेखक की अपनी दृष्टि का, उसके साम्यवादी-समर्थक रुझान का, प्रभाव उसके व्यग्य-पूर्ण चित्रण और पक्षधरता में प्रायः सर्वत्र देखा जा सकता है। कुल मिलाकर 'झूठा सच' में भी *राजनीतिक परिस्थितियों का चित्रण किसी गहरी मानवीय* स्थिति का अंग न होकर बाह्य परिवेश मात्र है, जिससे उपन्यास में प्रस्तुत व्यक्तियों का सम्बन्ध भी सतही और प्रासगिक ही रह जाता है।

इससे भिन्न फणीश्वरनाथ रेणु के 'परती परिकथा' (१६५७) में राजनीति

अधिक सक्रियता और अधिक मानवीय सम्बद्धता के साथ उपन्यास की आधार-वस्तु के रूप में आती है। इसमें देश के दोनों युगों के बीच के जीवन को ही लिया गया है। कोसी के अंचल में फैली हुई हजारों बीघा परती जमीन किस प्रकार युगों बाद नवीन योजनाओं के फलस्वरूप नया जीवन प्राप्त करती है, और इस रूपान्तर की प्रक्रिया में उस परती के आस-पास का जीवन किस प्रकार अचानक विक्षुब्ध और सचल हो उठता है, इसी का विशद चित्र 'परती परिकथा' में प्रस्तुत किया गया है। यह भूमि युगों से इसी भांति परती चली आती है। सुदूर अतीत में कभी किसी समय कोसी ने अचानक अपना मार्ग बदला और हजारों-लाखों एकड़ भूमि बन्ध्या हो गयी। इस भूमि के किनारे बसने वाले गांवों के निवासी क्रमशः इस परिस्थिति को एक प्रकार से भाग्य की लीला मानने लगे और इसे लेकर नाना प्रकार के अन्धविश्वास उनके संस्कारों में गहरे जम गये। यहां तक कि अब इस स्थिति में किसी भी प्रकार के परिवर्तन की कल्पना भी उन्हें विधि के विधान में हस्तक्षेप करने के बराबर जान पड़ने लगी और वे ऐसे किसी भी प्रयत्न को सन्देह, आशंका और भय की दृष्टि से देखने लगे। उनके मन के भीतर यह धारणा बद्धमूल हो गयी कि अब भी कोई इस विधान को बदलने का यत्न करता है तो समूचे गांव पर, समाज पर, नये सिरे से विपत्ति टूटती है।

परती के किनारे बसा पुरानपुर ऐसा ही एक गांव है जहां के निवासी इसी प्रकार अन्धविश्वासों में जीवन बिताते आये हैं। इसी बीच देश को स्वाधीनता प्राप्त होती है, कांग्रेस सरकार बनती है, और नयी घाटी-योजनाएँ तैयार होती हैं। इन योजनाओं के फलस्वरूप व्यापक परिवर्तन होने लगते हैं, नये-नये विचार, नये-नये आन्दोलन इस क्षेत्र के गांवों में आकर पनपते हैं, और देहात के अपेक्षाकृत स्थिर जीवन में भयंकर आलोडन उत्पन्न हो जाता है। साथ-ही-साथ उधर कांग्रेस सरकार भूमि-सम्बन्धी कानूनों में भी सुधार करने का प्रयत्न करती है जिसके फलस्वरूप भूमि के नये बन्दोबस्त की तैयारियाँ होती है, नये बँटवारे की योजनाएँ बनती हैं। पुरानपुर गांव के सभी निवासी अपना-अपना दावा, अपना-अपना अधिकार भूमि के विभिन्न अंशों पर घोषित करते हैं, और तीन वर्ष तक बन्दोबस्त-विभाग के अधिकारी अर्जियाँ माँगते है, लोगो के दावों की तथा माँगो की जाँच करते हैं और मामले निपटाते हैं, देहात के जीवन में भूमि के बँटवारे से अधिक क्रान्तिकारी स्थिति दूसरी नही हो सकती। उसके कारण अनिवार्य रूप से सदियों से जमे हुए जीवन की पर्तें—भावनाओं की, विचारों की, संस्कारो की, सामाजिक सम्बन्धो की, आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज की, संक्षेप में जीवन के प्रत्येक स्तर की पर्तें—टूटने लगती है। नवीन और पुरातन परिवर्तन और यथावत्ता,

प्रगति और परम्परा के बीच अटककर खींचतान, टकराहट और संघर्ष का प्रारम्भ हो जाता है।

किन्तु, जैसा प्रायः होता है, सामयिक जीवन के परिवर्तनों को मानव-गाथा का रूप देने में, विशेषकर राजनीतिक और आर्थिक जीवन के परिवर्तनों को चित्रित करने में, सदा ही यह आशंका रहती है कि लेखक जीवन के सतही कारबार में उलझ जाये और पात्रों के अपेक्षाकृत अधिक प्रासंगिक और ऊपरी क्रियाकलापों में आगे न बढ़ पाये। अथवा यह भी भय रहता है कि राजनीतिक अथवा अन्य बौद्धिक मान्यताओं और विचारधाराओं के अथवा राजनीतिक पार्टियों के घात-प्रतिघात के ऊपरी रूप को समझने और प्रस्तुत करने में ही रह जाय। 'परती परिकथा' भी सतही जीवन की इसी भूलभुलैया में उलझ गयी है। लेखक पुरानपुर में भूमि के नये बन्दोबस्त को लेकर चलने वाले दाँवपेचों और देहाती राजनीति के बहुत-से हथकण्डों का विस्तार से चित्रण करता है, विभिन्न पार्टियों की दलबन्दी, गन्दगी और सिद्धान्तहीनता पर प्रकाश डालता है, नयी योजनाओं की चर्चा करता है। किन्तु यह सब चित्रण किसी कलात्मक समग्रता की ओर नहीं बढ़ता, उसे कोई गहरी सार्थकता प्रदान नहीं करता, क्योंकि यह सब सतही चकलता किसी गहरे विक्षोभ से नहीं जुड़ पाती, उसमें कोई मौलिक मानवीय तत्त्व नहीं उभरता। दूसरी ओर, लेखक सक्रिय राजनीति में स्वयं व्यक्तिगत रूप से भली-भाँति परिचित होने पर भी, उसका दृष्टिकोण, उसका कलात्मक बोध और उसकी सहज सहानुभूति मूलतः राजनीतिक नहीं है। इसलिए 'परती परिकथा' एक सशक्त राजनीतिक उपन्यास का रूप भी नहीं लेता।

नरेश मेहता के 'यह पथ बन्धु था' में राजनीति को महत्त्वपूर्ण पात्रों के परिवेश के, या उससे भी अधिक उनके कार्यक्षेत्र के, रूप में चित्रित करने का प्रयास है। श्रीधर इन्दौर और काशी में अनायास राजनीति के तूफान में पड़ जाता है और स्वभाव से महत्त्वाकांक्षाहीन और निष्क्रिय होने के कारण राजनीति की संकीर्णता और दलबन्दी में अनचाहे ही पिसने लगता है। यहाँ राजनीतिक जीवन एक तो निकट-अतीत के एक युग से सम्बद्ध है, दूसरे, उसकी गति भी, या तो आतंकवादी स्तर पर या सतही कांग्रेसी आन्दोलन के स्तर पर, चलती है। उसमें 'झूठा सच' या 'परती परिकथा' की-सी गति या सर्वग्रासी तीव्रता नहीं है। किन्तु श्रीधर स्वयं इतना गतिहीन है कि यह राजनीति भी एक परिस्थिति के रूप में उसकी जिन्दगी की करुणा को तीव्र करके उद्घाटित करने का साधन बन जाती है। फिर भी अपने-आप में परिस्थिति के रूप में राजनीतिक यथार्थ का यह चित्रण भी बड़ा सतही और क्षीण है, जीवन की अधिक गतिशील परिस्थिति के रूप में उसे प्रस्तुत नहीं करता।

डॉ० देवराज के 'पथ की खोज' (१६५१) में एक कवि के संवेदनशील मन पर १६४२ के आन्दोलन के प्रभाव की कथा है। समस्त राष्ट्रीय जीवन को आन्दोलित करने वाले स्वाधीनता-संग्राम के नये मोड़ों की, तीव्रता से उभरती राजनीतिक-सांस्कृतिक विचारधाराओं के सधान की, किस प्रकार एक ईमानदार और सजग लेखक के जीवन पर, उसके विश्वासों और मान्यताओं पर, उसके कोमल अपरिपक्व मन और उससे प्रसूत काव्य पर, छाप पड़ती है, इसकी कहानी 'पथ की खोज' में है। इस दृष्टि से यहाँ राजनीति अधिक जीवन्त परिवेश के रूप में प्रस्तुत है, यद्यपि १६४२ के आन्दोलन की व्यापकता, तीव्रता और उसकी परिणति का कोई सुस्पष्ट और तीखा चित्र इसमें भी नहीं उभर पाता।

वैयक्तिक सत्य के कथाकार होकर भी जैनेन्द्रकुमार राजनीति का पृष्ठ-भूमि के रूप में प्रायः उपयोग करते हैं। उनकी कई रचनाओं में यह राजनीति रोमैंटिक आतंकवादी कार्यकलाप मात्र है। पर 'सुखदा' (१६५२) में उन्होंने इसका एक सक्रिय परिस्थिति के रूप में प्रयोग किया है। सुखदा का राजनीति में भाग लेना ही उसके अपने-आप से 'निर्वासित' (एलिनेट) होने का कारण बनता है। यों यह घर की चहारदीवारी से बाहर कोई और भी कार्य हो सकता था। पर यह हमारे देश के जीवन में राजनीति के विशिष्ट स्थान का ही सूचक है कि स्त्री के लिए सबसे सहज 'बाह्य' गतिविधि जो सामने आती है, वह राजनीतिक कार्य ही है। यहाँ भी व्यक्ति के जीवन में राजनीति के परोक्ष स्थान का आभास तो मिलता है, पर उस राजनीतिक गतिविधि का कोई विशेष स्वरूप सामने नहीं आता। उस राजनीति में कोई निजी गति या तीव्रता भी नहीं है जो व्यक्ति के जीवन को स्वतन्त्र रूप से प्रभावित कर सकती हो।

राजनीतिक परिस्थितियों को उपन्यास की प्रधान भाववस्तु बनाने का प्रयास जैनेन्द्र के 'जयवर्धन में है। उसका प्रमुख पात्र जयवर्धन शीर्षस्थ राज-नेता है, राज्याधिप है। उसकी स्थिति में उसका हर कार्य, उसकी हर उलझन, राजनीतिक समस्या बन सकती है। फिर उसका तो अन्त:संघर्ष ही व्यक्ति और राजसत्ता के सम्बन्ध को लेकर है। यह संघर्ष उसके वैयक्तिक-आन्तरिक जीवन की पेचीदगी के कारण और भी तीव्र होता है। यहाँ राजनीति और व्यक्ति समानान्तर स्थिति में हैं, और 'जयवर्धन' में राजनीति का इस दोहरे आयाम में अन्वेषण है—अपने-आप में और वैयक्तिक जीवन के साथ सम्बन्ध में। इस प्रकार 'जयवर्धन' में राजनीति जीवन की एक महत्वपूर्ण स्थिति के रूप में प्रस्तुत है जिसकी मानवीय सम्भावनाएँ अनन्त हैं। इस दृष्टि से हिन्दी उपन्यास में यह राजनीति का तीव्रतम और सबसे महत्त्वपूर्ण उपयोग

है। किन्तु जहाँ तक भावतीव्रता के इस स्तर पर, आज के जीवन में राजनीति के स्थान के वास्तविक अन्वेषण का प्रश्न है, वहाँ जैनेन्द्रकुमार कोई सार्थक उपलब्धि तक नहीं पहुँचते। उनकी राजनीतिक परिस्थितियों की समझ अत्यन्त काल्पनिक और अवास्तव है, और वह पूरी वस्तुनिष्ठता और एकाग्रता से, देर तक और दूर तक, जीवन्त मानवीय सम्बन्धों और स्थितियों में उसका अनुसरण नहीं कर पाते। अन्ततः उनका आग्रह सिद्धान्तों पर, हवाई बहस और चर्चा पर, अधिक हो जाता है, और मानवीय अनुभूति की क्षीणता सारी स्थिति को इतना अधिक इच्छित और निष्प्राण बना देती है, कि न व्यक्ति और न राजनीति के किसी आत्यन्तिक पक्ष पर, या उनके किसी मूलभूत सम्बन्ध पर, कोई सार्थक वक्तव्य प्रस्तुत हो पाता है, और पूरा उपन्यास निरा शब्दजाल होकर रह जाता है। फिर भी राजनीतिक परिस्थिति 'जयवर्धन' में अपने एक सार्थकतम रूप में परिकल्पित है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

वास्तव में समग्र मानवीय स्थिति के एक आत्यन्तिक अंग के रूप में राजनीति का प्रक्षेपण आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में केवल एक ही कृति में है, और वह है फणीश्वरनाथ रेणु का 'मैला आँचल'। यहाँ राजनीतिक परिस्थितियाँ, परिवर्तन, आन्दोलन, पार्टियाँ, सिद्धान्त, सब किसी कीमियायी प्रक्रिया से जीवन से एकाकार हो गये हैं। राजनीतिक विचार और कार्य व्यक्ति को, व्यक्तियों को, समुदाय को प्रभावित करते हैं, उन्हें बदलते हैं, और इस प्रक्रिया में वे स्वयं भी जैसे बदलते जाते हैं; सहज ही अपने तीखे-नुकीले सैद्धान्तिक रूप से, अपनी सुपरिचित दो-टूक किताबी या दलगत परिभाषाओं से, भिन्न होते जाते हैं। राजनीति से व्यक्ति की नियति जुड़ी है, पर राजनीति की नियति भी तो व्यक्ति से जुड़ी हुई है। हर व्यक्ति को, हर समुदाय को, अपनी नियति पहचाननी ही होती है; राजनीतिक सम्बन्धों की, राजनीतिक परिस्थितियों और कार्यों की, समझ इसी नियति की पहचान का ही एक अंग है। आत्मोपलब्धि केवल एक ही स्तर पर आकर रुक नहीं जाती। इसी से 'मैला आँचल' में क्रमशः एक पूरा गाँव जैसे अपने-आप से साक्षात्कार करता है, अपने भविष्य से साक्षात्कार करता है, और इस प्रक्रिया में एक अत्यन्त ही पिछड़े हुए क्षेत्र से चलकर नये युग की देहलीज पर जा खड़ा होता है। इस गति या प्रगति में राजनीति का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है, और पराधीन देश के एक गाँव के जागरण में तो निश्चय ही बड़ा केन्द्रीय स्थान है। 'मैला आँचल' का लेखक राजनीति को वह स्थान देकर भी, उसे पूरे जीवन पर हावी या उससे एकाकार नहीं हो जाने देता। राजनीति समग्र मानवीय स्थिति के एक अविभाज्य अंग के रूप में प्रस्तुत होती है। 'मैला आँचल' में राजनीतिक परिस्थितियों का यह उपयोग हिन्दी उपन्यास में

एकदम बेजोड़ है, और एक ऐसी उपलब्धि है, जो स्वयं रेणु के हाथ भी फिर दुबारा कभी नहीं लग पायी। दिलचस्प बात यह है कि इस उपन्यास में पूरे जीवन को कुछ इस प्रकार रेणु ने प्रस्तुत किया है कि विभिन्न राजनीतिक मतवाद, सिद्धान्त, आन्दोलन, क्रियाकलाप आदि, अपने नितान्त मानवीय रूप में प्रकट हो जाते हैं और इस प्रकार पूरी राजनीति की एक बड़ी तीक्ष्ण परोक्ष समीक्षा-जैसी पूरे उपन्यास में प्रस्तुत होती है, जिसमें मताग्रहों से अधिक मानवीय सार्थकता पर ही बल रह जाता है। भावधारा के रूप में राजनीति के चित्रण में 'मैला आँचल' हिन्दी उपन्यास की एक विशिष्ट सार्थकता का सूचक है।

किन्तु इस दृष्टि से 'मैला आँचल' अपवाद ही है। अधिकांश हिन्दी उपन्यासों में राजनीति का उपयोग रोचक वर्णनों तथा तथ्यात्मक जानकारी के स्तर पर ही रह जाता है। इसका बड़ा 'ज्वलन्त' उदाहरण है भगवतीचरण वर्मा का 'भूले-बिसरे चित्र', जिसमें १६२०-३१ के बीच की राजनीतिक हलचलों के बड़े लम्बे-लम्बे विवरण हैं, जो अधिकांश अप्रासंगिक और अनुपातहीन लगते हैं। अमृतसर कांग्रेस के, इलाहाबाद और कानपुर में राजनीतिक गतिविधि के, साम्प्रदायिक दंगों के, विशद चित्रों का उपन्यास की मूल भाववस्तु में कोई सार्थक योग नहीं होता। केवल अन्त में ही जब नवल जेल जाने के लिए तैयार होकर, नमक-सत्याग्रह के लिए जुलूस में शामिल होता है, तो राजनीतिक कार्यकलाप को एक पूरे युग की, समस्त भविष्योन्मुख तरुण वर्ग की, एक अनिवार्य नियति की सार्थकता प्राप्त होती है। अन्यथा बाकी अधिकांश स्थल सूचनात्मक ही अधिक हैं और इसीलिए प्रायः नीरस भी हो जाते हैं।

अमृतलाल नागर के 'बूँद और समुद्र' में तो राजनीति के माध्यम से रोचकता की तलाश और भी तीव्र है। चुनाव की सरगर्मियों में हवाई जहाज के जिस प्रकार के उपयोग की चर्चा नागरजी करते हैं, वह सनसनीभरा और रोचक ही अधिक है। सज्जन-वनकन्या-सम्बन्धों में भी राजनीतिक कारणों का हस्तक्षेप बड़ा सतही लगता है, बल्कि पूरे वनकन्या-सज्जन-प्रसंग के अनुरूप ही, किसी गहरी मानवीय दृष्टि को नहीं, बाह्य परिस्थितियों मात्र को सूचित करता है। उससे राजनीतिक जीवन की सिद्धान्तहीनता, अवसरवादिता, अखाड़ेबाजी आदि पर अवश्य प्रकाश पड़ता है, पर यह उद्घाटन भी किसी गहरी मानवीय संवेदना से सम्बद्ध नहीं होता। स्वयं वनकन्या के कम्युनिस्ट-समर्थक राजनीतिक रुझान की जो सुधारवादी परिणति होती है, वह उसके व्यक्तित्व के हल्केपन की सूचक तो है ही, पूरे उपन्यास में राजनीतिक परिस्थितियों के बड़े ऊपरी और प्रासंगिक चित्रण की भी सूचक है।

राजनीतिक भावसूत्र का सबसे प्रासंगिक और युक्तिमूलक उपयोग होता

है, राजनीतिक जीवन के ढोंग और भ्रष्टाचार के उद्‌घाटन में। रांगेय राघव के 'आखिरी आवाज' (१९६२) में राजस्थान के एक ग्रामीण अंचल में व्यभिचार और हत्या की पृष्ठभूमि के कांग्रेसी नेताओं की गुटबन्दी, अनाचार और स्वार्थ, पुलिस के जुल्म और रिश्वतखोरी आदि का बड़ा ही सरलीकृत, यान्त्रिक और सतही चित्रण है। राजेन्द्र यादव 'उखड़े हुए लोग' में कांग्रेसी पूँजीपति देशबन्धु उर्फ नेता भैया के जीवन की गन्दगी का उद्‌घाटन करते हैं। नेता भैया गांधीजी के साथ रह चुके हैं, आजकल प्रादेशिक कांग्रेस के प्रधान हैं, पर वास्तव में घोर दुश्चरित्र, पाखण्डी और घृणित व्यक्ति हैं। प्रकारान्तर से इसका उद्देश्य कांग्रेसी राजनीति की आलोचना या भंडाफोड़ करना ही है, राजनीतिक सम्बन्धों या शक्तियों के किसी गहरे संघात का उद्‌घाटन नहीं। मनहर चौहान के 'हिरना सांवरी' (१९६२) में छत्तीसगढ़ क्षेत्र के दो ठाकुरों में चुनाव को लेकर आपसी झगड़े होते दिखाये गये हैं, जिसका मूल कथा से बड़ा शिथिल-सा ही सम्बन्ध है। राजनीतिक भावसूत्र के हमारी चेतना पर प्रभाव की एक परिणति यह भी है ही कि हमारे उपन्यासकार राजनीति का भण्डाफोडक रूप में उपयोग करने के प्रलोभन से बहुत कम ही बच पाते हैं।

इस प्रवृत्ति का बड़ा दिलचस्प उदाहरण है शमशेरसिंह नरूला का 'एक पंखड़ी की तेज धार' (१९६५)। इसमें १४ अगस्त, १९४७ से लेकर ३० जनवरी, १९४८ को गांधीजी की हत्या होने तक, दिल्ली की राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियों का चित्र है, पर इसे उपन्यास कहना बेकार है। इसमें उन दिनों की विस्फोटक परिस्थितियों से सम्बन्धित अखबार की कतरनों को एक विशेष प्रकार से काल्पनिक जामा पहनाकर सँजो दिया गया है, जिसका मुख्य उद्देश्य है कुछ विशेष राजनीतिक दलों और व्यक्तियों का भण्डाफोड़। निस्सन्देह यह विवरण इस स्तर पर बड़ा ज्ञानवर्धक और रोचक है। जीवन्त रिपोर्ताज बहुत बार बहुत रोचक भी हुआ करता है। पर रोचकता और बाह्य साक्ष्य विश्वसनीय कलात्मक कसौटियाँ नहीं हैं। उनके द्वारा किसी राजनीतिक परिस्थिति का बड़ा विशद सटीक चित्रण हो सकता है, पर कोई सर्जनात्मक उपलब्धि होना अनिवार्य नहीं। 'एक पंखड़ी की तेज धार' राजनीति का कच्चा माल है, उसका कलात्मक सर्जनात्मक उपयोग नहीं।

इस भाँति आधुनिक हिन्दी-उपन्यास में भाववस्तु के एक सूत्र के रूप में राजनीतिक परिस्थितियों के उपयोग का यह सर्वेक्षण बहुत आश्वासनकारी नहीं लगता। इसमें उतनी भी विविधता, तीव्रता और गहनता नहीं है, आवश्यक-अनावश्यक की उतनी भी सूझ या कलात्मक पकड़ नहीं है, जितनी स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों के प्रस्तुतीकरण में मिलती थी। हिन्दी उपन्यासकार

अभी तक सामाजिक गतिशीलता के मूलभूत आधारों और वैयक्तिक जीवन के साथ उनके सम्बन्धों को किसी गहरी आत्मीयता या निकट परिचय से देखकर नहीं चित्रित कर सका है। उसकी दृष्टि प्रासंगिक और सतही कार्य-*व्यापार में अटककर रह जाती है, और वह उसी को बार-बार विभिन्न रंगों और आकृतियों में अंकित करता रहता है।*

फिर भी पूर्ववर्ती युग से एक-दो बातों में भिन्नता और अधिक कलात्मक प्रवृत्ति स्पष्ट है। राजनीतिक जीवन के विभिन्न रूपों और विभिन्न उपादानों के विषय में, राजनीतिक मान्यताओं, सिद्धान्तों और दलों के विषय में, आज के उपन्यासकार में पहले से अधिक तटस्थता और सन्तुलन है। आज उसकी दृष्टि पहले से अधिक आलोचनात्मक हो गयी है और राजनीतिक मताग्रहों का स्वतन्त्र मूल्यांकन करने में अब वह पहले से अधिक सक्षम है। साथ ही यह देख सकना अब उसके लिए कहीं सहज और सुगम हो गया है कि *राजनीति के बदलते हुए उतार-चढ़ाव के सहारे ज़िन्दगी के एक सीमित पक्ष को ही, और उसके भी सीमित रूप में ही, समझा जा सकता है। मनुष्य के जीवन में और* उसकी नियति में बहुत-कुछ ऐसा है जो राजनीतिक पैमानों से या राजनीतिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में, ठीक-ठीक नहीं नापा या आँका जा सकता। और एक सर्जनात्मक लेखक जहाँ ज़िन्दगी के पल-पल परिवर्तित रूप के अनन्त वैचित्र्य से घबराता नहीं, वहीं वह उस परिवर्तनशीलता के पीछे किसी अपेक्षाकृत अधिक स्थायी और मूल्यवान सार्थकता के निरन्तर अन्वेषण को ही अपना सबसे महत्त्वपूर्ण कलाधर्म समझता है।

*

१४ | बौद्धिक और अनुभूतिगत स्तर

पिछले दो अध्यायों में आधुनिक हिन्दी उपन्यास की भाववस्तु के जिन दो सूत्रों की चर्चा हुई वे एक प्रकार से अनुभूति के दो विपरीत छोरों को सूचित करते हैं : सर्वथा वैयक्तिक, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, और सर्वथा सामूहिक, राजनीतिक परिस्थितियाँ। ये दो छोर इन उपन्यासों में प्रस्तुत भाववस्तु को उसके सीमान्तों पर प्रस्तुत करते हैं और इसीलिए किसी हद तक उसकी उपलब्धि का स्तर और उसकी सीमाएँ भी सूचित करते हैं। पर इनके बीच में वैयक्तिक तथा सामूहिक सम्बन्धों और सत्यों के ऐसे और भी बहुत-से रूप और पक्ष हैं जिनकी आधुनिक हिन्दी उपन्यास में कमोबेश समझ और पकड़ के साथ अभिव्यक्ति हुई है। जीवन के इन रूपों और पक्षों को उनकी ब्यौरेवार मूर्तता में विभिन्न उपन्यासों में देखा जा सकता है, और उनकी गहनता तथा तीव्रता या उनके अभाव का आकलन किया जा सकता है। किन्तु उन्हें हम एक और रूप में भी देख सकते हैं—उनके प्रस्तुतीकरण के पीछे निहित बौद्धिक और अनुभूतिगत प्रखरता में। आधुनिक हिन्दी उपन्यास की उपलब्धि के यथा-सम्भव विश्वसनीय मूल्यांकन के लिए उसके बौद्धिक और अनुभूतिगत स्तर की कुछ चर्चा यों भी सर्वथा आवश्यक जान पड़ती है।

बौद्धिक स्तर की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी उपन्यास को देखें तो यह तुरन्त अनुभव होता है कि, समग्र रूप से, उसमें उठाये गये प्रश्नों में विविधता किसी हद तक अवश्य है। इनमें जीवन के मूलभूत और महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी हैं। व्यक्ति के अपने साथ, दूसरे व्यक्तियों के साथ, समूह के साथ, विभिन्न व्यक्तियों के एक-दूसरे के साथ तथा विभिन्न समूहों के पारस्परिक—सभी प्रकार के सम्बन्धों का अनुसन्धान करने के प्रयास इन उपन्यासों में मिल जायेंगे। सम्भवतः एक सीमा तक यह विविधता इन उपन्यासों की आधुनिकता और सफलता को भी सूचित करती है।

किन्तु एक ओर तो यह विविधता भी इतनी अपर्याप्त है कि समकालीन जीवन के अनगिनती रूपों का उसमें कहीं पता ही नहीं चलता। बल्कि सारे

उपन्यासों में मिलाकर भी आज के बदलते हुए जीवन की समझ का कोई सही रूप नहीं मिलता। अभी तक हिन्दी उपन्यासकार समग्र रूप में जीवन के पुराने परम्परागत रूपों को ही समझ पाता है, आधुनिक रूपों को नहीं, जिसका सबसे बड़ा कारण अनुभव की संकीर्णता और क्षीणता के अतिरिक्त बौद्धिक सयन्त्र की अक्षमता और अप्रखरता ही है। इसी कारण विभिन्न प्रश्नों, समस्याओं, सिद्धान्तों-सम्बन्धों के बोध में, उनके आकलन में, सूक्ष्मता अथवा परिपक्वता की बड़ी कमी महसूस होती है। हिन्दी उपन्यास-लेखन साधारणतः—कुछेक इने-गिने अपवादों को छोड़कर—घोर स्थूलता से आक्रान्त है। अधिकांश लेखक या तो स्वतःसिद्ध या स्वतःस्पष्ट बातों को ही बड़ी गहरी बुद्धिमानी के अन्दाज में दुहराते रहते हैं, या बाह्य यथार्थ के असंवेदनशील वर्णनों में उलझ जाते हैं।

स्थूलता के इस आयाम का एक रूप यह है कि हिन्दी उपन्यास में व्यक्ति की, व्यक्तित्व की, व्यक्तिमत्ता की, घोषित प्रतिष्ठा के बावजूद, व्यक्तित्व की वास्तविक उपलब्धि बहुत ही कम है। हिन्दी उपन्यास में ऐसे कितने कम पात्र हैं जिनके व्यक्तित्व का कोई गहराई में सुस्पष्ट और सार्थक रूप प्रकट हुआ हो। 'नदी के द्वीप' की रेखा, 'बूँद और समुद्र' की ताई और 'यह पथ बंधु था' की सरो के अतिरिक्त व्यक्तित्व की उपलब्धि से मंडित पात्र और कौन-से हैं ? और इनके व्यक्तित्व का भी रूप वास्तव में क्या है ? कितना विशिष्ट है ? ये प्रश्न मन में उठते हैं। 'चारु चन्द्रलेख' में चन्द्रलेखा में तो इसकी सम्भावना मात्र ही रहती है, अन्ततः उसका रूपायन नहीं हो पाता, और उसकी सारी तेजस्विता नाम-रूपहीनता के गह्वर में खो जाती है। और ऐसा इस कारण नहीं होता कि आज का लेखक विशिष्ट व्यक्तित्वों की रचना की ओर उन्मुख नहीं और आज का इन्सान ही इतना व्यक्तित्वहीन है। हिन्दी का लेखक तो अभी भी उपन्यास में चरित्रों की सृष्टि को ही सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य मानता है। व्यक्तित्व के निर्माण में उसकी असफलता मूलतः उसकी बौद्धिक और अनुभूतिगत क्षीणता और दुर्बलता के कारण ही है, इसलिए कि व्यक्तित्व का कोई तीक्ष्ण बोध ही अधिकांश लेखकों को नहीं है, उसको रूपायित करने की अक्षमता तो है ही।

इस स्थूलता के ही दो अन्य रूप ये है कि हिन्दी उपन्यास में प्रायः सर्वत्र जीवन की समग्रता नहीं, खण्डमयता ही अधिक दीख पड़ती है। और खण्ड का दर्शन भी यदाकदा मार्मिक और सूक्ष्म होने पर भी गहन अथवा सम्पूर्ण नहीं, बाह्य तथा ऊपरी ही अधिक है। इसी प्रकार हिन्दी उपन्यास में जीवन की गतिशीलता या निरन्तरता का बोध भी बड़ा अपर्याप्त है या सतही है। 'झूठा सच' या 'भूले-बिसरे चित्र' जैसे उपन्यास भी बाह्य औपचारिक काल

मे उलझे रह जाते है, काल के किसी गहरे आन्तरिक आयाम को या वास्तविक गति के किसी भाव को नही संप्रेषित कर पाते ।

इसी से हिन्दी उपन्यासो को पढकर अधिकाशत बौद्धिक अनुशासन के बजाय बौद्धिक अराजकता का प्रभाव पड़ता है । इस स्थिति के अज्ञेय और जैनेन्द्र जैसे बौद्धिक लेखक भी अपवाद नही हैं । अज्ञेय के बौद्धिक जगत मे सूक्ष्मता है, संवेदनशीलता है, पर वह इतना आत्मसीमित है कि किसी वृहत्तर सत्य से साक्षात्कार असम्भव हो जाता है । जैनेन्द्र की बौद्धिकता मे जीवन का स्पर्श कम है, और अन्ततः वह भी अनुभूति की सकीर्णता मे आबद्ध है । साथ ही उसमे ऐसा भावविलास प्रकट होता है जो चिन्तन को भूलभुलैयो मे भटका देता है । 'चारु चन्द्रलेख' निस्सन्देह ऐसी रचना है जो बौद्धिक परिपक्वता और समर्थता सूचित करती है, जिसके पीछे व्यक्ति और समाज की स्थितियो का सूक्ष्म, सवेदनशील और पर्याप्त वैज्ञानिक चिन्तन है । पर उसमे भी अन्तत अनुभूति के स्तर पर बिखराव आ जाता है और लेखक अपने पाडित्य के सूत्रो मे स्वय ही खो जाता है । फलस्वरूप वह उपन्यास भी अपनी प्राप्य उपलब्धि से वचित रहता है । बाक़ी अधिकाश उपन्यासकार बडी सतही और यात्रिक बौद्धिकता को प्रकट करते है, उनका चिन्तन भावुकता और प्राय. अधकचरे विचारों से, और जीवन मे इनके प्रतिफलन के और भी अधिक असमर्थ अनुभव से, पीड़ित जान पड़ता है । यदि उनमे से कोई सर्जनात्मक स्तर पर कभी सार्थकता प्राप्त कर पाता है तो अपनी अनुभूति की प्रामाणिकता और आत्मीयता तथा तीव्रता के कारण ही, अपनी बौद्धिक सजगता के कारण नही । यशपाल विभाजन-जैसी विघटनकारी स्थिति के कोई भी दूरव्यापी परिणाम अपने इतने वृहद उपन्यास मे नही देख पाते, उसके माध्यम से एक सफलता की सृष्टि करके सन्तुष्ट हो जाते हैं । विभाजन के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले नैतिक, आध्यात्मिक और गहन मानसिक सकट का कोई बौद्धिक अथवा अनुभूतिगत बोध वह नही प्रकट करते । अमृतलाल नागर 'बूँद और समुद्र' मे रामजी बाबा और आश्रम मे सब झमेलो का हल देखते हैं । राजेन्द्र यादव के 'उखड़े हुए लोग' मे जया और शरद बेईमानी, नैतिक भ्रष्टता, अनाचार से सामना होते ही घर छोड़कर भाग निकलते हैं । अश्क के 'शहर मे घूमता आईना' मे चेतन निम्न-मध्यवर्ग की दरिद्रता, क्षुद्रता, सकीर्णता से दिन-भर सामना करके रात मे अपनी अगाध झील-जैसी पत्नी के वक्ष मे मुँह छिपाकर चैन की साँस लेता है । मोहन राकेश के 'अँधेरे बन्द कमरे' का मधुसूदन आधुनिक जीवन की उलझी हुई स्थिति मे पड़ते ही अपढ देहाती लड़की को प्रेमोपहार देने चल पड़ता है । और तो और, जैनेन्द्र का बडी-बडी बातें करने वाला 'राज्याधिप' जयवर्धन भी, राज्य को त्यागकर इला से विवाह होते ही चुपचाप रात को कहीं अज्ञातवास

में उलझे रह जाते है, काल के किसी गहरे आन्तरिक आयाम को या वास्तविक गति के किसी भाव को नही सप्रेषित कर पाते ।

इसी से हिन्दी उपन्यासो को पढकर अधिकाशत. बौद्धिक अनुशासन के बजाय बौद्धिक अराजकता का प्रभाव पड़ता है। इस स्थिति के अज्ञेय और जैनेन्द्र जैसे बौद्धिक लेखक भी अपवाद नही हैं। अज्ञेय के बौद्धिक जगत मे सूक्ष्मता है, सवेदनशीलता है, पर वह इतना आत्मसीमित है कि किसी बृहत्तर सत्य से साक्षात्कार असम्भव हो जाता है। जैनेन्द्र की बौद्धिकता मे जीवन का स्पर्श कम है, और अन्ततः वह भी अनुभूति की सकीर्णता मे आबद्ध है। साथ ही उसमे ऐसा भावविलास प्रकट होता है जो चिन्तन को भूलभुलैयो मे भटका देता है। 'चारु चन्द्रलेख' निस्सन्देह ऐसी रचना है जो बौद्धिक परिपक्वता और समर्थता सूचित करती है, जिसके पीछे व्यक्ति और समाज की स्थितियो का सूक्ष्म, संवेदनशील और पर्याप्त वैज्ञानिक चिन्तन है। पर उसमे भी अन्तत. अनुभूति के स्तर पर बिखराव आ जाता है और लेखक अपने पाडित्य के सूत्रो मे स्वय ही खो जाता है। फलस्वरूप वह उपन्यास भी अपनी प्राप्य उपलब्धि से वचित रहता है। बाक़ी अधिकाश उपन्यासकार बडी सतही और यात्रिक बौद्धिकता को प्रकट करते है, उनका चिन्तन भावुकता और प्राय· अधकचरे विचारों से, और जीवन मे इनके प्रतिफलन के और भी अधिक असमर्थ अनुभव से, पीड़ित जान पड़ता है। यदि उनमे से कोई सर्जनात्मक स्तर पर कभी सार्थकता प्राप्त कर पाता है तो अपनी अनुभूति की प्रामाणिकता और आत्मीयता तथा तीव्रता के कारण ही, अपनी बौद्धिक सजगता के कारण नही। यशपाल विभाजन-जैसी विघटनकारी स्थिति के कोई भी दूरव्यापी परिणाम अपने इतने वृहद उपन्यास मे नही देख पाते, उसके माध्यम से एक सफलता की सृष्टि करके सन्तुष्ट हो जाते है। विभाजन के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले नैतिक, आध्यात्मिक और गहन मानसिक सकट का कोई बौद्धिक अथवा अनुभूतिगत बोध वह नही प्रकट करते। अमृतलाल नागर 'बूँद और समुद्र' मे रामजी बाबा और आश्रम मे सब झमेलों का हल देखते हैं। राजेन्द्र यादव के 'उखड़े हुए लोग' मे जया और शरद बेईमानी, नैतिक भ्रष्टता, अनाचार से सामना होते ही घर छोड़कर भाग निकलते हैं। अश्क के 'शहर में घूमता आईना' मे चेतन निम्न-मध्यवर्ग की दरिद्रता, क्षुद्रता, सकीर्णता से दिन-भर सामना करके रात मे अपनी अगाध झील-जैसी पत्नी के वक्ष मे मुँह छिपाकर चैन की साँस लेता है। मोहन राकेश के 'अँधेरे बन्द कमरे' का मधुसूदन आधुनिक जीवन की उलझी हुई स्थिति मे पड़ते ही अपढ देहाती लड़की को प्रेमोपहार देने चल पड़ता है। और तो और, जैनेन्द्र का बडी-बड़ी बातें करने वाला 'राज्याधिप' जयवर्धन भी, राज्य को त्यागकर इला से विवाह होते ही चुपचाप रात को कही अज्ञातवास

के लिए चला जाता है। जीवन की वास्तविक उलझनों और स्थितियों से ऐसे पलायनों की सेना शायद ही किसी भाषा के उपन्यास-साहित्य में मिले। इससे केवल यही सूचित होता है कि वास्तविक स्थिति का कोई सुस्पष्ट बौद्धिक आभास तक इन लेखकों में नहीं है।

इसीलिए इन उपन्यासों में प्रस्तुत स्थितियाँ बहुत ही प्रारम्भिक और किशोर प्रकार की हैं : वे किसी गहन नैतिक या आध्यात्मिक संकट को व्यंजित ही नहीं करतीं जो हमारे देश में पिछले पन्द्रह-बीस वर्षों में क्रमशः अधिकाधिक गहन और सर्वव्यापी होता गया है। हर प्रकार के सामाजिक तथा वैयक्तिक, नैतिक तथा बौद्धिक मूल्यों का विघटन पिछले दिनों में हुआ है। चारों ओर संकीर्णता, स्वार्थपरता, क्षुद्रता तथा भ्रष्टाचार का बोलबाला है : जीवन के हर क्षेत्र में मिलावट है, हर कदम पर बेईमानी और अवसरवादिता से सामना है; जीवन के हर क्षेत्र में नेतृवर्ग या तो स्वयं आपाधापी में पड़ा हुआ है, या भीषण रूप से दिग्भ्रमित और मतिमूढ़ है; आदर्शशून्यता और मर्यादाहीनता का ऐसा युग बहुत दिनों बाद ही हमारे देश में फिर से 'अवतरित' हुआ है। पर हमारे उपन्यास में उसका बौद्धिक या अनुभूति के स्तर पर कोई बोध या प्रस्तुतीकरण दिखायी पड़ता है ? कौन-से उपन्यास इस स्थिति का अन्वेषण करने का प्रयास भी करते हैं ? या कम-से-कम उनके प्रति कोई बौद्धिक कौतूहल ही अभिव्यक्त करते हैं ? हमारे देश के बुद्धिजीवी वर्ग की जड़ता के अनुरूप ही, हमारा लेखक-वर्ग भी बड़े-से-बड़े संकट का एक-से-एक हवाई और रोमांचकारी समाधान निकालकर लाता है। यशपाल 'झूठा सच' में विभाजन की समस्त विभीषिका स्त्री के ऊपर अत्याचार में देखते हैं। मार्क्स, फ्रायड, सार्त्र आदि के अध्येता विद्वान लेखक इलाचन्द्र जोशी के 'जहाज के पंछी' में (अन्त में) अनिवार्य रूप से कोई स्वामीजी प्रकट होकर मति बदल देते हैं, और एक अपार सम्पत्तिशालिनी महिला 'नायक' पर रीझकर अपनी सारी सम्पत्ति जनसेवा के लिए लगाने को तैयार हो जाती है। यदि हमारे देश के शीर्षस्थ नेता और बुद्धिजीवी ज्योतिषियों के परामर्श पर देश के भाग्य का संचालन करते हैं, तो हमारे लेखक भी उनसे कोई पीछे नहीं हैं—शायद दो कदम आगे ही हैं।

वास्तव में जिस प्रकार शिक्षा अथवा साक्षरता के व्यापक प्रसार के बावजूद देश में वास्तविक शिक्षा का स्तर गिरता जाता है, उसी प्रकार हर प्रकार की समस्याओं से खिलवाड़ के बावजूद आज हमारे लेखक की बौद्धिक सजगता कम होती जा रही है, ऐसा भय होता है। यहाँ भी केवल संख्या या परिमाण-मूलक वृद्धि पर, विस्तार पर बल है, किसी प्रकार की, किसी स्तर पर, गहराई या तीव्रता या अन्तरंगता की उपलब्धि या उससे सम्बन्धित कठिनाइयों की

ओर हमारे लेखकों का ध्यान शायद जाता ही नहीं। आज का हिन्दी उपन्यास, समग्रतः, किसी विशेष बौद्धिक मनर्कता, जागरूकता, अन्तर्दृष्टि का परिचय नहीं देता, विचारों के किसी तीव्र विक्षोभ का आभास नहीं देता। उसमें जीवन की स्थिति का बोध ही अत्यन्त प्रारम्भिक, सतही, सरलीकृत और इच्छित अधिक है, उसके प्रखर बौद्धिक अन्वेषण का तो प्रश्न ही प्रायः नहीं उठता। वह किसी बौद्धिक या आध्यात्मिक जिज्ञासा से बेचैन ही नहीं है कि समस्याओं के मूल में, भीतर तक, पैठने के लिए उद्यत हो किसी भी सार्थक अन्वेषण में अनिवार्य पीड़ा को झेले।

एक दिलचस्प स्थिति यह है कि स्वतन्त्रता से पहले के दौर में पक्षधरता बड़ी तीव्र थी और बौद्धिक मान्यताएँ जो भी थीं उनके पीछे बड़े प्रबल आवेग और आकुलता का दबाव रहता था। इस नये दौर में बौद्धिक तटस्थता अपेक्षाकृत अधिक है। किन्तु यह विभिन्न पक्षों के सम्यक् गहन आकलन के बाद, व्यक्ति के निजी विवेक के फलस्वरूप, वस्तुनिष्ठता और सर्वदर्शी दृष्टिकोण के फलस्वरूप, उत्पन्न होने वाली तटस्थता नहीं है। यह एक प्रकार से किसी भी पक्ष से कोई लगाव न होने के कारण है, अर्थात् किसी भी दिशा में कोई आवेगमूलक तीव्रता नहीं है। आग्रह है भी, तो किसी हद तक गौण पक्षों पर, विशिष्ट सीमित मान्यताओं के लिए। किन्तु किसी भी मान्यता के लिए कहीं भी आग्रह इतना प्रबल नहीं कि किसी गहरी तीव्रता से जीवन में उसके दर्शन की सक्षमता उपलब्ध हो। आवेगमूलक तीव्रता, जो कई बार विचारों में धार उत्पन्न करती है, वह आज नहीं दिखायी पड़ती।

इसी से बौद्धिक चर्चा सतही, ऊपरी-ऊपरी, कॉफी-हाउस में बैठकर रस लेने की वस्तु हो गयी है। सारा चिन्तन, ऊहापोह, वादविवाद, अन्तत किसी काम नहीं आता। यह स्थिति जीवन में चाहे जैसी व्यर्थता, निरर्थकता और संगतिहीनता की सूचक हो, साहित्य में, विशेषकर उपन्यास में, उसका चित्रण एक फैशनेबुल बकवासी समुदाय के चित्रण के लिए ही प्रायः होता है, व्यंग्य के लिए, जैसे 'अँधेरे बन्द कमरे' में।

ऐसी अवस्था में बौद्धिक स्तर पर आधुनिक हिन्दी उपन्यास उसके लेखकों की किसी प्रकार की संपृक्ति (इन्वाल्वमेंट) का, तादात्म्य का, आभास नहीं देता। हिन्दी का उपन्यासकार किसी भी विचार, मान्यता या आस्था से एकाकार नहीं जान पड़ता। वह अधिक-से-अधिक जिन्दगी को पास या दूर से देखने वाला ही लगता है। विभिन्न मान्यताएँ किसी संपृक्ति के स्तर पर नहीं, तर्क के स्तर पर ही प्रस्तुत होती हैं। वास्तविक सम्बद्धता का यह अभाव

ही हिन्दी उपन्यास की [illegible] को भी [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] देता है।

निस्सन्देह आधुनिक हिन्दी उपन्यास में अनुभूति की प्रामाणिकता है, उसकी [illegible] जीवन के अनेक [illegible] और समस्या के साथ कुछ न कुछ तो है ही अन्यथा इस पर इतना विकास ही असम्भव हो जाता। कई उपन्यासों में तीव्र और गहन अनुभूति के क्षण से साक्षात्कार हो जाता है। कई लेखकों के अन्तर्मन में जीवन के बारे निश्चित सी सीमित मत के आग्रह ही नहीं, बल्कि [illegible] [illegible] में ही नहीं किसी अनुभूति को उसकी समस्त [illegible] को झकझोर देने वाली [illegible] को बाद [illegible] तीव्रता से अनुकूल कर देने वाली तीव्रता को, सोचने [illegible] और फिर कलात्मक रूप दे सकने की क्षमता है, और इस सामर्थ्य से सफलता भी होती है। किन्तु दस-बीस उपन्यासों के उपन्यास साहित्य में ऐसे साक्षात्कार के क्षण बालू के विस्तार में इक्का-दुक्का मोतियों के समान हैं। वे अपवाद हैं नियम नहीं। इसलिए वे हिन्दी उपन्यास की सामान्य सार्थकता और कलात्मक उपलब्धि के विषय में बहुत [illegible] न भी करते हों, पर बहुत उत्साहित और प्रेरित भी नहीं करते। हिन्दी के उपन्यास में अनुभूति का स्तर सामान्यतया बहुत निचला, छिछला और क्षीण है। भौतिक जीवन की भांति ही हमारे अनुभूति के स्रोत भी जैसे बन्द होते जाते हैं। जीवन के नये-नये क्षेत्रों और स्तरों पर हमारे लेखकों की दृष्टि जाने पर भी, प्रायः ऐसा लगता है कि उनकी गहन अनुभूति की क्षमता कम होती जा रही हो। वे किसी अनुभूति में डूबे हुए, उससे सम्बद्ध संपृक्त नहीं जान पड़ते, कम-से-कम नये भावक्षेत्रों में वे अभिन्न नहीं होते। इसलिए या तो अपने ही या दूसरों के किसी पुराने परिचित अनुभूति-रूप की पुनरावृत्ति करते रहते हैं, या नये-नये भावक्षेत्रों का बाह्य ब्यौरेवार वर्णन देकर सन्तुष्ट हो जाते हैं।

वास्तव में आज के लेखक का संकट शायद यही सम्बद्धता, संपृक्ति या आलिप्तता का अभाव ही है। वह जैसे कहीं किसी मान्यता, किसी आस्था, किसी भाव, विचार या आदर्श के साथ प्रतिबद्ध नहीं, स्वयं अपने साथ भी शायद नहीं। राजनीतिक-सामाजिक नेताओं की भांति लेखक भी जीवन को ऊपर-ऊपर से देखने लगा है, उसकी समस्याओं का कोई-न-कोई औपचारिक प्राविधिक रूपगत उत्तर पाकर और देकर सन्तुष्ट हो जाता है। यह प्रवृत्ति कुछ देर के लिए यथावस्ता बनाये रखने में सहायक होती है, और लगता है जैसे सब-कुछ ठीक है, यथास्थान है। किन्तु यह भ्रम तो नेता के लिए भी संकटपूर्ण है, चाहे वह स्वयं उस संकट को तुरन्त या कभी भी पहचाने या न पहचाने। किसी लेखक के लिए तो यह एकदम आत्मघाती है। उपन्यास-जैसी विधा में, जहाँ

जीवन की अधिकाधिक समग्रता के साथ साक्षात्कार आवश्यक होता है, किसी-न-किसी रूप में लेखक का कहीं-न-कहीं सम्बद्ध या सपृक्त होना, प्रतिबद्ध होना अनिवार्य है। तभी वह जिन्दगी को उसकी गहराई और विस्तार के आयामों में एक साथ देख सकेगा और बौद्धिक तथा अनुभूतिगत दोनों स्तरों पर बाह्य जगत और अपने-आप से ऐसा साक्षात्कार प्राप्त कर सकेगा जो उसके सर्जनात्मक कार्य को वास्तविक मानवीय सार्थकता और कलात्मक शिखरत्व दे सके। आज का हिन्दी उपन्यास इस दृष्टि से अभी बहुत अपर्याप्त और अधूरा है, यह बात चाहे जितनी दुःखद हो पर उसकी सचाई से इन्कार करना कठिन है।

१५ | रूप, शिल्प और भाषा

आधुनिक हिन्दी उपन्यास की भाववस्तु के अलग-अलग उपन्यासों में तथा समग्र रूप से विश्लेषण के बाद अन्त मे उसके रूप, शिल्प और भाषा पर भी एक दृष्टि डाली जा सकती है। इस पक्ष की संक्षिप्त चर्चा यद्यपि विभिन्न उपन्यासो के स्वतन्त्र विश्लेषण मे कुछ-कुछ हुई है, फिर भी समग्र रूप से इसका सर्वेक्षण रोचक सिद्ध होगा। वास्तव मे एक हद तक यह एक अधिक विस्तृत और स्वतन्त्र अध्ययन का विषय हो सकता है जो अपने ढंग से हिन्दी उपन्यास की कुछ मूलभूत विशेषताओ पर—उपलब्धियों और अक्षमताओ दोनों पर—प्रकाश डाल सकता है। यहाँ इन पक्षो के कुछेक अत्यन्त सामान्य तत्त्वों की ही चर्चा सम्भव है।

यह उल्लेखनीय बात है कि भाववस्तु में अपेक्षाकृत पुरानेपन अथवा सीमित अनुभूति की संकीर्णता के बावजूद, रूप की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी उपन्यास में कुछेक बड़ी सुस्पष्ट नवीनताएँ और उपलब्धियाँ दीख पड़ती हैं। निसन्देह अधिकांश उपन्यासों मे रूपगत पारम्परिकता तो है ही, उसकी शिथिलता, बिखराव और आकारहीनता भी पर्याप्त है। साधारणतः हमारे उपन्यासकार, विशेषकर शीर्षस्थ लेखक, इस विषय में बड़ी लापरवाही बरतते हैं। सम्भवतः यह भी उनकी भाववस्तु मे तीक्ष्णता और तीव्रता के अभाव के कारण ही है। फिर भी पिछले दिनों में कई उपन्यासकारो ने अपनी भाववस्तु की विशिष्टता के अनुरूप नये-नये अभिव्यक्ति-रूपों का अन्वेषण किया है। प्रायः यह अन्वेषण उस भावसत्य के अन्वेषण का ही एक पक्ष है जिसके कारण कृति-विशेष की रचना हुई। इस प्रकार इन रचनाओं में प्रायः भाववस्तु और रूप मे अनिवार्य अन्विति का बोध होता है जो अन्ततः रचना के कलात्मक प्रभाव को प्रखर और तीक्ष्ण करने में सहायक होता है।

भाववस्तु और रूप की इस अन्विति की दृष्टि से 'मैला आँचल' की उपलब्धि शायद सबसे महत्वपूर्ण है। पूरे उपन्यास का रूप एक लम्बे लोकगीत या प्रगीति-तत्त्व से भरपूर लोकगाथा-जैसा है, जो उसकी भाववस्तु से अभिन्न रूप मे जुड़ा हुआ है। दैनन्दिन घटनाओं को लेखक ने जिस काव्यात्मक-संगीतात्मक

तीव्रता में प्रस्तुत किया है, वही उपन्यास के रूप को भी गीतात्मक बना देती है। विभिन्न घटनाएँ अथवा उनके समूह संगीतात्मक गतियों के उतार-चढ़ाव के साथ प्रस्तुत हुए हैं और एक-दूसरे से अविच्छिन्न रूप में जुड़े हैं। उपन्यास के केवल दो खण्ड हैं—एक लम्बी सिम्फनी की दो गतियों जैसे। प्रत्येक खण्ड के भीतर विभिन्न अनुच्छेद जैसे किसी वाद्यवृन्द के विभिन्न वाद्यों की भाँति विभिन्न भावों का समावेश और सपुंजन करते हुए आते हैं। पर वे एक भाव को दूसरे से अलग नहीं करते और प्रत्येक खण्ड के भीतर भाव की निरन्तरता, प्रवहमानता बनी रहती है, विभिन्न घटनाएँ, पात्र, विभिन्न वाद्यों के स्वर-समूहों की भाँति समाविष्ट होते हैं, अपनी विशेष भाव-छाया को उभारते हैं, और फिर कुछ देर बाद सहज ही एक अन्य वाद्य के स्वर-समूह उसका स्थान ले लेते हैं और गति की निरन्तरता बनी रहती है। 'मैला आँचल' में इसीलिए कोई मुख्य या प्रधान पात्र नहीं है; बहुत-से प्रधान पात्र हैं; समूचा अंचल ही प्रधान पात्र है। कोई भी एक वाद्य या स्वर-समूह दूसरों को दबाकर, डुबाकर, इस वाद्यवृन्द पर हावी नहीं होता। सम्पूर्ण समन्वित प्रभाव में सबका अपना-अपना नियत स्थान है, अपना-अपना योग है, अपना-अपना महत्त्व है। किन्तु समस्त वाद्य पूरी कृति की सम्पूर्णता के द्वारा ही अपना चरम प्रभाव संप्रेषित करते हैं, पृथक्-पृथक् नहीं।

हिन्दी के उपन्यास के रूप में रेणु का यह योगदान सचमुच महत्त्वपूर्ण है। उल्लेखनीय बात यह भी है कि उपन्यास के इस रूप के तत्त्व भी उन्होंने उस मिट्टी से ही प्राप्त किये जिसकी गाथा गाने के लिए वह उन्मुख हुए थे। काव्यात्मकता और प्रगीतात्मकता का, स्वर और लय का, बड़ा ही रोचक संयोजन 'मैला आँचल' के रूप में है, जो उसे एक विशिष्टता प्रदान करता है। किन्तु ऐसा चमत्कारिक रूप भी भाववस्तु के साथ अन्विति के कारण ही प्रभावी होता है या हो सकता है, यह इस बात से प्रकट है कि स्वयं रेणु अपनी अन्य रचनाओं में उसी रूप की पुनरावृत्ति द्वारा 'मैला आँचल' की कलात्मक सफलता फिर नहीं प्राप्त कर सके। उनके बाद के अन्य उपन्यास एक सफल शिल्प-युक्ति की पुनरावृत्ति मात्र लगते हैं, एक स्थायी भंगिमा (मैनरिज़्म) जैसे, और उनमें न ताज़गी है, न सार्थकता। भाववस्तु और रूप की लगभग काव्य-जैसी अन्विति कृष्ण बलदेव वैद के 'उसका बचपन' में भी है जो उस कृति को विशिष्टता प्रदान करती है। किन्तु उसका विस्तार से विश्लेषण उस उपन्यास के स्वतन्त्र विवेचन में हुआ है, यहाँ उस पर कोई अलग से टिप्पणी आवश्यक नहीं।

रूप के स्तर पर दो अन्य नवीन उद्भावनाओं का उल्लेख आवश्यक है, यद्यपि जिन कृतियों में उनका समावेश हुआ है उनमें भाववस्तु की अपर्याप्तता

या बिखराव या शिथिलता के कारण कोई सर्जनात्मक उपलब्धि उनके द्वारा नहीं होती। इनमें से एक है 'चारु चन्द्रलेख' में आख्यान (फ़ेबल) का उपयोग। आधुनिक हिन्दी उपन्यास में समकालीन भाववस्तु के संप्रेषण के लिए ऐसा उपयोग बहुत कम हुआ है, और 'चारु चन्द्रलेख' की तीव्रता और कथात्मक बोध के साथ तो बिलकुल भी नहीं हुआ है। 'चारु चन्द्रलेख' में एक मध्ययुगीन आख्यान में आधुनिक भाव-चेतना और अर्थवत्ता की खोज है जो आख्यान और समकालीन यथार्थ दोनों को नया आयाम प्रदान करती है। भावभूमि में एक साथ ही आख्यान और प्रतीकार्थ दोनों का उद्घाटन और दोनों की समकालीन सार्थकता का अन्वेषण हिन्दी उपन्यास के रूप के विकास की बड़ी नयी सम्भावनाएँ प्रस्तुत करता है। और यद्यपि कई कारणों से 'चारु चन्द्रलेख' स्वयं अपेक्षित सर्जनात्मक उपलब्धि का स्तर नहीं प्राप्त कर पाता, पर एक अत्यन्त ही सशक्त तथा सम्भावनापूर्ण रूपाकार के अन्वेषण के लिए द्विवेदीजी की कृति का महत्त्व सदा बना रहेगा।

एक अन्य रूपगत नवीनता का समावेश धर्मवीर भारती के 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' में है। इसमें भारत की प्राचीन, तथा लोक-कथाओं में प्रचलित, कथाचक्र पद्धति का प्रयोग है, जिसमें एक में से दूसरी कथा निरन्तर निकलती आती है। इनमें से प्रत्येक कथा अपने-आप में सम्पूर्ण और सार्थक होने के साथ-साथ उन सभी की समग्रता से एक भिन्न स्तर की अन्विति और अर्थवत्ता होती है। आधुनिक युग के बहु-स्तरीय जटिल यथार्थ को प्रक्षेपित और संप्रेषित करने में यह कथारूप बहुत प्रभावी हो सकता है। भारती के इस लघु उपन्यास में भी वह प्रभावी गुण मौजूद है, यद्यपि भाववस्तु की अपेक्षाकृत क्षीणता के कारण उसका पूरा उपयोग नहीं हो पाता। किन्तु रूपगत नवीनता के लिए 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' का महत्त्व असंदिग्ध है। कुछ इसी प्रकार से विभिन्न कथाओं द्वारा एक समन्वित प्रभाव संप्रेषित करने का प्रयास शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' की कृति 'बहती गंगा' (१९५२) में है, जिसमें गंगा से सम्बन्धित विभिन्न कथाओं के माध्यम से काशी के जीवन को, उसकी आत्मा को, प्रस्तुत किया गया है। इस रचना में भावगत ऊष्मा भी थी और रूपगत नवीनता भी।

हिन्दी के अधिकांश अन्य उपन्यासों में रूपगत नवीनता कहीं-कहीं दिखायी तो देती है, पर वह प्रायः एक प्रकार की भावगत अराजकता या असन्तुलन में खो जाती है। 'नदी के द्वीप' में नवीनता *कथा-शिल्प के विभिन्न तत्त्वों के* नवीन संयोजन में है जो कई स्थलों पर उसकी भाव-तीव्रता को अभिव्यंजित *तथा संप्रेषित करने में सफल होता है।* पर अन्ततः भाववस्तु में अन्तर्विरोध के कारण रूप भी कोई समग्र प्रभाव नहीं डाल पाता और शिल्पगत युक्तियों का कौशलपूर्ण उपयोग मात्र रह जाता है। उपेन्द्रनाथ अश्क का 'शहर में घूमता

आईना' में एक नवीन शिल्पगत प्रयोग का दावा है। पर उसकी अराजकता और रूपहीनता की चर्चा अन्यत्र हो चुकी है। बाकी अधिकांश उपन्यास वर्णनात्मक रूप ही अपनाते है जिसमे स्थान-स्थान पर अन्य शिल्पगत युक्तियो के प्रयोग द्वारा विविधता लायी जाती है।

शिल्प के स्तर पर निस्सन्देह बहुत-से लेखको ने अपने-अपने ढग से नये-नये प्रयोग किये है और अपनी भाववस्तु को अधिक-से-अधिक प्रभावी और चमत्कारपूर्ण ढग से संप्रेषित करने के लिए कथा की बहुत-सी शैलीगत युक्तियाँ अपनायी हैं। इस दृष्टि से इधर के उपन्यासों मे पर्याप्त विविधता है।

शिल्पगत युक्तियों में सबसे अधिक प्रचलित और प्रयुक्त है पूर्वावलोकन (फ्लैश बैक) की पद्धति जिसका प्रायः सभी उपयोग करते हैं। दुर्भाग्यवश यह प्रयोग कई बार कुछ आवश्यकता से अधिक हो जाता है, और इतिवृत्त की वर्णनात्मकता की एकरसता को तोडने की बजाय, प्रभावो की अराजकता उत्पन्न करता है। कई लेखक एक पूर्वावलोकन के भीतर एक और पूर्वावलोकन को ले आते हैं और सूत्र की सुस्पष्ट रेखाएँ धुंधली पडने लगती हैं। किन्तु जहाँ इसका अधिक कलात्मक विवेक से उपयोग हुआ है वहाँ काल मे बिखरी हुई विभिन्न स्थितियो का एक ही क्षण मे 'मोनाज' बड़ा तीव्र प्रभाव उत्पन्न करता है।

इसी प्रकार एक ही कथा के विभिन्न वाचको (नैरेटर) द्वारा प्रक्षेपण की युक्ति का भी प्राय प्रभावी प्रयोग हुआ है। इसके दो उल्लेखनीय उदाहरण हैं 'नदी के द्वीप' और 'चारु चन्द्रलेख'। दृष्टिबिन्दु और दृष्टिकेन्द्र (फोकस) का यह निरन्तर परिवर्तन एक ही भावसूत्र को कई स्तर और कई आयाम प्रदान करता है; आत्मनिष्ठता और वस्तुनिष्ठता को एक ही सूत्र मे बाँधा जा सकता है, और एक ही स्थिति के बहुत-से पक्ष एक साथ उद्घाटित किये जा सकते हैं। 'नदी के द्वीप' और 'चारु चन्द्रलेख' मे भी इस युक्ति के प्रयोग मे भिन्नता अवश्य है। 'नदी के द्वीप' मे विभिन्न खण्डो मे वाचक भिन्न-भिन्न है, यद्यपि प्रत्येक पात्र एकाधिक बार वाचक बनता है। ये खण्ड भी फिर बीच-बीच में 'अन्तराल' द्वारा जोडे गये हैं, जिनका वाचक स्वयं लेखक हो जाता है। 'चारु चन्द्रलेख' मे वाचक बदलने के लिए खण्डो का पृथक्करण नही है। सम्पूर्ण उपन्यास का वाचक सातवाहन रहता है; पर बीच-बीच में या तो विभिन्न व्यक्ति आकर अपनी कथा विस्तार से सुना देते हैं; या फिर एक स्थान पर सातवाहन रानी चन्द्रलेखा की लिखी हुई एक पोथी पढता है, डायरी-जैसी, जिसमे प्रथम पुरुष मे रानी के अपने अनुभवो का वर्णन है। 'चारु चन्द्रलेख' में वाचकों के बदलने पर भी मूल कथासूत्र सातवाहन के हाथ में ही रहने से निरन्तरता अधिक आ सकी है।

अन्य कथा-युक्तियों में डायरी, संस्मरण, पत्र इत्यादि का प्रयोग भी प्रायः होता है। कुछेक लेखक बीती हुई घटना के वर्णन के बजाय उसके नाटकीय प्रस्तुतीकरण की पद्धति का प्रयोग करते हैं, नाटक में किसी अन्तर्कथा के प्रस्तुतीकरण की भाँति। जैनेन्द्रकुमार के 'जयवर्धन' में कथा का काल २००७ है और इस प्रकार भविष्य में प्रक्षेपण द्वारा आज के युग को एक अन्य परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास है, चाहे वह सफल अधिक न होता हो। 'झूठा सच' और 'एक पंखड़ी की तेज धार' में रिपोर्ताज का तत्त्व यथार्थ का, वाह्यनिष्ठता का प्रभाव तीव्र करने के लिए लाया गया है। इस प्रकार कथा की बहुत-सी युक्तियाँ व्यवहार में आयी हैं जो कम-से-कम शिल्प के स्तर पर हिन्दी उपन्यास के आगे बढ़ने की सूचक हैं। इनके अतिरिक्त बाह्य तथा आन्तरिक वर्णनों की सूक्ष्मता, नाटकीयता, काव्यात्मकता आदि अन्य शिल्पगत उपलब्धियाँ भी निस्सन्देह उल्लेखनीय हैं, यद्यपि कई लेखकों में अपनी-अपनी एक निश्चित 'भंगिमा' बना लेने की प्रवृत्ति भी दिखायी पड़ती है, या कम-से-कम वे एक ही प्रकार की युक्तियों की इतनी पुनरावृत्ति करते हैं कि वह 'भंगिमा' का रूप ले लेती है। किन्तु इसके बावजूद आधुनिक हिन्दी उपन्यास के शिल्प में पिछले दौर से उन्नति हुई है। अब वास्तविक आवश्यकता इस शिल्पगत प्रगति के कलात्मक-सर्जनात्मक उपयोग की है।

भाषा की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी उपन्यास की तसवीर अपेक्षाकृत अधिक धुँधली है। निस्सन्देह उसमें भी विविधता तो है ही। साथ ही पिछले युग की अपेक्षा उसमें सूक्ष्मता और भाव-तीव्रता कहीं अधिक है। ऐसे लेखक जो जीवन को किसी गहराई से देखना और प्रस्तुत करना चाहते हैं, उनकी भाषा में काव्यात्मक संयम, संक्षेप और बिम्बमयता दिखायी पड़ती है। निरे इतिवृत्तात्मक वर्णन के बजाय, काव्यसुलभ व्यंजनाप्रधानता की बढ़ती हुई प्रवृत्ति हिन्दी के सर्जनात्मक गद्य की अधिक सक्षमता की ओर प्रगति की सूचक है।

अज्ञेय इस काव्यात्मकता और भाव-तीव्रता के प्रभाव को और भी गहरा करने के लिए बहुत-सी बँगला, अँग्रेज़ी, हिन्दी की कविताएँ भी उद्धृत करते हैं। वे उनके पात्रों की तीव्र सघन मनस्थितियों से जुड़ी हुई हैं और एक प्रकार से उनके भावसूत्र की उस स्थिति को सूचित करती हैं कि साधारण गद्य, सघन से सघन होकर भी उसकी तीव्रता को व्यक्त करने में असमर्थ हो जाता है। कविताओं के उद्धरण उस सघन भाव-क्षण के एक अन्य स्तर पर विस्तार मात्र हैं। निस्सन्देह यह उपयोग कहीं अधिक प्रभावी और सार्थक हो पाता यदि उद्धृत कविताएँ हिन्दी की ही होतीं। बँगला की कुछेक पंक्तियाँ भी किसी हद तक प्रभाव की तीव्रता में साधक होती हैं, पर अँग्रेज़ी कविताओं के लम्बे-लम्बे उद्धरण, चाहे देवनागरी लिपि में ही सही, भाषा की अपनी

निजस्व अन्विति को उसके ध्वन्यात्मक संयोजन और संगीत को, उसके जादू और तीव्रता को, तोड़ देते हैं। अचानक ही एक अपरिचित बाह्य तत्त्व आकर भाव के मायालोक को नष्ट कर देता है। किन्तु भाव-तीव्रता के क्षण में कविता का उपयोग एक ऐसी भाषागत युक्ति का संकेत देता है जिसकी सम्भावनाओं का पर्याप्त उपयोग हो सकता है।

यह काव्यात्मकता और तीव्रता लाने के लिए रेणु लोकगीतों की कड़ियों का उपयोग करते हैं जो कहीं अधिक सहज, स्वाभाविक है, और भाषा की सहज प्रवृत्ति और उसके प्रवाह के साथ सरलता से समन्वित हो सकता है। रेणु के सभी उपन्यासों में भाषा को इस प्रकार संगीतात्मक, व्यंजनापूर्ण और प्रभावी बनाने की प्रवृत्ति है। पर कुछ समय बाद वह अतिरेकपूर्ण लगने लगती है ; उसकी अनिवार्यता समाप्त हो जाती है, और उसके शैलीगत 'भंगिमा' का रूप ले लेने की आशंका बढ़ जाती है। लोकगीतों के इस अनियन्त्रित उपयोग में एकरसता की आशंका भी बड़ी भारी है। 'मैला आँचल' के बाद रेणु के अधिकांश लेखन में यह बहुत ही तीव्रता से महसूस होता है। इस प्रवृत्ति की एक परिणति यह भी है कि गद्य का अपना रूप बहुत सँवर-निखर नहीं पाता। रेणु के अधिकांश वाक्य अधूरे, बिखरे-बिखरे और एक-जैसे हो जाते हैं। उनमें भावानुकूल, प्रसंगानुकूल विविधता, नमनीयता, लय और ध्वनि-विन्यास के परिवर्तन की सम्भावना कम होती जाती है। और अन्त में यह भाषा उनकी अनुभूति को भी सीमित करती जान पड़ती है। जीवन का प्रत्येक पक्ष, प्रत्येक अनुभव, ऐसी ही संगीतमयता से नहीं संप्रेषित हो सकता। कुछ समय बाद ऐसा प्रतीत होने लगता है कि रेणु जान-बूझकर केवल ऐसे ही प्रसंग या अनुभव अपनी रचना के लिए चुनते हैं जिनके प्रक्षेपण में यह संगीतात्मकता बनाये रख सकें। रेणु के परवर्ती गद्य में इसी से कृत्रिमता कहीं अधिक अनुभव होती है।

इसी के साथ ही जुड़ा हुआ प्रश्न है बोलियों के शब्दों के प्रयोग का। इसका प्रारम्भ शायद 'बलचनमा' से हुआ, यद्यपि अमृतलाल नागर अपने 'सेठ बाँकेमल' में आगरा शहर की विशिष्ट बोली का बड़ा चमत्कारिक प्रयोग कर चुके थे। इस प्रवृत्ति का मूल स्रोत एक ही है : यथार्थ को अधिक-से-अधिक वस्तुनिष्ठता के साथ, उसके विशिष्ट स्थानीय रूप-रंग, वातावरण, व्यक्तित्व के साथ, देखकर प्रस्तुत कर सकना। तथाकथित 'आंचलिकता' पर आग्रह मात्र ही इसी यथार्थवादी रुझान की परिणति है। इस भाषागत यथार्थवाद का वातावरण के निर्माण में कई रूप हिन्दी उपन्यासों में मिलते हैं। 'बलचनमा', 'मैला आँचल' जैसे उपन्यासों में स्थानीय रंग और उसकी प्रामाणिकता पर इतना आग्रह है कि बोलियों के ऐसे अनगिनती शब्द प्रयुक्त हुए हैं जिनके अर्थ

साथ ही कोष्ठकों में या नीचे पाद-टिप्पणियों में देना आवश्यक हो गया है। यह इस यथार्थवाद का अतिरेक है जो वातावरण का जितना निर्माण करता है उतना ही उसका ध्वंस भी। वह भाव-अन्विति को तोड़ता है, और एक प्रकार का 'अपरिचय' का भाव उत्पन्न करता है। अन्ततः ये सब शब्द हिन्दी के गद्य में आत्मसात हो सकेंगे, यह सम्भव नहीं लगता। ये हिन्दी गद्य को समृद्ध और अधिक भावव्यंजक बनाने के बजाय उसे अनावश्यक रूप से दुरूह और कृत्रिम बनाते हैं और बहुत-से पाठकों को विकर्षित करते हैं। इसका एक प्रमाण यह है कि 'मैला आँचल' की नकल में लिखे गये अन्य ढेरों उपन्यासों में, इस भाव-तीव्रता तथा संगीतात्मकता के अभाव में, भाषा प्रायः निर्जीव और चरित्रहीन लगती है।

उदयशंकर भट्ट के 'सागर, लहरें और मनुष्य' में बम्बइया बोली में संवादों द्वारा स्थानीयता का रंग लाया गया है जो एक निजस्व वातावरण के निर्माण में निस्सन्देह सहायक होता है। पर भाषा और गद्य-शैली के स्तर पर वे संवाद कुछ देर बाद अजनबी, कृत्रिम और गढ़े हुए, जबर्दस्ती लाये हुए, लगने लगते हैं, और रचना की स्वत:स्फूर्त अनिवार्यता को नष्ट कर देते हैं।

अमृतलाल नागर के 'बूँद और समुद्र' में लखनऊ के चौक की बोली का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक सहज और स्वाभाविक है। उसके पीछे अपरिचित-अजनबी को बचाकर एक प्रकार के कलात्मक बोध द्वारा भाषागत विशेष वातावरण रचा गया है। इसीलिए उसमें प्रायः नये अपरिचित शब्दों, पदों, वाक्यांशों, मुहावरों के प्रयोग की बजाय, परिचित रूपों के ही भिन्न तथा स्थानीय पर्यायों का उपयोग है। वह प्रदर्शन से अधिक एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व की रचना का प्रभाव डालता है। नरेश मेहता के 'यह पथ बन्धु था' में मालवी शब्दों और मुहावरों के प्रयोग में भी यह संयम ही भाषागत प्रवाह और सहजता को बनाये रखकर स्थानीयता का प्रभाव उत्पन्न करता है। 'यह पथ बन्धु था' की भाषा में एक निकट अतीत के युग का प्रभाव उत्पन्न करने वाली प्राचीनता भी बड़ी सुखद लगती है, यद्यपि कई अन्य दृष्टियों से नरेश मेहता की भाषा बड़ी ऊबड़-खाबड़, कृत्रिम और अटपटी है।

भाषागत यथार्थवाद का सबसे करुणास्पद रूप है अंग्रेज़ी शब्दों का मूल रूप में धड़ल्ले से प्रयोग। आखिर तो हम लोग अपनी बातचीत हिन्दी-अंग्रेज़ी की खिचड़ी भाषा में ही करते हैं, फिर यथार्थ का सच्चा विश्वसनीय चित्र प्रस्तुत करना है तो आम प्रचलित अंग्रेज़ी शब्दों के स्थान पर जबर्दस्ती कृत्रिम अपरिचित हिन्दी शब्द रखने से क्या लाभ? तर्क बड़ा अकाट्य लगने पर भी अन्ततः भ्रामक है। यहाँ यह घिसी-पिटी उक्ति दुहराना सार्थक होगा कि साहित्य या कोई भी सर्जनात्मक अभिव्यक्ति यथार्थ की यान्त्रिक अनुकृति नहीं

है। उसमें संयोजन, सम्पादन, पुनर्निर्माण, रूपान्तरण अनिवार्य है, बल्कि इन सब कार्यों की एक अपरिभाषेय रासायनिक समन्वित प्रक्रिया का नाम ही सृजन प्रक्रिया है। हिन्दी उपन्यासों मे अंग्रेजी शब्दो का प्रयोग अधिकाशतः तो लेखकों की मानसिक शिथिलता का प्रमाद और आलस्य का सूचक है, परिश्रम से बचने की प्रवृत्ति का परिणाम है। यदि यही प्रवृत्ति शुरू से ही होती या बनी रहती तो हिन्दी गद्य आज भी आदिम अविकसित हालत मे होता। अंग्रेज़ी की मानसिक दासता से तो हिन्दी को छुटकारा पाना ही है और यह उसके समर्थ गद्यकार ही करेंगे। इस दृष्टि से अज्ञेय और हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे लेखकों की देन बड़ी भारी है। उन्होंने कई स्तरो पर अपने उपन्यासों मे सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और जटिल-से-जटिल भावों-विचारो, प्रत्ययो-अवधारणाओ, घटनाओं-स्थितियों को अभिव्यक्त किया है और भाषा को नयी शक्ति और सामर्थ्य दी है। किन्तु उनकी भाषा में एक अपना विशेष प्रकार का अलकरण है, एक प्रकार की रंगीनी और चित्रमयता है, जो सम्भवतः उनकी अपनी भाववस्तु के अनुकूल भी है, पर सभी आधुनिक लेखक वैसे गद्य का उपयोग नहीं कर सकते।

अन्य अधिकाश उपन्यासकारो की भाषा प्राय उनके भावजगत के अनुरूप ही अराजकतापूर्ण वैशिष्ट्यहीन या शिथिल है। यशपाल की अत्यन्त नीरस, शुष्क, भावहीन भाषा की चर्चा 'झूठा सच' के विश्लेषण मे हो चुकी है। मूलत यशपाल की भाषा वर्णन-प्रधान और अभिधात्मक है, उसमें काव्यात्मक व्यंजना बहुत ही कम होती है। यशपाल अपने व्यग्य की सृष्टि प्रायः परिस्थितिगत विसदृशता द्वारा करते हैं। यही वर्णनात्मकता अन्य वाह्य यथार्थ पर बल देने वाले लेखकों मे भी है।

राजेन्द्र यादव की भाषा मे एक ओर घरेलूपन लाने के प्रयास से कृत्रिमता आती है, दूसरी ओर उसमे अत्यधिक अर्थ भरने और वक्रता लाने के प्रयास से। वह सहज नही लगती और प्राय किशोरसुलभ शब्द या पद-मोह का प्रभाव डालती है। मोहन राकेश की भाषा मे कलात्मक निखार और सुनिश्चितता यादव से अधिक है और चित्रात्मकता भी। विशेष प्रसंगो मे वह व्यंजना-प्रधान भी हो जाती है। पर 'अँधेरे बन्द कमरे' भाषा की दृष्टि से भी उनकी श्रेष्ठतम कृति नही है। भावसूत्र की एकरसता और समतलीयता के कारण भाषा इस उपन्यास में भी प्रायः कोई शक्ति नही अनुभव होती। कम-से-कम उनके नाटको की भाषा की तुलना में वेहद फीकी और अभिधात्मक लगती है।

अभिव्यजनापूर्ण भाषा की दृष्टि से अपेक्षाकृत तरुण उपन्यासकारो मे धर्मवीर भारती और निर्मल वर्मा का नाम लिया जा सकता है। 'सूरज का

सातवाँ घोड़ा' की कुछ प्रभावशीलता उसकी भाषा की बड़ी सहज धार के कारण है। निस्सन्देह उस पर अभी रूमानी और रंगीन प्रभाव मौजूद है, पर बीच-बीच में वह अत्यन्त संयत, अनलंकृत और तीखी हो जाती है। उसमें बोलचाल का प्रभाव भी किसी बनावट के बिना आता है जो उसे उपन्यास की विशिष्ट भाववस्तु के बहुत उपयुक्त बना देता है।

निर्मल वर्मा के उपन्यास 'वे दिन' (१९६४) की भाषा में उनकी कहानियों-जैसी ही सूक्ष्मता और सरल सीधी रेखाओं से हलके-हलके प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता है। आधुनिक जीवन की घटनाविहीन निरर्थकता, भावशून्यता और फीकेपन को उनकी भाषा बिना किसी उत्तेजना के व्यक्त कर सकती है। उसकी अत्यन्त सूक्ष्म संवेदनशीलता में विशेष प्रकार की तराश है जो स्थितियों के हलके-से-हलके परिवर्तन को मूर्त कर सकती है। शायद सरलता, सूक्ष्मता और मूर्तता उनकी भाषा की निजी विशेषताएँ हैं। शायद उसका वह कभी 'वे दिन' से अधिक सार्थक और महत्त्वपूर्ण अनुभूति को सम्प्रेषित करने के लिए प्रयोग करें।

इस प्रकार कुल मिलाकर विविधता तथा कुछ लेखकों में विभिन्न प्रकार की सूक्ष्मता और संवेदनशीलता के बावजूद, हिन्दी उपन्यास की भाषा पर अभी तक भावुकता, अलंकरणप्रियता अथवा नीरस वर्णनात्मकता का ही प्रभाव अधिक है। सजावट से रहित, किन्तु फिर भी ऐसी सूक्ष्म, पैनी और सुनिश्चित सर्जनात्मक भाषा हिन्दी उपन्यासकार को अभी तैयार करनी है, जो एक साथ ही बोलचाल के एकदम समीप भी हो और व्यंजना में काव्यात्मक भी।

१६ | पुनश्च

आधुनिक हिन्दी उपन्यास के इस सर्वेक्षण के अन्त मे अब और विशेष कुछ नही कहना है। केवल विस्तार और परिमाण की दृष्टि से देखा जाय तो पिछले वर्षों मे हिन्दी उपन्यास ने कई मजिलें तै कर डाली हैं, यद्यपि ऐसा भी जान पड़ता है कि पिछले दिनो उपन्यास की अद्वितीय लोकप्रियता मे कुछ कमी भी हुई है। जब से विशाल पाठक-वर्ग तक पहुँचने वाली कहानी की लोकप्रिय पत्रिकाओं ने एक कहानी के लिए पर्याप्त पारिश्रमिक देना प्रारम्भ किया है, तब से उपन्यास लिखना पहले की भाँति उर्वर कार्य नही रहा। उपन्यास लिखने में समय लगता है, उससे तुरन्त ही धन नही मिलता, उसके अन्य भाषाओं की पत्रिकाओ मे अनूदित होकर छपने मे बडी कठिनाई होती है, इस प्रकार अतिरिक्त पारिश्रमिक नही मिलता, इत्यादि-इत्यादि। इसलिए कई लेखक उपन्यास लिखना टालते हैं, और पिछले दिनो साहित्यिक विवाद और चर्चा के केन्द्र में कहानी ही सबसे अधिक रही है, उपन्यास कही नही।

किन्तु फिर भी उपन्यास लिखे गये हैं और लिखे जा रहे हैं। पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में पुरानी और नयी दोनो पीढियो के उपन्यासकारो की बहुत-सी कृतियाँ प्रकाशित हुई है। इस सर्वेक्षण मे उनके स्वतन्त्र, और विभिन्न भावसूत्रों के अन्तर्गत, विश्लेषण से शायद यह स्पष्ट है कि अधिकांश महत्त्वपूर्ण दिशाओ का अन्वेषण तरुण लेखको ने ही प्रस्तुत किया है। पुरानी पीढ़ी के लेखको मे बीतते युग की टूटन और करुणा का अहसास तीव्रतर है, पर प्रायः उनका जीवन का बोध अपेक्षाकृत अधिक सरलीकृत तथा बाह्यपरक है। वे अधिकतर जीवन को गहराई के आयाम की बजाय उसके विस्तार और फैलाव में देख पाते और प्रस्तुत करते है। साथ ही यद्यपि उनमें किसी-न किसी प्रकार का नैतिक मूल्यपरक आग्रह अधिक है, किन्तु उनका नैतिक मूल्यबोध न तो प्रखर और तीव्र है और न ही आधुनिक। इसलिए वे पुराने प्रतिरूपो को ही दुहराते या किसी-न-किसी घिसे-पिटे रूप मे सामाजिक पक्षधरता का आग्रह करते प्रतीत होते है। जीवन के दीर्घकालीन अनुभव से

उत्पन्न समग्रता का, या गहराई के आयाम में व्यापकता का, प्रभाव उनके उपन्यासों से नहीं पडता।

तरुण पीढ़ी में मूल्यों का बोध विरल भी है और क्षीणतर भी। जहाँ है भी, वहाँ वह प्रायः उच्छ्वास या किशोर भावुकता से सहज ही आक्रान्त हो जाता है। पर उसमें कट्टर पक्षधरता धीरे-धीरे कम हो रही है और एक प्रकार की रूपहीन तटस्थता, बल्कि उदासीनता, उसका स्थान ले रही है। दूसरी ओर उसमें व्यक्ति और परिवेश के सम्बन्धों की खोज पर आग्रह अधिक है, जैसे परिवेश की पहचान के द्वारा ही वह व्यक्तित्व की पहचान अथवा उसी मे अपनी नियति की खोज करना चाहता हो। इसने हिन्दी उपन्यास को अपेक्षाकृत अधिक विश्वसनीय और सार्थक परिप्रेक्ष्य दिया है। इसी प्रकार बड़े हलके से रूप मे एक प्रकार की मूर्तिभंजकता भी तरुण पीढ़ी के हिन्दी उपन्यास मे है जिसमें समाज की स्वीकृत मान्यताओं पर प्रश्न-चिह्न लगाने का प्रयास है। किन्तु उसमे कही कोई तीक्ष्ण उग्रता, अदम्य साहसिकता और दुर्निवार आकुलता नही है। कुल मिलाकर वह कोई तीव्र क्रान्तिकारी प्रभाव मन पर नही छोडता।

नयी पीढ़ी मे यह तीव्रता का अभाव एक प्रकार के भावगत, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक संकट का ही सूचक है जो उस उपन्यास के भीतर ही है। वह अभी तक अपना कोई ऐसा मानदण्ड स्थापित नही कर सका है जो उपलब्धि को पहचानने या नापने का आधार बन सके। उपन्यास विधा की शक्ति और श्रेष्ठता इसमें है कि वह जीवन के एकाधिक स्तर पर, अधिकाधिक समग्रता के साथ, अन्वेषण और सम्प्रेषण की माध्यम बन सकती है। सक्षम सर्जनात्मक विधा के रूप मे उसके इतने लोकप्रिय होने का रहस्य भी इसी मे है। क्रमशः रुचियो और सर्जनात्मक कार्य से अपेक्षाओं मे परिवर्तन के फलस्वरूप, उपन्यास का किस्सागोईवाला रूप गौण होकर पीछे पड़ता जा रहा है; रोचक घटनाविधान अथवा चरित्र रचना अब उपन्यास के लिए आवश्यक-अनिवार्य तत्त्व नहीं माने जाते। मानवीय स्थिति और नियति को उसकी सम्पूर्णता में, सजावट या रंगीनी के बिना, प्रस्तुत कर सकना कहीं अधिक सक्षमता का सूचक समझा जाता है। पर हिन्दी का उपन्यासकार मानसिक-बौद्धिक रूप में अभी इतना सुसज्जित नहीं है, जीवन से साक्षात्कार की अपनी यात्रा में इतनी दूर नहीं पहुँचा है, कि इस चुनौती और इस दायित्व को आसानी से सँभाल ले। उसकी अनुभूति की क्षमता, उसका बौद्धिक संयन्त्र, उसकी भाषा—दूसरे शब्दों में उसके कार्य के सभी उपकरण अभी उसे इस कार्य के उपयुक्त नहीं बनाते। वह सहज ही दूसरों को और अपने-आप को दोहराने लगता है। आज की जटिल, संश्लिष्ट और अन्तर्विरोध

वास्तविकता में से सार्थक और अ-सार्थक मे भेद और चुनाव अधिकाधिक कठिन, दुरुह और प्रायः असम्भव होता जाता है। उसके सामने समस्या है कि किस प्रकार भावुक हुए बिना ही जीवन के भाव-सत्य को आत्मसात और अभिव्यक्त कर सके, नीरस तथा बौद्धिक ऊहापोह मे पड़े बिना ही जीवन की उलझी हुई वास्तविकता का विश्लेषण कर सके, व्यक्ति को, अर्थात् खण्ड को, व्यक्ति या खण्ड के रूप में उसकी सम्पूर्ण इयत्ता में तो देख ही सके, किन्तु साथ ही सम्पूर्ण को, समग्रता को भी सामान्यीकरण की निरर्थकता में भटके बिना प्रक्षेपित और अभिव्यजित कर सके। निश्चय ही यह काम *आसान नहीं है और इसमे कोई आश्चर्य नहीं कि हिन्दी का उपन्यासकार* जैसा चाहिए वैसा जीवन से साक्षात्कार नहीं कर पाता।

आज जब विश्व-साहित्य में अभिव्यक्ति विधा के रूप मे, उपन्यास के भविष्य और वर्तमान के विषय मे आशका प्रकट की जा रही है, तो हिन्दी उपन्यास की वर्तमान स्थिति का सकट सहज ही समझा जा सकता है। तब क्या हिन्दी उपन्यास अपना पूरा स्तर प्राप्त किये बिना ही, अपनी पूरी सम्भावनाओं को चरितार्थ किये बिना ही, अनिवार्य रूप से अकाल मृत्यु को प्राप्त होगा ? शायद अगले कुछेक वर्षों मे ही हिन्दी के उपन्यासकार और समीक्षक को इस प्रश्न का सामना करना होगा और जो भी बने उत्तर भी देना पड़ेगा।

अनुक्रमणिका

नेमिचंद्र जैन

जन्म : अगस्त, १९१८ (आगरा)

शिक्षा : एम० ए० (अंग्रेजी)

कविताएं

तार सप्तक (१९४४)

एकांत (प्रकाश्य)

आलोचना, समीक्षा

अधूरे साक्षात्कार (१९६६)

बदलते परिप्रेक्ष्य (प्रकाश्य)

रंग-दर्शन (प्रकाश्य)

अनुवाद

नाटक :

सुनो जनमेजय (आद्य रंगाचार्य), कांचन
(शम्भुमित्र, अमित मैत्र)
क्या यही सभ्यता है ? (माइकेल मधुसूदन द
प्रेत (इब्सन)

उपन्यास :

सुर्ख और स्याह (स्तांधाल), कुंआरी भ
(तुर्गनेव), लिज़ा (तुर्गनेव), सप्त
(ताराशंकर बंद्योपाध्याय)

अन्य :

परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा र
(एंगेल्स) आधुनिक भारतीय चिन्तन (नरव

सम्पादन

प्रतीक (१९४७)

नटरंग (१९६५...)

सम्प्रति

१९५४ से संगीत नाटक अकादेमी से सम्ब
१९५८ से उसी के अन्तर्गत राष्ट्रीय-न
विद्यालय में आधुनिक भारतीय नाट्य-सा
के अध्यापक ।